प्राचीन भारत में दान की अवधारणा
महाकाव्यों के विशेष सन्दर्भ में

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी की पी–एच0डी0
उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध
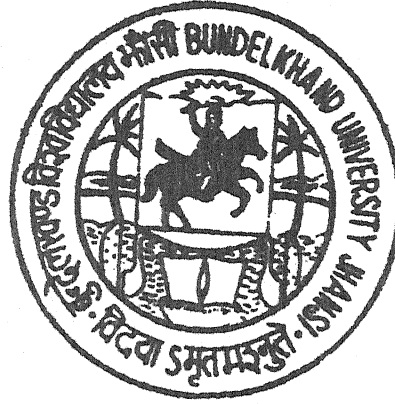
2000-2001
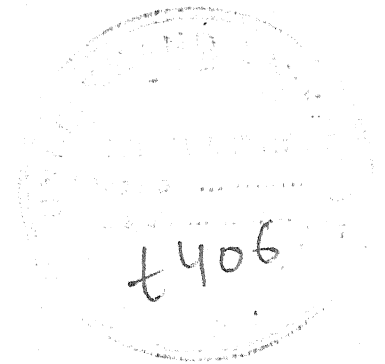
शोध निर्देशक
प्रो0 बी0एन0रॉय
से0नि0 अध्यक्ष, इतिहास विभाग

शोधार्थी
सन्तोष कुमार तिवारी
प्रवक्ता, इतिहास विभाग

पं0 जे0एन0पी0जी0 कालेज बाँदा (उ0प्र0)

प्रो० बी०एन० रॉय
सेoनि० अध्यक्ष, इतिहास विभाग
पं० जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय
बाँदा(उ०प्र०)

दिनांक
नवम्बर 29, 20
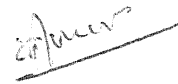
प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि-

१. सन्तोष कुमार तिवारी ने मेरे निर्देशन में ''प्राचीन भारत में दान की अवधारणा : महाकाव्यों के विशेष सन्दर्भ में'' विषय पर शोध कार्य किया है।

२. इन्होंने मेरे यहाँ निर्धारित अवधि तक उपस्थिति दी है।

३. इनका शोध कार्य मौलिक है।

यह शोध प्रबन्ध अब इस स्थिति में है कि इसे पी०एच-डी०उपाधि हेतु मूल्यांकन के लिये प्रस्तुत किया जा सकता है।

(बी०एन० रॉय)
शोध-पर्यवेक्षक

प्राक्कथन

इस संसार में पुरुषार्थ ही धर्म है, और धर्म ही पुरुषार्थ है। भारतवर्ष का प्रत्येक व्यक्ति, जो सांस्कृतिक मूल्यों पर आस्था रखता है, वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की भावना से अत्यधिक प्रभावित है तथा धर्म को वह जप, तप, योग और ज्ञान तथा दान के नाम से जानता है। जिन्होंने सामाजिक लोक व्यवहार नियमों का सृजन किया, वे लोग समाज के व्यक्तियों का हित चिन्तन करने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को वेदों, पुराणों और समृति ग्रन्थों में लिखकर सदैव के लिये चिरस्थायी वना दिया तथा यह भावना विकसित की कि समाज के हर व्यक्ति को एक दूसरे की सहायता करनी चाहिये तथा समस्त जीवों में एक ही प्रकार की आत्मा का वास समझते हुये उनके प्रति दया करुणा और विश्व वन्धुत्व की भावना रखनी चाहिये।

दान का उदय आज से हजारों वर्ष पूर्व भारतीय सभ्यता के उद्गम क्षणों के साथ हुआ। हम वेदों को सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते हैं, और इन्हें आर्य सभ्यता का मौलिक ग्रन्थ मानते हैं। निश्चित ही है कि जब सत्य, अहिंसा, प्रेम, सदाचार, सद्व्यवहार और सहअस्तित्व की भावना का उदय हुआ तभी से दान की धारा भी प्रवाहित हुई और उद्गम स्थल से वह प्रवाहित होकर सम्पूर्ण भारतवर्ष में सागर की लहरों की भाँति चिरस्थायी हो गयी। आश्रम, वर्ण, धर्म और देवों पर आस्था रखने वाले व्यक्ति बड़ी उदारता के साथ दान की भावना से प्रभावित होकर जन-कल्याणार्थ अपने धन का संचित भाग दूसरों को प्रदान करने लगे। यह बात मुझे उस समय पता लगी जब मैने अपने शोध कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया और अनेक धार्मिक ग्रन्थों का सविस्तार अध्ययन किया। मैं यह कभी सोंच भी नहीं सकता था कि हमारे पूर्वज ऋषिगण इतने बड़े विचारक होंगे। आर्यों ने हमे जो विचार प्रदान किये हैं, वे सर्वकालिक हैं। युग में परिवर्तन हुआ है, परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ है किन्तु सहयोग देने-लेने की भावना में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आज भी दान की यह भावना, त्याग और उत्सर्ग से जुड़ी हुयी है तथा व्यक्ति बड़ी ही उदारता से जनकल्याणार्थ आज भी दान देते हैं।

पुरातात्विक महत्व के जो धार्मिक स्थल भारतवर्ष में भग्नावशेष अथवा अपने वास्तविक स्वरूप में आज हमें प्राप्त होते हैं, वे हमारे पूर्वजों की दान की भावना की ही परिणति हैं, यदि उन्होंने इन स्थलों के लिये उदारता पूर्वक दान न दिया होता और इन स्थलों का निर्माण न हुआ होता तो कोई भी व्यक्ति भारतीय संस्कृति की महानता का मूल्यांकन कैसे कर पाता? आज भारतीय संस्कृति में जो भी प्राचीन स्मृतियाँ हैं, वे केवल दान की भावना से ही शेष हैं। यदि यहाँ के सम्राटों, सामन्तों और धनवान व्यक्तियों ने बुद्धिमान लेखकों, आचार्यों और प्रकाण्ड कर्मकाण्डविदों को संरक्षण न प्रदान किया होता और उनसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सृजन न कराया गया होता, तो वे पौराणिक ग्रन्थ, श्रौत ग्रन्थ, स्मृतियाँ आदि आज हमें देखने को उपलब्ध न होतीं। इन व्यक्तियों ने भूमिदान और धन दान देकर बुद्धिजीवियों की जो रक्षा की है उसी की बदौलत भारतवर्ष का दर्शन, धर्म, विज्ञान, ज्योतिष, कला और वास्तुशिल्प विश्व में सर्वाधिक सम्मानित है। सच पूछा जाय तो

दान ने ही भारतवर्ष के सम्पूर्ण शास्त्रों तथा वास्तुशिल्प को संरक्षण प्रदान किया है। आज दान की बदौलत धर्म-स्थल, तीर्थ-स्थल तथा इन स्थलों को सुरक्षित रखने वाले व्यक्ति अपनी जीविका उपार्जित कर रहे हैं।

शोध कार्य को सम्पन्न करने के लिये विविध ग्रन्थों का अवलोकन किया गया तथा उनसे दान सम्बन्धी प्रकरण छाँटे गये। प्राचीन भारतीय दान पद्धति पर काम करने वाले इतिहासकारों में आर०एस० शर्मा, रोमिला थापर, डी०एन० झा, ओमप्रकाश, विजयनाथ, लालजी त्रिपाठी, सी०ए० ग्रेगरी, टी० ट्राउटमैन, बी० भट्टाचार्य, डी०एन० माडन, मार्शल माश, जी० मैककोरमैक, सीरी परेरा, आर०एल० सोनी, एल० हाइड, डी०सी० सरकार आदि अनेक इतिहासकारों के नाम लिये जा सकते हैं, लेकिन इन सब में से किसी ने भी दान को महाकाव्ययुगीन समाज, अर्थव्यवस्था एवं धर्म के संबन्ध में अलग से नहीं उभारा है। ऐसा संभवतः उनकी विषय चयन की प्रतिबद्धता के कारण रहा होगा। इसलिये इस शून्य को भरने के लिये यह शोध प्रबंध "प्राचीन भारत में दान की अवधारणा : महाकाव्यों के विशेष सन्दर्भ में" लिखा गया है। विषय सामग्री प्राप्त करने के लिये मेरे द्वारा कठिन परिश्रम किया गया। लम्बी अवधि व्यतीत हो जाने के पश्चात भी मुझे ऐतिहासिक साक्ष्य से परिपूर्ण दान सम्बन्धी ग्रन्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पाये। अस्तु जो भी विषय सामग्री मुझे उपलब्ध हुयी, उसी में मुझे सन्तोष करना पड़ा।

इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना और इतिहास में रुचि रखना दोनों बड़े कठिन कार्य हैं। आज यह जो शोध प्रबन्ध पूर्णता को प्राप्त हुआ है, उसमें केवल मेरा ही परिश्रम नहीं है बल्कि पं० जे०एन०पी०जी० कालेज बाँदा के सेवानिवृत्त इतिहास विभागाध्यक्ष प्रो० बी०एन० रॉय जी के कुशल निर्देशन का परिणाम है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह शोध प्रबन्ध भविष्य में उपयोगी सिद्ध होगा तथा यह दान से सम्बन्धित ऐतिहासिक सोंच के यथार्थ को प्रस्तुत करेगा और पाठकगण इससे लाभ उठायेंगे।

कोई भी शोधकार्य एक लक्ष्य की पूर्ति के लिये किया जाता है और जब तक लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो जाती उस समय तक यह शोध कार्य चलता रहता है। जिन लक्ष्यों को ध्यान में रखकर यह शोध कार्य किया गया है उनकी पूर्ति हुयी है तथा लक्ष्य पूर्ति के उपरान्त एक विशेष प्रकार का आत्मसन्तोष भी मुझे प्राप्त हुआ है।

इस शोध के माध्यम से अति प्राचीन भारतीय संस्कृति के यथार्थ को बहुत अच्छी तरह से समझने का अवसर मिला। प्राचीन विद्वानों ने सम्पूर्ण आयु को चार आश्रमें में विभाजित कर तथा प्रत्येक आश्रम में अलग-अलग कर्तव्यों का निर्धारण कर बहुत अच्छा कार्य किया था। यह सिद्धान्त पूर्ण वैज्ञानिक है तथा जीव-जगत के अंकुरण, पल्लवन, विकास, पूर्ण विकास, स्थिरता और विनाश के सिद्धान्त पर आधारित है, इसलिये आयु को ध्यान में रखकर शारीरिक परिवर्तन शीलता के आधार पर कर्म का निर्धारण पूर्ण वैज्ञानिक था। इसी प्रकार हमारे मनीषियों ने यह समझा कि विकास को गति देने के लिये कार्य का विभाजन बहुत आवश्यक है इसलिये उन्होंने वर्ण

दान ने ही भारतवर्ष के सम्पूर्ण शास्त्रों तथा वास्तुशिल्प को संरक्षण प्रदान किया है। आज दान की बदौलत धर्म-स्थल, तीर्थ-स्थल तथा इन स्थलों को सुरक्षित रखने वाले व्यक्ति अपनी जीविका उपार्जित कर रहे हैं।

शोध कार्य को सम्पन्न करने के लिये विविध ग्रन्थों का अवलोकन किया गया तथा उनसे दान सम्बन्धी प्रकरण छाँटे गये। प्राचीन भारतीय दान पद्धति पर काम करने वाले इतिहासकारों में आर०एस० शर्मा, रोमिला थापर, डी०एन० झा, ओमप्रकाश, विजयनाथ, लालजी त्रिपाठी, सी०ए० ग्रेगरी, टी० ट्राउटमैन, बी० भट्टाचार्य, डी०एन० माडन, मार्शल माश, जी० मैककोरमैक, सीरी परेरा, आर०एल० सोनी, एल० हाइड, डी०सी० सरकार आदि अनेक इतिहासकारों के नाम लिये जा सकते हैं, लेकिन इन सब में से किसी ने भी दान को महाकाव्ययुगीन समाज, अर्थव्यवस्था एवं धर्म के संबन्ध में अलग से नहीं उभारा है। ऐसा संभवतः उनकी विषय चयन की प्रतिबद्धता के कारण रहा होगा। इसलिये इस शून्य को भरने के लिये यह शोध प्रबंध "प्राचीन भारत में दान की अवधारणा : महाकाव्यों के विशेष सन्दर्भ में" लिखा गया है। विषय सामग्री प्राप्त करने के लिये मेरे द्वारा कठिन परिश्रम किया गया। लम्बी अवधि व्यतीत हो जाने के पश्चात भी मुझे ऐतिहासिक साक्ष्य से परिपूर्ण दान सम्बन्धी ग्रन्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पाये। अस्तु जो भी विषय सामग्री मुझे उपलब्ध हुयी, उसी में मुझे सन्तोष करना पड़ा।

इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना और इतिहास में रुचि रखना दोनों बड़े कठिन कार्य हैं। आज यह जो शोध प्रबन्ध पूर्णता को प्राप्त हुआ है, उसमें केवल मेरा ही परिश्रम नहीं है बल्कि पं० जे०एन०पी०जी० कालेज बाँदा के सेवानिवृत्त इतिहास विभागाध्यक्ष प्रो० बी०एन० रॉय जी के कुशल निर्देशन का परिणाम है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह शोध प्रबन्ध भविष्य में उपयोगी सिद्ध होगा तथा यह दान से सम्बन्धित ऐतिहासिक सोंच के यथार्थ को प्रस्तुत करेगा और पाठकगण इससे लाभ उठायेंगे।

कोई भी शोधकार्य एक लक्ष्य की पूर्ति के लिये किया जाता है और जब तक लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो जाती उस समय तक यह शोध कार्य चलता रहता है। जिन लक्ष्यों को ध्यान में रखकर यह शोध कार्य किया गया है उनकी पूर्ति हुयी है तथा लक्ष्य पूर्ति के उपरान्त एक विशेष प्रकार का आत्मसन्तोष भी मुझे प्राप्त हुआ है।

इस शोध के माध्यम से अति प्राचीन भारतीय संस्कृति के यथार्थ को बहुत अच्छी तरह से समझने का अवसर मिला। प्राचीन विद्वानों ने सम्पूर्ण आयु को चार आश्रमें में विभाजित कर तथा प्रत्येक आश्रम में अलग-अलग कर्तव्यों का निर्धारण कर बहुत अच्छा कार्य किया था। यह सिद्धान्त पूर्ण वैज्ञानिक है तथा जीव-जगत के अंकुरण, पल्लवन, विकास, पूर्ण विकास, स्थिरता और विनाश के सिद्धान्त पर आधारित है, इसलिये आयु को ध्यान में रखकर शारीरिक परिवर्तन शीलता के आधार पर कर्म का निर्धारण पूर्ण वैज्ञानिक था। इसी प्रकार हमारे मनीषियों ने यह समझा कि विकास को गति देने के लिये कार्य का विभांजन बहुत आवश्यक है इसलिये उन्होंने वर्ण

व्यवस्था का सृजन करके समाज की आवश्यकता का ध्यान रखते हुये उत्पादकता के दृष्टिकोण से कर्मों का विभाजन अलग-अलग कर दिया। इससे कभी भी भारतीय समाज में वर्ग-संघर्ष और टकराव की स्थिति नहीं पैदा हुयी। इसीलिये सामाजिक सहआस्तित्व की भावना से सभी जातियों में मेलजोल रहा और वे अपना-अपना कार्य करती रहीं। भारतीय संस्कृति का मूलस्वरूप जो आज भी मौजूद है वह सामाजिक सहअस्तित्व एवं वर्ण व्यवस्था के कारण है।

भारतीय संस्कृति में दान के महत्व को शोध प्रबन्ध के माध्यम से दर्शाने का प्रयास किया गया है। प्रारम्भ में जिन उद्‌देश्यों की पूर्ति के लिये दान के सिद्धान्त का सृजन किया गया था वह वास्तव में बड़ा ही उपयोगी था। महत्पूर्ण धार्मिक ग्रन्थों के रचयिता यह अनुभव करते थे कि बुद्धिजीवी जो दूसरों को ज्ञान-विज्ञान, संयम और अध्यात्म की शिक्षा देते हैं , उनके उदरपूर्ति की व्यवस्था होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त आर्थिक विपन्नता झेलने वाला व्यक्ति, जो कतिपय कारणों से अपने परिवार को आवश्यक संसाधन नहीं प्रदान कर पाता, उसे भी सहयोग की आवश्यकता है, इसलिये ऐसे लोगों को सहयोग प्रदान करने की दृष्टि से दान के सिद्धान्त का सृजन किया गया। तद्‌युगीन मनीर्षागण यह भली-भाँति जानते थे कि किसी भी सम्भ्रान्त तथा साधन सम्पन्न व्यक्ति से धन आसानी से जन-कल्याणार्थ नहीं प्राप्त किया जा सकता इसलिये पुण्य और पाप दो सिद्धान्तों का सृजन किया गया तथा दान को पुण्य से जोड़ा गया और दान देना एक अच्छा कार्य माना गया। इसी समय दान की भावना को प्रेरित करने के लिय स्वर्ग और नरक की परिकल्पना भी की गयी तथा मोक्ष के सिद्धान्त को भी इसके साथ जोड़ा गया। साधन सम्पन्न व्यक्ति को प्रेरित किया गया कि वह दान आदि देकर स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करे। इसलिये इस शोध प्रबन्ध में दान का यथार्थ दृष्टिगोचर होता है और दान से सम्बन्धित उद्‌देश्य की पूर्ति होती है।

इस शोध प्रबन्ध के माध्यम से भारतीय संस्कृति के दो महाकाव्यों का विस्तृत अध्ययन किया गया है तथा उनमें से मानवीय संवेदना से सम्बन्धित प्रसंगों को प्रथक करके उनका विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। व्यक्ति को किस समय, किस वस्तु की आवश्यकता होगी और इस आवश्यकता की पूर्ति कौन, किस संसाधन से करेगा इसका विवरण भी इन महत्पूर्ण ग्रन्थों में महर्षि वाल्मीकि और वेदव्यास ने किया है। दान की जिस भावना की अभिव्यक्ति इन दोनों ग्रन्थों में हुयी है वह कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। इनमें दाता और ग्रहीता दोनों में कोई मर्यादा की रेखा नहीं खींची जा सकती। ग्रहीता किसी भी वस्तु की याचना कर सकता है तथा दाता अपनी इच्छानुसार उसे प्रदान भी कर सकता है। इसलिये दान देने के लिये कोई विशेष जाति निर्धारित नहीं है किसी भी व्यक्ति और जाति को दान दिया जा सकता है और कोई भी वस्तु दान में दी जा सकती है। ब्राह्मणों को केवल धार्मिक संस्कार से सम्बन्धित दान देने की व्यवस्था थी। ये लोग पुजारी, महन्त , शिक्षक और अनुष्ठान करने वाले थे इसलिये प्राथमिकता के तौर पर इन्हें दान दिया जाता था। इस प्रकार महाकाव्युग की दान प्रवृत्तियों तथा दानशीलता के अध्ययन का उद्‌देश्य भी इस शोध प्रबन्ध के माध्यम से पूरा हुआ है।

यह शोध प्रबन्ध दान से सम्बन्धित नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है तथा यह स्वीकार करता है कि जो भी दान की भावना समाज और राष्ट्र में है, वह उपलब्ध वेद पुराणों और शास्त्रों की ही देन है।

शोध प्रबन्ध की विषय सामग्री शोध के प्रमुख बिन्दु दान से सम्बन्धितहै। शोध प्रबन्ध लेखन में शोध प्रबन्ध की परिसीमाओं पर कड़ी निगाह रखी गयी है ताकि शोध प्रबन्ध विषयान्तर न हो। अध्ययन की सुविधा के लिये यह शोध प्रबन्ध निम्नलिखित छः अध्यायों में विभक्त किया गया है–

१. भूमिका

२. दान का स्वरूप : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

३. महाकाव्यों में वर्णित दान के विविध रूप

४. दान की समाजार्थिक पृष्ठभूमि

५. दान का धार्मिक महत्व

६. उपसंहार

इस शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में विषय की सामान्य भूमिका प्रस्तुत की गयी है। इसके अन्तर्गत महाकाव्यों की रचना के पूर्व भारतीय समाज एवं धर्म में दान की वास्तविक स्थिति का अध्ययन किया गया है। साथ ही प्रसंगतः यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त होने वाले दान एवं दक्षिणा में कोई मौलिक अन्तर है अथवा नहीं।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत दान के स्वरूप का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत रामायण तथा महाभारत में मिलने वाले दान की विविध कोटियाँ एवं उनकी प्रासांगिकता के बारे में विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत प्राचीन भारतीय समाजार्थिक परिप्रेक्ष्य में दान की भूमिका को रेखांकित करते हुये महाकाव्ययुगीन समाजार्थिक परिस्थितियों से उनका तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

पंचम अध्याय के अन्तर्गत दान की धार्मिक उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है।

षष्ठ अध्याय, उपरोक्त सभी बिन्दुओं के गहन अध्ययन के पश्चात निकाले गये निष्कर्षों एवं सम्भावनाओं से सम्बन्धित है।

वह, जिसने इस महान विश्व को सृजित किया है। वह, जिसने सम्पूर्ण जीवों को अकृति प्रदान की है। वह, जिसने पृथ्वी को धन धान्य से पूर्ण किया तथा उसे रत्नगर्भा बनाया। वह, जिसने मुझे जीवन प्रदान किया, कर्म करने के लिये हाथ और पैर दिये तथा चिन्तन करने के लिये बुद्धि प्रदान की, मेरा सर्वस्व है। मैं उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ तथा उसका बहुत बड़ा आभारी हूँ जिसकी अनुकम्पा से मुझे शोध करने की प्रेरणा मिली, जिसने मुझे बुद्धि और संसाधन प्रदान किये, मैं उसके प्रति नतमस्तक हूँ। यह शोध प्रबन्ध उसी की महान अनुकम्पा का प्रतिफल है।

भारतीय संस्कृति में गुरु और आचार्य की महिमा ईश्वर से बढ़कर बताई गयी है। गुरु जब ज्ञान देता है तभी यथार्थ का बोध होता है और ईश्वर के अस्तित्व का भी बोध होता है इसलिये वे गुरु जिन्होंने वेदों और पुराणों की रचना करके संसार के व्यक्तियों को यथार्थ का बोध कराया और हमें चिन्तनशील बनाया, उनके प्रति हम पूर्ण आस्था रखते हैं और अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। हम यह अनुभ्व करते हैं कि यदि ये मनीषी सारगर्भित ग्रन्थों की रचना न करते तो यह शोध प्रबन्ध भी न होता। हम वाल्मीकि, वेदव्यास, स्मृतिकारों तथा ऋषि मुनियों को अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं। भले ही वे इस समय संसार में नहीं हैं किन्तु उनके द्वारा सृजित सिद्धान्त ग्रन्थों के रूप में हमें प्रेरणा देते रहते हैं। वे दानदाता जिन्होंने अपना शरीर, प्राण, धन, राज्य, भूमि तथा महत्वपूर्ण वस्तुयें लोकहित में दान में दीं, वे भी हमारी श्रद्धा के पात्र हैं। वे केवल शास्त्रों में ही अमर नहीं हैं अपितु हमारे हृदय में भी उनके प्रति अपार श्रद्धा है तथा उन्हीं की प्रेरणा से दान की भावना आज तक पुष्पित-पल्लवित है जिनसे प्रेरित होकर हम विशिष्ट अवसरों पर दान देते रहते हैं। हमारे वर्तमान गुरु, जिन्होंने हमें ज्ञान प्रदान किया है और शैक्षिक योग्यता प्रदान की है उनके प्रति भी हम आभार व्यक्त करते हैं। मुख्यरूप से विषय चयन से लेकर शोध-प्रबन्ध की पूर्णता तक जिस अपनत्व, उदारता एवं विद्वता के साथ मेरे शोध निर्देशक पं० जे०एन०पी०जी० कालेज, बाँदा के इतिहास के सेवानिवृत्त विभागाध्यक्ष पूज्यनीय प्रो० बी०एन० रॉय जी ने मेरी सहायता की है, वह मेरे लिये न केवल पथ प्रदर्शक बना वरन मेरी भविष्य की योजनाओं के लिये एक प्रेरक प्रसंग भी बना। शोध के प्रति गहन अभिरुचि उत्पन्न करके, विवादास्पद विषयों पर मेरी शंकाओं का समाधान करके तथा उचित दिशा-निर्देशन प्रदान करके लक्ष्य के प्रति सदैव समर्पित रहने का जो मूलमंत्र गुरुवर प्रो० रॉय साहब ने दिया है, उसके लिये शाब्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना संभव नहीं है। शोध-पर्यवेक्षक के रूप में गुरुवर प्रो० रॉय साहब ने मुझे कई रूपों में उपकृत किया है इसके लिये मैं उनका आजीवन ऋणी रहूँगा।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के डा० जे०एन० पाण्डे जी का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने मेरे शोध कार्य में गहन अभिरुचि ली तथा समय-समय पर उचित दिशा-निर्देशन भी प्रदान किया। संस्कृति विभाग के असिस्टेन्ट डायरेक्टर डा० लवकुश प्रसाद द्विवेदी जी, जो कि मेरे महाविद्यालय के इतिहास विभाग के भूतपूर्व प्रवक्ता भी रहे हैं, ने विद्यार्थी जीवन से इस स्थिति तक सदैव मेरा पथ प्रदर्शन किया है इसके लिये मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा निवेदित करता हूँ।

पं० जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय बाँदा, जहाँ से मैने शिक्षा प्राप्त की है तथा वर्तमान में मैं इतिहास प्रवक्ता के पद पर कार्यरत हूँ, यहाँ के विभिन्न विद्वानों का मुझे मार्गदर्शन एवं सहयोग प्राप्त हुआ है। इनमें सर्वप्रथम प्राचार्य प्रो० आई०जे० सिंह जी का मैं विशेष आभारी हूँ जिन्होंने शोध कार्य हेतु मुझे पर्याप्त सुविधायें प्रदान कीं। इनके साथ-साथ सेवानिवृत्त संस्कृत विभागाध्यक्ष डा० आर०ए० त्रिपाठी जी, हिन्दी विभाग के विभागाध्यक्ष डा० रामगोपाल गुप्ता जी,

डा० चन्द्रिका प्रसाद दीक्षित 'ललित जी', डा० ज्ञान प्रकाश तिवारी जी, समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष डा० जसवन्त प्रसाद नाग जी, डा० शिवशरण गुप्त जी, राजनीतिशास्त्र विभाग के अध्यक्ष डा० आर० पी० राय जी, डा० सी०पी० जैन जी, अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष डा० एस०के० त्रिपाठी जी, भूगोल विभाग के अध्यक्ष डा० जे० के० बनर्जी जी, डा० अवधेश कुमार जी, शिक्षक शिक्षा संकाय विभाग के डा० वी०के० त्रिपाठी जी, डा० डी०आर० सिंह पाल जी एवं महाविद्यालय के अन्य समस्त महानुभावों का मैं हृदय से आभारी हूँ। मैं विजय पुस्तक भंडार के श्री राधाकृष्ण बुन्देली जी का भी आभारी हूँ जिनके यहाँ से मुझे विषय से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुयी।

अपने मित्रों, सहपाठियों एवं सहकर्मियों में मैं मलखान सिंह, राजेश गुप्ता, मान सिंह, कमलेश शुक्ला, श्री बरकत उल्ला, शैलजा शुक्ला, शीतल त्रिपाठी, गीता अग्रवाल, रमिता सिंह, डा० वीरेन्द्र शर्मा, दयानिधान, संजय पाण्डे, डा० सिराजुल हसन, प्रवीण खरे, प्रमोद शिवहरे तथा आरती शुक्ला का भी आभारी हूँ जिन्होंने शोध कार्य हेतु सामग्री एकत्र करने में एवं समय-समय पर मेरी हर संभव सहायता की।

पं० जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय, बाँदा के पुस्तकालय, राजकीय पुस्तकालय, नागरी प्रचारिणी पुस्तकालय, वामदेव संस्कृत महाविद्यालय बाँदा के पुस्तकालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के पुस्तकालय, गंगानाथ झा शोध संस्थान के पुस्तकालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के पुस्तकालय के पुस्तकालयीय कर्मचारियों के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जहाँ से मुझे पुस्तकीय सहायता प्राप्त हुयी। इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन में मैने जिन प्रतिष्ठित विद्वानों की प्रामाणिक पुस्तकों का सहयोग लिया है उन सभी विद्वानों के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मेरे पूज्यनीय माता-पिता एवं अन्य परिवारीजन भी श्रद्धा और प्यार के पात्र हैं जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने के लिये मुझे हर प्रकार के संसाधन उपलब्ध कराये। मेरे माता-पिता के हृदय में यह अभिलाषा थी कि मैं कुछ ऐसा करूं जिससे पूरा परिवार गर्व का अनुभव करे, मैने यह शोध कार्य उन्हीं की प्रेरण एवं सहयोग से किया है। मेरे पिता श्री बिन्दा प्रसाद तिवारी, माता श्रीमती लीला देवी, ताऊ श्री बद्री प्रसाद तिवारी, ताई श्री मती राजादेवी, अग्रज डा० जे०एन० तिवारी, श्री सत्यनारायण तिवारी, अनुज आत्माराम, रामबाबू, मेरे ज्ञानवर्द्धन में सदैव सहयोगी रहे हैं तथा मुझे हर प्रकार की सुख-सुविधा उपलब्ध करायी है, इसके लिये मैं सदैव इन सब का ऋणी रहूँगा। मेरी धर्मपत्नी श्रीमती गीता देवी ने भी मुझे शोधकार्य के लिये पूर्ण समय एवं सहयोग प्रदान किया, यह मेरे लिये बड़ी प्रसन्नता की बात है। पुत्री अनामिका, निवेदिता तथा पुत्र रवि भी स्नेह के पात्र हैं क्योंकि जो समय मेरी धर्म पत्नी तथा बच्चों का होना चाहिये वह समय उन्होंने मुझे शोध कार्य करने के लिये दिया। मेरी प्रिय दादी स्व० तुलसिया देवी, जो अब अतीत की स्मृति मात्र हैं तथा जिन्होंने मुझे हमेशा सत्य एवं सन्मार्ग का रास्ता दिखाया उनके लिये मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाँजलि निवेदित करता हूँ तथा अपना यह शोध प्रबन्ध उन्हें स्मृति स्वरूप भेंट करता हूँ।

इस शोध प्रबन्ध के स्वच्छ एवं आकर्षक कम्प्यूटर टाइप के लिये मैं मनोज कुमार गुप्ता, एवं धीरेन्द्र कुमार यादव, राज प्रेस, बाँदा को कोटिशः धन्यवाद देता हूँ जिनके अथक परिश्रम से यह शोध प्रबन्ध वर्तमान रूप ले सका। अत्यन्त सावधानी के बाद भी यदि प्रूफ सम्बन्धी कुछ गलतियाँ रह गयी हों तो उनके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

स्थान- बाँदा

दिनाँक २८-११-२००० ई०

भवदीय

सन्तोष कुमार तिवारी

(सन्तोष कुमार तिवारी)

प्रवक्ता इतिहास

पं० जे०एन०पी०जी० कालेज, बाँदा (उ०प्र०)

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

भूमिका

सामान्य पृष्ठभूमि – मानव जीवन के विकास के सन्दर्भ में कोई ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होते, किन्तु सामान्य सृष्टि सृजन प्रक्रिया के वैज्ञानिक आधार अवश्य उपलब्ध होते हैं। जब सृष्टि में समुचित पर्यावरण का उदय हुआ और भू-स्थलीय वातावरण जीवों के अनुकूल बना, उसी समय परमाणु संयोजन के आधार पर सृष्टि का सृजन हुआ। जीव उत्पत्ति के लिये बीज और भूमि के सिद्धान्त के अनुसार यह सृष्टि सृजित हुई। जड़-चेतन, चल और अचल दोनों का ही परमाणु गुरुत्वाकर्षण और उन्हें संयोजित करने के सिद्धान्त के आधार पर सृष्टि का सृजन हुआ। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये भारतीय धर्मग्रन्थों में सृष्टि सृजन के अनेक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं लेकिन ये सिद्धान्त कल्पना के आधार पर ही सृजित हैं। ऋग्वेद में सृष्टि सृजन के सम्बन्ध में निम्न विचार व्यक्त किये गये हैं-

उस अवस्था में न तो मृत्यु थी न अमरत्व था। न निशा थी और न दिवस था। सृष्टि का अभिव्यंजक कोई भी चिन्ह उस समय नहीं था। केवल एक तत्व था जो बिना वायु के भी अपनी ऊर्जा से श्वांस ले रहा था और बस उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था-

"अनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यत्र परः किं चनास।"[१]

सृष्टि से पूर्व प्रलयावस्था में तम ही तम से आछन्न था, अर्थात् सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार था। उस अवस्था में नाम रूपादि विशेषताओं से परे कोई एक दुर्जेय तत्व था जो सृष्टि सर्जना के संकल्प की महिमा से स्वयं आविर्भूत हुआ। सृष्टि से पूर्व की अवस्था में उस एकाकी के मन में सृजन का भाव उत्पन्न हुआ उसी की परिणति सृष्टि के जड़-चेतन रूप असंख्य आकारों में हुयी। यही सृष्टि तन्तु का प्रसार था। सृष्टि का विस्तार था।

२. ऋषि कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व प्रलयावस्था में जब नामरूपात्मक सत्ता ही नहीं थी, तब यथार्थ रूप में कौन जानता है कि विविधस्वरूपा यह सृष्टि कहाँ से और किससे उत्पन्न हुयी। देवता इस रहस्य को नहीं बतला सकते क्योंकि देवता भी तो सृष्टि रचना के अनन्तर ही अस्तित्व में आये थे।

इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अंग वेद यदि वा न वेद।।"[२]

आज तक यह स्पष्ट नहीं हो पाया कि मानव बीज इस सृष्टि में कहाँ से आया? केवल पुराणों में यह साक्ष्य उपलब्ध होता है कि प्रथम मनु उभयलैंगिक थे जिन्होंने राजा पृथु को जन्म दिया। इसी आधार पर अर्द्धनारीश्वर और उमा-महेश्वर की परिकल्पना की गई। इसी प्रकार सृष्टि में उत्पन्न शक्ति को प्रथम गर्भधारण करने वाली महिला माना गया। जिसने ब्रह्मा, विष्णु, महेश को जन्म दिया। इससे इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि नारी तत्व गर्भ धारण कर किसी भी जीव को आकृति प्रदान करती है, किन्तु बीज उसे पुरुष से ही प्राप्त करना होता है। इस सन्दर्भ में

वात्स्यायन ने अपने विशिष्ट अनुसंधानों के आधार पर 'कामसूत्र' नामक ग्रन्थ का सृजन किया तथा सृष्टि सृजन को संभोग के आधार पर माना। यह सिद्धान्त वैज्ञानिक और तथ्यपूर्ण प्रतीत होता है तथा इसी सिद्धान्त के आधार पर स्त्री-पुरुषों के मध्य वैवाहिक सम्बन्धों का सृजन हुआ। वेदों तथा अन्य ग्रन्थों में इसके उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार-

"अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माधावज्जायां
न विन्दते नैव तावत्प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति।
अथ यदेव जायां विन्दतेऽथ तर्हि हि सर्वो भवति।।" [३]

अर्थात् पत्नी पति की आधी (अर्धांगिनी) है, अतः जब तक व्यक्ति विवाह नहीं करता, जब तक सन्तानोत्पत्ति नहीं करता, तब तक वह पूर्ण नहीं है।

मानव और विश्व सभ्यता का विकास बहुत धीमी गति से प्रारम्भ हुआ। सृष्टि के प्रारम्भ में मानव एवं अन्य पशु एक जैसे थे। उनका जीवन प्रकृति पर आधारित था, उनके पास भाषा तथा कोई जीवन शैली नहीं थी, लेकिन मानव मस्तिष्क अन्य प्राणियों से सर्वश्रेष्ठ था, उसने आवश्यकताओं के आधार पर अनेक नवीन वस्तुओं को जन्म दिया। प्रकृति के अनुसार समूह में रहने की जीवनशैली अपनायी। सुख-दुख की अभिव्यक्ति के लिये भाषा को जन्म दिया तथा विकास को गति देने के लिये सामूहिक भावना को जन्म दिया, जिससे मानव समाज का निर्माण हुआ। समाज का सामान्य अर्थ ही व्यक्तियों का समूह में रहना है। वह समाज में रहकर अन्य व्यक्तियों के साथ समन्वय स्थापित करता है, आपसी व्यवहार को जन्म देता है और कुछ क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का अनुपालन करता है। गिडिंग्स के अनुसार-[४] "समाज स्वयं संघ है, संगठन है, औपचारिक सम्वन्धों का योग है, जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के साथ जुड़े हुये या सम्बद्ध हैं।" इसी प्रकार अन्य समाजशास्त्रियों ने भी समाज की परिभाषा समाज के गुणों के आधार पर दी है। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार,[५] "समाज रीतियों एवं कार्यप्रणालियों की, अधिकार एवं पारस्परिक सहायता की, अनेक समूहों तथा विभागों की, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों तथा स्वतन्त्रताओं की एक व्यवस्था है। इस सदैव परिवर्तनशील, जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्वन्धों का जाल है और यह हमेशा परिवर्तित होता रहता है।"

मानव विकास का शुभारम्भ- जब मनुष्य एक सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित हुआ उस समय उसने अपनी आवश्यकताओं की पूति के लिये नाना प्रकार के अन्वेषण किये। उसने प्राकृतिक संसाधनों को अपने उपयोग के अनुकूल बनाया। उसने अपनी रक्षा के लिये प्रारम्भ में प्रस्तर के औजारों का निर्माण किया, उसके पश्चात् धातुओं की खोज की तथा विविध धातुओं से विविध प्रकार की उपयोगी वस्तुओं का निर्माण किया। उसने उपलब्ध तन्तुओं के आधार पर वस्त्रों को जन्म दिया तथा अचल जैविकी (पेड़-पौधों) का अध्ययन कर कृषि को जन्म दिया। विविध वस्तुओं के उत्पादन के आधार पर विविध जातियों और उपजातियों का निर्माण हुआ तथा विविध वस्तुओं का आदान-प्रदान एक दूसरे को होने लगा, क्योंकि मनुष्य ऐसा समझता था कि वह

समस्त कार्यों को एक साथ सम्पन्न नहीं कर सकता, इसलिये उसे दूसरे पर आश्रित रहना पड़ता था। इसी आदान-प्रदान के व्यवहार ने सभ्यता और संस्कृति को जन्म दिया। रॉबर्ट बीरस्टीड के अनुसार "Culture is the complex whole that consists of every thing we think and do and have as members of society." [६]

मानव संस्कृति के सन्दर्भ में एक बात सदैव ध्यान देने योग्य है कि यह प्रकृतिजन्य नहीं है, बल्कि यह मानवकृत है। व्यक्ति इसको अपने पूर्वजों से सीखता है, यह आगे आने वाली पीढ़ियों में हस्तान्तरित होती है, हर राष्ट्र की अलग-अलग संस्कृति होती है। हर संस्कृति के अलग-अलग गुण होते हैं। संस्कृति मानव आदर्शों को जन्म देती है, यह मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। संस्कृति सभी को अपनी ओर आकर्षित करती है। मानव व्यक्तित्व का विकास सांस्कृतिक गुणों के आधार पर ही होता है। संस्कृति ही शिष्ट समाज की परिचायक है। भारतवर्ष का विश्व में महत्व उसकी संस्कृति के आधार पर ही है। उसने सम्पूर्ण विश्व को वे आदर्श प्रदान कियें हैं जो सर्वोत्कृष्ट संस्कृति के प्रतीक हैं।

ज्ञान का विकास– धर्मशास्त्रों के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन से कुछ सीखता है। वहीं से ज्ञान का शुभारम्भ होता है। मानव के विकासक्रम में हम उसके जीवन को चार भागों में विभाजित करते हैं, इसे धर्मशास्त्रों में आश्रम व्यवस्था के नाम से पुकारा गया है। इनका उल्लेख मनु ने इस प्रकार किया है- "शतायुर्वे पुरुषः" अर्थात् मानव जीवन एक सौ वर्ष का होता है। मनुष्य के जीवन का प्रथम भाग ब्रह्मचर्य है, जिसमें व्यक्ति गुरुगृह में रहकर विद्याध्ययन करता है, दूसरे भाग में वह विवाह करके गृहस्थ हो जाता है और सन्तानोत्पत्ति द्वारा पूर्वजों के ऋण से तथा यज्ञ आदि करके देवों के ऋण से मुक्ति पाता है। जब व्यक्ति अपने सिर पर उजले बाल देखता है तथा शरीर पर झुर्रियाँ देखता है, तब वह वानप्रस्थ हो जाता है और वन में जीवन का तृतीयांश बिताकर शेष भाग को सन्यासी के रूप में व्यतीत करता है। [७]

सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रभु के अनुसार "The word ashrama is originally derived from the Sanskrit root srama,'to exert oneself; therefore it may mean by derivation (i) Place when exertionsare perfarmed, and (ii) the action oF performing such exertions." [८] आश्रम व्यवस्था में रहकर व्यक्ति निम्न प्रकार से ज्ञान प्राप्त करता है-

१. स्वानुभूति से उपलब्ध ज्ञान– व्यक्ति अपने जीवनकाल में कर्ण, नासिका, नेत्र, मुख, त्वचा आदि के माध्यम से जो ज्ञान अर्जित करता है, उसे स्वानुभूति ज्ञान कहते हैं। इसके अतिरिक्त दैनिक जीवन, सामाजिक व्यवहार व मनोविकार द्वारा मनुष्य जो अनुभव अर्जित करता है, वह भी उसका स्वानुभूत ज्ञान होता है।

२. परानुभूति ज्ञान– जब व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को अपना गुरू बनाता है और वह गुरू व्यक्ति को अध्यापन, उपदेश, आचरण के माध्यम से कुछ सिखाता है तो वह ज्ञान परानुभूति ज्ञान होता है। वेद, पुराणों, शास्त्रों, धर्मग्रन्थों, साहित्यिक ग्रन्थों में उपलब्ध अध्ययन सामग्री

परानुभूत ज्ञान उपलब्ध कराती है।

इस प्रकार इन दोनों ही विधियों से जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है वह हमें यथार्थ का बोध कराता है। इसके अतिरिक्त वह सत्-असत्, उचित और अनुचित का भी बोध कराता है। इस प्रकार यह ज्ञान मानव को विविध विषयों का बोध कराकर उचित आदर्शों की स्थापना करता है और व्यक्तित्व का विकास करता है।

धर्म का उदय एवं विकास– व्यक्ति जब १०० वर्ष का जीवन जीता है तथा लोक व्यवहार और सम्पर्क के माध्यम से ज्ञान अर्जित करता है तब उसे ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व के समस्त जीवों में एक जैसी आत्मा निवास करती है। सभी जीव सुख-दुख की अनुभूति एक समान करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त प्राणियों में एक रहस्यमयी आध्यात्मिक सम्बन्ध है। विश्व में ऐसी कोई विशिष्ट शक्ति है जो सम्पूर्ण विश्व का सृजन, अंकुरण, विकास, पूर्णविकास, स्थायित्व एवं विनाश करती है। यह शक्ति सभी धर्मों द्वारा परमपिता परमेश्वर अथवा सृष्टिधात्री महाशक्ति के रूप में स्वीकार की गई है। यह शक्ति दृश्य और अदृश्य दोनों रूपों में उपासित है। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर विविध देवताओं की परिकल्पना भी की गई। इसी धार्मिक सिद्धान्त ने सत्य, अहिंसा, प्रेम, सदाचार और सद्व्यवहार को जन्म दिया।

यद्यपि धर्मशास्त्रकारों ने धर्म का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं बतलाया, उनके अनुसार धर्म का अर्थ धारण करना, आलम्बन देना और पालन करना है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में इसका प्रयोग हुआ है, तद्नुसार–

"आ प्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।"[९]

छान्दोग्योपनिषद[१०] में धर्म का एक महत्वपूर्ण अर्थ मिलता है, जिसके अनुसार धर्म की तीन शाखायें मानी गई हैं (१) यज्ञ, अध्ययन एवं दान अर्थात् गृहस्थ धर्म (२) तपस्या अर्थात् तापस धर्म तथा (३) ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य के गृह में अन्त तक रहना।

सुप्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान सर जेम्स फ्रेजर ने धर्म को निम्न रूप में परिभाषित किया है–
"By religion .... I understand a propitiation or conciliation of powers superior to man which are believed to direct and control the course of nature and of the human life."[११]

धर्म का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि धर्म में आस्था रखने वाला व्यक्ति एक परमशक्ति पर विश्वास करता है तथा वह सदैव उससे भयभीत रहता है। समस्त मानवों में अपनी जैसी आत्मा की अनुभूति करके वह इस प्रकार के कर्मों को जन्म देता है जिससे उसकी यश वृद्धि होती है, उसके कर्म की प्रतिक्रिया उसके अनुकूल होती है। उसके कर्म अधोगति और उच्चगति के आधार पर मूल्यांकित होते हैं, जिसके आधार पर वह स्वर्ग अथवा नरकगामी होता है। वह जीवन को भोग की वस्तु न मानकर उसे परिवर्तनशील और नश्वर मानता है, इसलिये वह माया, ममता, मोह आदि से दूर रहता है। वह सदैव तृष्णा, अहंकार, क्रोध, मद, ममता और मोह से अलग रहकर सभी के प्रति समभाव रखता है तथा स्वतः कष्ट

सहन की क्षमता प्राप्त करके दूसरों को बिना किसी स्वार्थ के सुख प्रदान करता है।

पुरुषार्थ- भारतीय धर्मशास्त्र के अन्तर्गत मानव जीवन के उद्देश्यों को चार भागों में विभक्त किया गया है। ये उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के नाम से विख्यात हैं। मानव जीवन के प्रथम उद्देश्य के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के लिये धर्म का अनुपालन करना बहुत आवश्यक है। इस धर्म के अन्तर्गत कुछ विशेष कर्म निर्धारित किये गये हैं जिनका उल्लेख श्रोत ग्रन्थों में किया गया है। ये कर्म ब्रह्मचारी, स्नातक, गृहस्थ, स्त्री, पुरुष, राजाओं, कर्मचारी आदि व्यक्तियों के लिये अलग-अलग हैं। धर्म का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय अथवा मत से नहीं है। पी०वी० काणे के अनुसार[१२] "यह जीवन का एक ढंग या आचरण संहिता है जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मों एवं कृत्यों को व्यवस्थापित करता है तथा उसमें क्रमशः विकास लाता हुआ उसे मानवीय लक्ष्य तक पहुंचाने के योग्य बनाता है। टीकाकार मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर टीका लिखते हुए धर्म को निम्न भागों में विभाजित किया है- १. वर्ण धर्म, २. आश्रम धर्म, ३. वर्णाश्रम धर्म, ४. गुण धर्म, ५. नैमित्तिक धर्म, ६. साधारण धर्म, यथा-

"अत्र च धर्मशव्दः षड्विधस्मार्तधर्मविषयः, तद्यथा- वर्णधर्म, आश्रमधर्मो, वर्णाश्रमधर्मो, गुणधर्मो, निमित्तधर्मः साधारण धर्मश्चेति।[१३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म का विभाजन आयु, वर्ण और पद के अनुसार होता है।

भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुसार पुरुषार्थ धर्म का ही एक अंग है, धर्मावलम्बियों का यह विश्वास है कि ८४ लाख योनियों का भोग भोगने के पश्चात् व्यक्ति को मानव जीवन अत्यन्त कठिनाई के पश्चात् प्राप्त होता है। इसलिये वह दुबारा अधोगति में न पड़े इसके लिये वह जीवन को लोककल्याण और परहित के लिये अर्पित कर दे तथा अपने द्वारा अर्जित सम्पत्ति को दूसरों के हित में व्यय करे और समाज में त्याग और बलिदान के उदाहरण प्रस्तुत करे, यही पुरुषार्थ है और इसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है। सुप्रसिद्ध बंगला कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पुरुषार्थ के सम्बन्ध में ये विचार व्यक्त किये हैं-

"वैराग्य साधन से जिस मुक्ति की प्राप्ति होती है, वह हमारे लिये नहीं है। अनुराग के हजारों बंधनों में ही मुझे मुक्ति का आनन्द अनुभव होता है। मैं अपनी दुनियाँ के असंख्य दीपों को तेरी ज्वाला से जला लूँगा और तेरे मन्दिर की यज्ञवेदी पर रख दूँगा। नहीं मैं अपनी इन्द्रियों को घोर संयम के सीखचों में बन्द नहीं करूँगा। मेरे दर्शन, श्रवण और स्पर्श से तेरा आनन्द भरा होगा। मेरे सब भ्रम आनन्द-यज्ञ की समिधा बनकर प्रकाशित होंगे और मेरी सब वासनायें प्रेम-फल के रूप में परिपक्व होंगी।"[१४]

उपरोक्त पंक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म द्वारा नियंत्रित अर्थ और काम के मध्य मोक्ष का जो मार्ग है वही पुरुषार्थ का वास्तविक स्वरूप है।

पुरुषार्थ के विविध स्वरूपों में दान- सभ्यता के विकास के साथ जब उस मनुष्य

के मस्तिष्क में ज्ञान का उदय हुआ और वह पुरुषार्थ की प्रेरणा से प्रेरित हुआ तो उसे ऐसा लगा कि वह किसी भी रूप में दूसरे व्यक्तियों को सहयोग प्रदान करे। जब समाज में मुद्रा का प्रचलन नहीं था और धातुओं का आविष्कार नहीं हुआ था, उस समय भी उसके हृदय में सहयोग की भावना थी। प्रसवकाल, शारीरिक पीड़ा तथा असाध्य श्रम को साध्य बनाने के लिये वह अपने जैसे व्यक्तियों को सहयोग प्रदान करता था। जिन वस्तुओं का संचय वह अपने जीवन के लिये और भविष्य की सुरक्षा के लिये करता था उसका कुछ भाग वह दूसरों के हित के लिये दे देता था। दान की भावना का उदय यहीं से प्रारम्भ होता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि अंग्रेज विद्वान डर्विन भी करते हैं। उनके मतानुसार[१५] "जब व्यक्ति जंगली अवस्था में था उस समय व्यक्ति की सहयोग की भावना को दान माना जाता था।" इसी सिद्धान्त की पुष्टि एक दूसरे विद्वान पीटर क्रोपाटकिन ने भी की है, इनके मतानुसार,[१६] "जब कोई व्यक्ति भौतिक कारणों से कमजोर होता था और उसका सन्तुलन बिगड़ जाता था, उस समय बौद्धिक और सामाजिक गुणों के आधार पर दान देने और दान लेने की पृथा थी।" मनु ने भी दान पर काफी प्रकाश डाला है, दान के ही माध्यम से गृहस्थ आश्रम की महत्ता स्वीकार की गई है। मनु के अनुसार-

"तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञ मेवाहुर्दानमेकं कलौयुगे।"[१७]

अर्थात् कृत (सतयुग), त्रेता, द्वापर एवं कलयुग में धार्मिक जीवन के प्रमुख रूप क्रम से तप, आध्यात्मिक ज्ञान, यज्ञ एवं दान हैं।

मनु ने गृहस्थाश्रम की महत्ता गायी है और कहा है कि अन्य आश्रमों से यह श्रेष्ठ है क्योंकि इसी के द्वारा अन्य आश्रमों के लोगों का परिपालन होता है।

"यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन मान्हवम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही।।"[१८]

प्राचीन भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में कोई ऐसे स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध नहीं हो सके जिससे यह सिद्ध हो सके कि वैदिक युग के पूर्व सभ्यता का स्वरूप क्या था और व्यक्ति किस प्रकार से धर्म का अनुपालन करता था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में सिन्धु घाटी की सभ्यता के जो अवशेष उपलब्ध हुये हैं उनसे केवल सभ्यता की परिचयात्मक जानकारी मिलती है। खुदाई में प्राप्त वस्तुओं से दान और धर्म के सम्बन्ध में कोई विशिष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाती किन्तु यह सत्य है कि मानवीय भावनाओं के उदय के साथ दान का कोई न कोई स्वरूप इस समय भी यहाँ रहा होगा।

आर्य सभ्यता के सन्दर्भ में हमें विशिष्ट जानकारी वेदों से प्राप्त होती है। वेद जहाँ आर्यों के रहन-सहन और सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं वहीं पर वे धर्माचरण और दान आदि के सन्दर्भ में भी प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद में दान के विविध स्वरूपों का वर्णन है। इस युग में दान में गाय, रथ, अश्व, ऊँट, नारियाँ (दासियाँ) तथा भोजन आदि देने का उल्लेख मिलता है।[१९] वेदों के रचयिताओं ने दान और दक्षिणा का एकीकरण किया है तथा दान के फल को स्वर्ग आदि से जोड़ा है। ऋग्वेद में दान का फल बताते हुये कहा गया है कि गायों का दान करने वाला स्वर्ग में

उच्च स्थान पर जाता है। अश्व दान करने वाला सूर्यलोक में जाता है और जो परिधान दान करता है वह दीर्घ जीवन का लाभ उठाता है।[२०] कालान्तर में दान की भावना में परिवर्तन हुआ। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार "अश्व दान पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।"[२१] किन्तु स्वर्ण, गाय तथा अन्य पदार्थों के दान में प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। वेदों में दानदाता और दानग्रहीता के सन्दर्भ में भी विस्तार से विचार किया गया है। कालान्तर में दान की भावना में और परिवर्तन हुआ, जिन पशुओं का व्यवसाय होता था तथा जिस व्यवसाय में ब्राह्मण लोग अश्वों का क्रय-विक्रय करते थे उसके लाभ को मन्दिरों के प्रवन्ध में व्यय किया जाता था, इसका उल्लेख पेहोवा के शिलालेख में मिलता है।[२२] गौतम धर्मसूत्र में अपराधों के प्रायश्चित के लिये अश्व दान का समर्थन किया गया है।[२३]

मुख्य रूप से दान देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिये दिया जाता था। धर्मशास्त्रों में दो प्रकार के देव माने गये हैं- १. स्वर्ग के देवता, २. मानव देवता। इसी विधि के अनुसार यज्ञ का विभाजन होता था। यज्ञ में जो आहुतियाँ दी जाती थीं वह देवताओं को प्राप्त होती थीं और दक्षिणा वेदज्ञ ब्राह्मणों (मानव देव) को मिलती थी।[२४] वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार "व्यक्ति के तीन विशिष्ट गुण हैं, दम (शक्ति), दान एवं दया।[२५]

प्राचीन धर्मग्रन्थों में मानव उत्सर्ग के लिये योग, होम और दान तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। योग अथवा यज्ञ के माध्यम से व्यक्ति वैदिक मन्त्रों के साथ कुछ वस्तुओं का त्याग करता है। होम के माध्यम से व्यक्ति किसी वस्तु के लिये किसी देवता के पक्ष में आहुति देता है उसके पश्चात् उस वस्तु का स्वामी दूसरे को बना दिया जाता है तथा दान को देने की स्वीकृति मानसिक या याचिक या शारीरिक रूप से हो सकती है।[२६] विविध शास्त्रों में दान की परिभाषा दी गई है जो इस प्रकार है-

"अर्थानामुदिते पात्रे यथावत्प्रतिपादनम्। दानमित्यमिनिर्दिष्टं व्याख्यानं तस्य वक्ष्यते।।"[२७]

अर्थात् शास्त्र द्वारा उचित माने गये व्यक्ति के लिये शास्त्रानुमोदित विधि से प्रदत्त धन को दान कहा जाता है।

"पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनवेक्ष्य प्रयोजनम्। केवलं धर्मबुद्धया यद्धर्मदानं तदुच्यते।।"[२८]

अर्थात् जब किसी उचित व्यक्ति को केवल अपना कर्तव्य समझ कर कुछ दिया जाता है तो उसे धर्मदान कहा जाता है।

डा० विजयनाथ ने अपने शोधप्रबन्ध में दान को इस प्रकार परिभाषित किया है- "Giftmaking according to Anthropologists, in its various aspects of mutul aid redistribution and exchange was central to the economic functioning of all early societies, As one Anthropologist puts it."[२९] सुप्रसिद्ध विद्धान का मत है कि वैदिक युग में दिया जाने वाला दान एक प्रकार का आर्थिक सहयोग था, जो विविध उद्देश्यों को ध्यान में रखकर व्यक्ति विशेष, संस्था विशेष को दिया जाता था, इसका प्रचलन इस युग के समाज में अर्थ के आदान-प्रदान के रूप में प्रचलित था। इससे यह स्पष्ट होता है कि दाता अपने अतिरिक्त धन का जब सदुपयोग करना

चाहता था उस समय वह दान की पृष्ठभूमि का निर्माण करता था और वह सुपात्र याचक, व्यक्ति अथवा संस्था की खोज करता था जिसे वह दान दे सके, इसके पीछे आध्यात्मिक और धार्मिक भावनायें भी कार्य करती थीं। वह सोचता था कि दान देने से उसके पूर्वकाल की गरिमा बनी रहेगी, उसके पूर्वज जो वर्तमान समय में जीवित नहीं हैं वे प्रसन्न होंगे तथा जब वह दान का यशलाभ करके स्वर्गगामी होगा तो वह अपने किये गये दान के द्वारा वर्तमान नैतिक विकास के साथ-साथ उत्तम गति को प्राप्त करेगा।

एक प्रकार से दान उन लोगों के लिये चुनौती भी था जो किसी कार्य के बदले कृतज्ञता ज्ञापित करने की भावना रखते थे। इस प्रकार वे अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा, शक्ति और स्थिति अपनी जाति और क्षेत्र में बनाये रखते थे।[३०] उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति दान देने के समय में कुछ विशिष्ट उद्देश्य मस्तिष्क में रखता था। उसका प्रथम उद्देश्य अतिरिक्त अर्जित धन का सदुपयोग करना था। इस प्रकार से दिया गया धन कृतज्ञ व्यक्तियों के पास स्थानान्तरित हो जाता था जो किसी प्रभावशाली कार्य के लिये उसे व्यय करते थे। उनका एक उद्देश्य संचित धन का व्यावहारिक प्रयोग भी था, जहाँ भी वे रुपये की कमी देखते थे उस कमी को दान के माध्यम से पूरा कर देते थे। इस प्रकार दान एक प्रकार से आर्थिक सहयोग तथा मुद्रा को आगे बढ़ाना था। दान का यह भी एक उद्देश्य था कि संचित धन का वितरण उपयोगिता के आधार पर होता रहे। कालान्तर में दान एक सामाजिक परम्परा और धार्मिक कृत्यों में शामिल हो गया। जब धनी व्यक्तियों के पास सर्वाधिक धन एकत्रित हो जाता था, उस समय वे व्यक्ति, जो किसी प्रकार का कोई उद्योग नहीं करते थे और उन्हें धन की आवश्यकता होती थी तो धनी व्यक्ति उन लोगों को दान देकर सहयोग भी करते थे तथा अमीरी और गरीबी के अन्तर को कम करते हुये दोनों के मध्य प्रेम बनाये रखते थे। इस प्रकार से उत्पादक और अनउत्पादक दोनों के मध्य प्रेम बना रहता था। वह व्यक्ति, जो धनी व्यक्ति से दान प्राप्त करता था, उसे दानदाता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करनी पड़ती थी और वह दानदाता की अनीति का भी विरोध नहीं कर पाता था।

दान का मनोवैज्ञानिक आधार यह था कि धर्मभीरु व्यक्ति अधर्म से अपनी रक्षा करना चाहता था और धार्मिक व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित रहना चाहता था इसलिये वह सामाजिक बदनामी से बचने के लिये कुछ ऐसे कार्य दान आदि के माध्यम से करना चाहता था जो उसके दुष्कर्मों पर पर्दा डालते थे। कोई भी याचक यह जानने का प्रयास नहीं करता कि दाता के पास ध ान किन स्त्रोतों से आया और वह किन विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यह दान कर रहा है। कहीं-कहीं याचक भी दानदाता को अपनी शठता का शिकार बना लेता है, उदाहरणार्थ- वामन के रूप में अवतरित भगवान विष्णु ने पाताल लोक के महादानी राजा बलि को अपनी शठता का शिकार बनाया।[३१] इसी प्रकार सतयुग में महादानी राजा हरिश्चन्द्र को स्वर्ग के देवताओं ने विश्वामित्र के माध्यम से षड़यन्त्र करके उन्हें ठगा और याचना करके उनका सब कुछ हरण कर लिया, परिणामस्वरूप उन्हें अपनी दानशीलता के कारण अनेक कठिनाइयों का सामना करना

पड़ा।[३२] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कभी-कभी याचक भी दानदाता को धर्मसंकट में डाल देता था।

दान और दक्षिणा का विश्लेषण- अधिकांश धर्मावलम्बी जो अधिक शिक्षित नहीं हैं, वे दान और दक्षिणा में विशिष्ट अन्तर नहीं कर पाते। जबकि व्याकरण शास्त्रियों के अनुसार इनमें व्यापक अन्तर हैं। दान भेंट के लिये प्रयुक्त होने वाला सामान्य शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति 'दा' धातु से हुयी है, जिसका अर्थ होता है-देना। अतः दान का सम्बन्ध देने प्रदान अथवा अर्पित करने, अनुदान करने, समर्पित करने एवं अदायगी के कृत्य से है। क्या और कब दिया जा रहा है इसकी परवाह किये विना। व्याकरण ग्रन्थ शब्दकल्पद्रुम के अनुसार दान को निम्न रूप में परिभाषित किया गया है-

''दान, अ आर्जवे। छिदि। इति कविकल्पद्रुमः।। ऋजुरवक्रस्तस्य भाव आर्ज्जवं ऋजुकरणम्। अ दीदांसति दीदांसते काष्ठं वर्द्धकिः ऋजु करोतीत्यर्थः। ऋजुभावः इति विद्यानिवासः। दीदांसति साधुः। ऋजुः स्यादित्यर्थः। छेदे दानति दानते। इति वोपदेवः। तत्र तिवादयो न स्युरिति रमानाथः।

अर्थानामुदिते पात्रे श्रद्धया प्रतिपादनम्। दानमित्यमिनिर्द्दिष्टं व्याख्यानं तस्य वक्ष्यते।। सम्प्रदानस्वत्वापाद कद्रव्यत्वागो दानमिति।।

दाता प्रतिग्रहीता च श्रद्धादेयंच धर्म्मयुक्। देशकालौ च दानानामङ्गन्येतानि षघिड्टुः।। मनसा पात्रमुद्दिश्य भूमौ तोयं विनिःक्षिपेत। विद्यते सागरस्यान्तो दानस्यान्तो न विद्यते।। परोक्षे करित्यतं दानं पात्राभावे कथं भवेत। गोत्रजेभ्यस्तथा दघात् तद्भावेय्स्य बन्धु वु।।''[३३]

रचनाकार के अनुसार- दान, वह धन है जो दानदाता द्वारा अर्जित किया जाता है और याचक को दान में दिया जाता है। यह धन धार्मिक कार्यों के लिये प्रदान किया जाता था। लोग इस धन को साधु-सन्तों, ऋषियों, विद्या दान देने वालों, देवताओं तथा आपत्तियों को दूर करने के लिये दिया करते थे। इस विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि दानदाता पहले धन अर्जित करता है फिर अर्जित धन को अपनी शक्ति के अनुसार याचक को विविध उद्देश्यों के लिये दान में देता है।

विश्लेषक यह विश्लेषण करता है कि दानदाता, अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में श्रद्धा के पात्र व्यक्ति को दान देता है। दान, आत्मनिर्भरता के अनुसार निर्दिष्ट कार्यों की व्याख्या करके आवश्यकतानुसार हस्तान्तरित किया जाने वाला धन है। यह दान आत्मसुख के लिये, परहित की भावना को ध्यान में रखकर दिया जाने वाला धन है, इसमें दानदाता अपनी श्रद्धा के अनुसार, धर्म में वर्णित नियमों के अनुसार देश, काल और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर, विविध कार्यों के लिये धन देता है, वह अपने मन से सुपात्र का चयन कर उसे भूमि, मुद्रा आदि सौंपता है। वह किसी विशिष्ट समस्या के अन्त के लिये याचक को धन दान देता है, वह खुद को, तुमको और दूसरे को सकुशल देखने के लिये दान देता है। वह अपने सम्बन्धियों को, अपने अधीन रहने वाले शिष्यों को, परिजनों को और निराश्रितों को दान देता है। वह अपने अस्तित्व को बनाये रखने के

लिये, गौ आदि पालन के लिये दान देता है। वह निवास स्थल बनाने के लिये, धर्मयुद्ध आदि के लिये, सामर्थ्य के अनुसार दान देता है। वह दया की भावना को हृदय में धारण करके गायों के संवर्द्धन के लिये भी दान देता है, इस प्रकार दाता भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न प्रकार से दान देता है। आपत्तिकाल में वह दान देना अपना कर्त्तव्य समझता है। वह दूसरों का कल्याण सोंचता हुआ, व्यक्तियों को विघ्न-बाधाओं से दूर करने के लिये भी दान देता है। इस प्रकार से दान देने में उसके धर्म की वृद्धि होती है। उसके गुणों का विस्तार होता है। आहार, मैथुन, निद्रा तथा अन्य नैमित्तिक कर्मों के अतिरिक्त व्यक्ति दान देकर देवलोक और पृथ्वीलोक में अपना स्थान बना लेता है। इस प्रकार वह अपने जीवन में ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। दान से उसके व्यक्तित्व के विविध पक्षों का विकास होता है। वह दान के ही कारण अपने देश में और परदेश में यश लाभ अर्जित करता है। दान के सम्बन्ध में यह धर्मिक विचारधारा भी प्रेरक होती है कि हम मणि, मुक्ता, धन सम्पत्ति आदि जो भी अर्जित करते हैं, वह मृत्यु के पश्चात् सब यहीं रह जाता है। किन्तु जो भी पुण्य कार्य, दान आदि अच्छे कर्म हम करते हैं, वही हमारा साथ देते हैं।

कूर्मपुराण में दान देने की विधि का विश्लेषण किया गया है इसमें गोदान, भूमिदान, स्वर्णदान आदि को देने की विधि बताई गई है। इस प्रकार से व्यक्ति अपने द्वारा किये गये पापों का प्रायश्चित भी करता है। यदि व्यक्ति दान आदि करता है तो उसे नाना प्रकार की व्याधियों से मुक्ति मिलती है, वह कुष्ठ रोग से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति दूसरों को अन्न दान करता है अथवा भोजन कराता है, उसे भी पुण्यलाभ होता है। यदि कोई ज्वर, भगन्दर तथा अन्य रोगों से ग्रसित होता है, उसे स्वर्णदान देने से लाभ होता है। जो व्यक्ति मोक्ष चाहता है वह गोदान करता है। नेत्ररोग से ग्रसित व्यक्ति को घृत, दधि आदि का दान देना चाहिए। नासिका रोग से ग्रसित व्यक्ति को सुगन्धित पदार्थ दान में देना चाहिए। कुष्ठ रोगी को तेल दान में देना चाहिए। जिह्वा रोग से ग्रसित व्यक्ति को स्वादिष्ट, रसदार फल का दान देना चाहिए। पित्त रोगियों को पित्तशमन करने वाले पदार्थ दान में देना चाहिए। दुबले व्यक्ति को स्वास्थ्यवर्द्धक पदार्थ दान में देने चाहिए। दुखी व्यक्ति को ऐसे पदार्थ का दान देना चाहिए जिससे उसकी प्रसन्नता बढ़े।

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि दान ही श्रेष्ठ कर्म है, दान ही श्रेष्ठ क्रिया है। इस प्रकार से दाति, दाशति, दासति, राति, रासति, यृणाक्षि, पृणाति, शिक्षति, तुंजति, महतः, दान के दस कर्म व धर्म हैं। इस प्रकार से श्रद्धापूर्वक जो व्यक्ति दान करता है, वह दीर्घ आयु धारण करता है, सुख भोगता है और मोक्ष प्राप्त करता है। इसलिये न्यायोचित यही होगा कि दान के माध्यम से उसका फल भोगा जाय। अध्यापन कार्य करने वाले को यजमान अपने घर में दान दे। इसी प्रकार व्यवसाय, कृषि तथा क्षत्रिय धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति घमंड को त्याग कर विद्वेष न रखता हुआ, दान को नैतिक कर्म समझता हुआ दान करे।

दान ईश्वर प्रदत्त वह उदात्त भावना है जो हमें ईश्वर के समान बना देती है। समस्त प्राणियों की बुद्धि में हम दान के कारण ही सदैव याद किये जाते हैं। इस प्रकार से हम इस पृथ्वी

में सदैव याद किये जाते हैं और पृथ्वी में सदैव के लिये अपना स्थान बना लेते हैं तथा वैदिक धर्म का अनुसरण करने वाले माने जाते हैं। भूमिदान से श्रेष्ठ दान, इस संसार में कोई दूसरा दान नहीं है, यह सब पापों से व्यक्ति को मुक्त कर देता है। इस प्रकार से ब्राह्मणों को भूमिदान देकर व्यक्ति पुण्यलाभ कर सकता है। इसी प्रकार तिल, शहद, गन्ध आदि वस्तुओं का भी दान दिया जा सकता है। जो व्यक्ति धर्म पर आस्था रखता है वह दान देकर अपने गृह में और संसार में लोकप्रियता प्राप्त करता है। दान, विद्वान, ब्राह्मण को देना चाहिए। विधाता को वही व्यक्ति प्रिय होता है, जो हृदय में दान की भावना रखता है। जो ब्राह्मणों को दान देता है, वह फल को प्राप्त करता है। जो वैश्य देव आराधना नहीं करता लेकिन दान देता है तो वह भी देवताओं का प्रिय हो जाता है। उस व्यक्ति का जन्म लेना व्यर्थ है जो धर्म का अनुसरण नहीं करता, ईश्वर की उपासना नहीं करता तथा परहित न सोंचकर दान भी नहीं करता। वेदों में भी दान न करने वाले व्यक्ति की सर्वत्र निन्दा की गई है और दान को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जो व्यक्ति किसी का अहसान नहीं मानता, वह पतित है, पापी है और उसकी सर्वत्र निन्दा होती है। उसका जन्म व्यर्थ है तथा वह कभी भी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

दक्षिणा– आध्यात्मिक विचारकों और धर्मशस्त्रियों के अनुसार दक्षिणा और दान दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित हैं किन्तु दोनों में व्यापक अन्तर है। यह शब्द व्याकरण की दृष्टि से स्त्रीलिंग का शब्द है जिसका विश्लेषण "दक्षते इति दक्षिणाः" होता है। मूल शब्द का अर्थ दक्षिण पक्ष, पवित्र एवं सम्मान का पक्ष होता है। इसका एक अर्थ उस यज्ञ को उत्तेजित एवं बलीभूत करना भी होता है जिसके उद्देश्य के लिये यज्ञ सम्पन्न करने वाले को दान दिया जाता है। अतः अर्थ विस्तार की दृष्टि से यह पुरोहित को दी जाने वाली भेंट अथवा दान अथवा यज्ञ की दक्षिणा कहलाने लगा। देवताओं को दी गयी दक्षिणा प्रतीकात्मक हो सकती है किन्तु पुरोहितों को दी जाने वाली दक्षिणा तो वास्तविक वस्तुओं की ही होनी चाहिये। इस प्रकार दक्षिणा, यज्ञ की समाप्ति पर पुरोहित को दी जाने वाली यज्ञीय फीस थी। व्याकरण ग्रन्थ शब्दकल्पद्रुम में दक्षिणा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है– "स्त्रीलिंग (दक्षते इति। दक्ष वृद्धौ "दुदक्षिभ्यामिनन्।" उणां।२।५०। इतिइनन्। ततष्ठाय।) दक्षिण दिक्। ततपर्य्यायः। अवाची २, शामनी ३, यामी ४, वैवस्वती ५। इति राजनिर्घण्टः। (यथा कुमारे।३।२५। "दिक दक्षिणा गन्ध वहं मुखेन व्यलोक निश्वासमिनोतूससर्ज।।")।[३४]

दक्षिण शब्द से एक प्रकार से दिशाबोध भी होता है, इसमें व्यक्ति दक्षिणमुखी होकर अपने दाहिने हाथ में मुद्रा, वस्तु इत्यादि धारण करके अपने मुख से यह संकल्प युक्त घोषणा करता है कि मैं षठरथ से युक्त अपने नेत्रों से देखता हुआ, अपनी शक्ति के अनुसार, वह सब पदार्थ अत्यन्त प्रसन्न मन से अब तुमको प्रदान करता हूँ और तुम्हें प्रसन्नचित्त से विदा करने हेतु यह हमारा उपहार है जो मैं तुम्हें उदारतापूर्वक देता हूँ। यह मेरी पैतृक सम्पत्ति है। यह दिशा के अधिपति वृषभ के कन्धों में रखकर तुमको प्रदान करता हूँ। यज्ञ आदि सम्पादित हो जाने के पश्चात् विविध प्रकार के दिये जाने वाले दान के उपरान्त दक्षिणा के देने का विधान है। जब कोई भी यज्ञ

अथवा धार्मिक कार्य किसी आचार्य, पुरोहित अथवा पुजारी द्वारा सम्पादित किया जाता है, उस समय यज्ञ का वास्तविक फल प्राप्त करने के लिये दक्षिणा देने का विधान है इससे जिस कर्मफल को प्राप्त करने के लिये यज्ञ किया जाता है उसकी पूर्णता दक्षिणा देने के बाद ही मानी जाती है तथा यजमान को दक्षिणा के उपरान्त ही समुचित फल की प्राप्ति होती है। ऋषि-मुनियों का यह कथन है कि यदि कर्ता अपने समस्त कर्मों को पूर्ण कर लेता है और दक्षिणा नहीं देता तो उसे न तो कर्म का फल मिलेगा और न ही देवताओं का स्नेह। इसलिये शुभ मुहूर्त में अपने आचार्य को सम्मानित करते हुए, उसके प्रति कुभाव न रखते हुए, पवित्र हृदय से उसे दक्षिणा देनी चाहिए। इसलिये अच्छे मुहूर्त में, जब अच्छा मास हो और अनुकूल ग्रह हों, उस समय आचार्य को सम्मानित करके दक्षिणा देनी चाहिए। कोई भी यजमान चाहे कितने अच्छे चरित्र व गुण वाला हो तथा कितना भी अच्छा कर्म करता हो, वह किसी भी समुचित फल को प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह आचार्य को दक्षिणा देकर सम्मानित नहीं करता। वह कालान्तर में दरिद्र हो जायेगा। उसके द्वारा अर्जित लक्ष्मी नष्ट हो जायेगी, आचार्य द्वारा दिये गये श्राप से वह दारुण दुख पायेगा। जिस प्रकार से हम अपने गृहों में पितरों को तर्पण करके उनके प्रति श्रद्धा अर्पित करते हैं और देवताओं का पूजन करके उनका वरदान प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार हम पृथ्वी के गुरु, आचार्य, ब्राह्मणों और पुजारियों का आशीर्वाद उन्हें समुचित दक्षिणा देकर प्राप्त कर सकते हैं। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम पतित होवेंगे, हमें कुम्भीपाक नरक का दुख झेलना पड़ेगा। प्रतिकूल कर्मों के कारण हमें यमदूत की ताड़ना सहन करनी पड़ेगी। यदि हमारा दुबारा मनुष्य योनि में जन्म होता है तो हम या तो चण्डाल बनेंगे अथवा दरिद्र के घर में पैदा होंगे और नाना प्रकार की व्याधियों से पीड़ित रहेंगे।[३५] यदि व्यक्ति गौरव प्राप्त करना चाहता है और प्रेम और सद्भाव बनाये रखना चाहता है तो वह अपने आचार्यों, गुरुओं को यथाशक्ति दक्षिणा अपनी बुद्धि और क्षमता के अनुसार दे, इसी में उसका कल्याण है। इसीलिये दक्षिण दिशा में दाहिने हाथ से अनुकूल मन से दक्षिणा देने का विधान है।

इससे यह सिद्ध होता है कि दक्षिणा धर्म, संस्कार की समाप्ति के पश्चात् आचार्यों को दिया जाने वाला पारिश्रमिक है। धर्मग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि दान करते समय दान देने वाले के हाथ में जल गिराना चाहिए।[३६] दान में जब आचार्य दान के पश्चात् जल का प्रयोग करता है, तभी वह दक्षिणा का अधिकारी होता है। किन्तु वैदिक यज्ञों में इसके नियमों में कुछ अन्तर है। सभी प्रकार के दानों में दक्षिणा अनिवार्य है। अग्नि पुराण के अनुसार "सोने, चाँदी, ताम्र, चावल, अन्न के दान में तथा आह्निक श्राद्ध एवं आह्निक देवपूजा के समय दक्षिणा देना अनिवार्य नहीं है।[३७] प्राचीन काल में दक्षिणा सोने के रूप में ही दी जाती थी, किन्तु स्वर्ण के दान में चाँदी की दक्षिणा दी जाती थी। जब बहुमूल्य वस्तुएं दान में दी जाती थीं और तुला दान किया जाता था, उस समय दान में दक्षिणा एक सौ या पचास या पचीस अथवा दस सिक्कों में दी जाती थी अर्थात् दान की हुई वस्तु का दसवाँ भाग दक्षिणा के रूप में होता था। जो आचार्य किसी धार्मिक, सांस्कृतिक कार्य में दक्ष होता था और वह कुशलतापूर्वक उस धार्मिक और सांस्कृतिक कार्य को सम्पन्न कराता था तो यज्ञ कराने

वाला यजमान उसे उसका पारिश्रमिक दक्षिणा के रूप में देकर उसे सम्मानित करता था।

दाता– जो व्यक्ति साधन सम्पन्न है, और बिना किसी स्वार्थ भाव के समाज, राष्ट्र और विश्व के कल्याणार्थ धन, सम्पत्ति, बुद्धि और श्रम दूसरों को प्रदान करता है, वह दाता कहलाता है, इन दाताओं को हम निम्न कोटियों में बाँट सकते हैं-

१. परमात्मा– समस्त धर्मों के अनुसार सृष्टि की सृजनकर्ता एक ऐसी महाशक्ति है जिसने सम्पूर्ण सौर्यमण्डल का निर्माण किया है तथा उसमें अनेक गृहों में पंचमहाभूतों को उत्पन्न किया है। उन पंचमहाभूतों के योग से चर-अचर, जड़ और चेतन, लघु और दीर्घ प्राणियों को उत्पन्न किया है तथा उनके उपयोग के लिये विभिन्न प्रकार की वस्तुएं उत्पन्न की हैं। सम्पूर्ण वस्तुओं के विकास और विनाश को समय अवधि में बाँटकर विश्व को अनवरत् बनाये रखने की क्रिया को जन्म दिया।

''द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च। वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्वतः।।
द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च। यद्नुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया।।
कालो देशः क्रिया कर्ता करणं कार्यामागमः। द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरिः।।''[३८]

उपरोक्त श्लाकों के अनुसार परमब्रह्म सर्वव्यापी है, वह ज्ञान में, देवताओं में, काल में, सभी देशों में, हमारे कार्यकलापों में, द्रव्य में, फलों में, स्वभाव में, प्रत्येक जीव में, सर्वलोकों में, सभी योगों में व्याप्त है अर्थात् यह सर्वव्यापी ब्रह्म और ईश्वर समस्त लोकों का स्वामी है तथा वही जन्मदाता, आकृतिदाता, बुद्धिदाता तथा समस्त पदार्थों का दाता है। हमारे पास जो भी है, वह अपना नहीं है, परमब्रह्म परमात्मा का ही है। हम याचक हैं और वह दाता है।

श्रुतियों में परमात्मा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है- ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म'' अर्थात् जिस महाशक्ति से ये सभी जीव प्रकट होते हैं, प्रकट होकर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं और जिसमें विलीन हो जाते हैं, एकमात्र वही जानने योग्य है और वही ब्रह्म है।

उपनिषदों में परम् ब्रह्म को इस प्रकार से परिभाषित किया गया है-

''एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार का सबसे बड़ा दाता परमब्रह्म परमेश्वर ही है।

२. देवता– परम्ब्रह्म परमेश्वर के अतिरिक्त भारतीय आध्यात्म विज्ञान में वैदिक काल से ही देवताओं की परिकल्पना की गई है। ये देवता परमात्म प्रशासन के ही अंग हैं और अलग-अलग गुणों और विभागों के धारक हैं। यही देवता परमात्मा की सत्ता में विभिन्न प्रकार के जीवजगत के लिये संसाधन प्रदान करते हैं। ये देवता निम्नलिखित हैं-

१. पृथ्वी– सम्पूर्ण मानव और जीवजगत पृथ्वी में निवास करता है, वह इसकी भूमि को आवास के लिये तथा इसमें उत्पन्न संसाधनों को अपने जीवन के विकास के लिये उपयोग में लाता है। इस प्रकार पृथ्वी को ही सर्वप्रथम देव के रूप में मान्यता दी जा सकती है-

''असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्धृतः प्रवतः समंबहु।
नानवीर्या ओषधीर्या विभर्ति पृथिवी नः पृथतां राध्यतामः।।
यस्यां समुद्र उत सिन्धु रापो यस्मामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु।।''[३६]

उपरोक्त श्लोकों के अनुसार पृथ्वी अत्यन्त विस्तृत है। इसमें नाना प्रकार के वृक्ष, लतायें लहराती रहती हैं। यह लतायें रोगयुक्त प्राणियों को औषधियाँ प्रदान करती हैं और हमारी समृद्धि करती हैं। यह पृथ्वी, समुद्र, सरिता तथा तालाबों के माध्यम से जल प्रदान करती है, जिसके माध्यम से फल, फूल और अन्न उत्पन्न होता है, जो हमारी भोज्य सामग्री का साधन है, इसलिये यह पृथ्वी हमारी देवता है।

२. इन्द्र- वेदों में और अन्य धर्मग्रन्थों में इन्द्र को जल का देवता माना गया है। यह स्वर्गलोक का स्वामी है तथा वर्षा ऋतु में मेघों के माध्यम से वह जल बरसाकर हमारी प्यास बुझाता है। इसलिये वह हमारा पिता तुल्य है।

''यत् ते मध्य पृथिवियच्चनव्यं यास्त ऊर्ज स्तन्वऽः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यांभि न पवस्य माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।।''[४०]

अर्थात् इन्द्र पृथ्वी के मध्य में विराजता है और वह हमारा पिता है। वह हमें जल न प्रदान करे तो हमारा जीवन संभव नहीं है।

''यः पृथिवीं व्ययमानामदृहद्, यः पूर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो, यो धामस्तम्नात् स जनास इन्द्रः।।
आशुःशिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनो निमिष एक वीरः शत सेना अजयत् साकमिन्द्रः।।
येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि, यो दास वर्णमधरं गुहाकः।
श्वध्नीव यो जिगीवाँल्लक्षमादद् अर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः।।''[४१]

अर्थात् जिन्होंने हिलती हुयी पृथ्वी को स्थिर किया, जिन्होंने कुपित हुए पंखों से युक्त हुए पर्वतों को अपने-अपने स्थान पर नियमित कर दिया, जिन्होंने विस्तृत अन्तरिक्ष की रचना की और जिन्होंने द्युलोक थामा है, वही इन्द्र है।

''जिन्होंने इन सभी नश्वर भुवनों को स्थिर किया है, जिन्होंने दास (शूद्रादि) वर्णों को गुफा आदि स्थानों में स्थापित कर दिया है, जिन्होंने लक्ष्य को जीत लिया है और जिन्होंने शत्रुओं के धुनों को उसी प्रकार छीन लिया है जिस प्रकार शिकारी छीन लेता है, वही इन्द्र है।''

देवताओं में इन्द्र का महत्वपूर्ण स्थान है, इसीलिये उसे महान देवता, सुख और शीतलता का देने वाला माना जाता है।

३. विष्णु- वेदों के अनुसार विष्णु को महान देवता माना गया है। इस देवता ने ही पृथ्वी,

उसके परमाणु अर्थात् पंच तत्वों से सभी लोकों की रचना की है तथा तीन लोकों को आश्रय प्रदान किया है, इसलिये विष्णु ही सृष्टि सृजेता है और वह इन्द्र का बड़ा भाई है।

''विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोच यः पार्थिवानि विनमे रंजासि।
यो अस्कं भायदुत्तरं सुधस्थं विचक्रमाणस्त्रे धोरु गायः।।''[४२]

अर्थात् हे मनुष्यो! मैं व्यापनशील विष्णु देवता के वीर कार्यों को बहुत शीघ्र कहता हूँ। जिस विष्णु ने पृथ्वी सम्बन्धी रजकणों अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य आदि विशेष लोकों की विशेष रूप से रचना की और जिस विष्णु ने तीन प्रकार से या तीन डगों में अपने बनाये हुए लोकों को लाँघते हुए एवं महान पुरुषों से स्तुति किये जाते हुए होकर ऊँचे या अति उत्कृष्ट तीनों लोकों के आश्रयभूत साथ रहने के स्थान को स्तम्भित किया, आधार रूप से बनाया।

''इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पाँसुरे स्वाहा।।[४३]

अर्थात् सर्वव्यापी परमात्मा विष्णु ने इस जगत को धारण किया है और वे ही पहले भूमि, दूसरे अन्तरिक्ष और तीसरे द्युलोक में तीन पदों को स्थापित करते हैं, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त हैं। इन विष्णु देव में ही समस्त विश्व व्याप्त है। हम उनके निमित्त हवि प्रदान करते हैं।

''दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या, महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा, प्र यच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वां।।''[४४]

अर्थात् हे विष्णु! आप अपने अनुगृह से समस्त जगत को सुखों से पूर्ण कीजिये और भूमि से उत्पन्न पदार्थ और अन्तरिक्ष से प्राप्त द्रव्यों से सभी सुख निश्चय ही प्रदान करें। हे सर्वान्तर्यामी प्रभु! दोनों हाथों से समस्त सुखों को प्रदान करने वाले विष्णु! हम आपको सुपूजित करते हैं।

''वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।''[४५]

अर्थात् अज्ञानान्धकार से परे आदित्य-प्रतीकात्मक उस सर्वोत्कृष्ट पुरुष को जानता हूँ। मात्र उसे जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण होता है। शरण के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं।

''प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।।''[४६]

वह परमात्मा आभ्यन्तर में विराजमान है। उत्पन्न न होने वाला होकर भी नाना प्रकार से उत्पन्न होता है। संयमी पुरुष ही उसके स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं। सम्पूर्ण भूत उसी में सन्निविष्ट है।

विष्णु और नारायण पौराणिक दृष्टि से एक ही देवता हैं, वे अन्धकार से किसी भी व्यक्ति को सूर्य के आलोक में ले जाते हैं और व्यक्ति के विनाश में उसके सहयोगी बनकर उसे विनाश से बचाते हैं। यही परमात्मा है, उत्पन्न न होते हुए भी वह जीवमात्र के प्राणों में रहते हैं तथा संयमी पुरुष को दर्शन भी देते हैं।

४. श्री अथवा लक्ष्मी– संसार में रहने वाले व्यक्ति के लिये उपयोगी संसाधन बहुत आवश्यक है। व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं शारीरिक विकास के लिये भौतिक संसाधनों की बहुत आवश्यकता है इसलिये श्री अथवा लक्ष्मी की परिकल्पना वेदों में की गई है। यह देवी भौतिक सुखों को प्रदान करने वाली तथा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करने वाली है। इससे सम्बन्धित सूक्त वेदों में इस प्रकार उपलब्ध होते हैं-

"हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्त्रजाम। चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह।।"[४७]

अर्थात् हे जातवेदा सर्वज्ञ अग्निदेव! सुवर्ण जैसी रंगवाली, किंचित हरितवर्णविशिष्टा, सोने और चाँदी के हार पहनने वाली, चन्द्रवत् प्रसन्नकान्ति, स्वर्णमयी लक्ष्मीदेवी को मेरे लिये आवाहन करो।

"कां सोस्मितां हिरण्यप्राकारामार्दां, ज्वलन्तीं तृप्तीं तर्पयन्तीम्।
पद्मेस्थितां पद्मवर्णां, तामिहोष हये श्रियम्।।"[४८]

जो साक्षात ब्रह्मरूपा, मन्द-मन्द मुस्कुराने वाली, सोने के आवरण से आवृत्त, दयार्द्र, तेजोमयी, पूर्णकामा, भक्तानुग्रहकारिणी, कमल के आसन पर विराजमान तथा पद्मवर्णा हैं, उन लक्ष्मीदेवी का मैं यहाँ आवाहन करता हूँ।

वेदों में यह वर्णन उपलब्ध होता है कि लक्ष्मी सर्वज्ञ है, अग्नि के समान सुनहरे रंग वाली है, हरिवर्ण के वस्त्र धारण करती है, रत्नयुक्त आभूषण धारण करती है। वह साक्षात ब्रह्मरूपा है, सदैव प्रसन्न रहने वाली है, सभी की इच्छाओं को पूरा करने वाली है। उसका कमलवर्णीय शरीर कमल के समान कोमल है, वह सभी प्राणियों के मनोरथों को पूर्ण करती हैं।

५. देवी (शक्ति)– वेदों में वर्णित शक्ति का एक स्वरूप और भी है, यह स्वरूप समस्त चराचर, देव और प्राणियों में सदैव विद्यमान रहता है, देवी का यह स्वरूप अदृश्य रहता हुआ भी दृश्य है। यह समस्त सृष्टि का सृजन करने वाली और विनाशकारिणी भी है।

"अहं रुदेभिर्वसुमिश्चराम्य हमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।।"[४९]

अर्थात् ब्रह्मस्वरूपा ! मैं रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वदेवता के रूप में विचरण करती हूँ, अर्थात् मैं ही उन-उन रूपों में भास रही हूँ। मैं ही ब्रह्मरूप से मित्र और वरुण दोनों को धारण करती हूँ। मैं ही इन्द्र और अग्नि का आधार हूँ। मैं हीं दोनों अश्विनी कुमारों का भी धारण-पोषण करती हूँ।

"अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहंत्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते।।"[५०]

मैं ही शत्रुनाशक, कामानि दोष-निवर्तक, परमाह्मलाददायी, यज्ञगत सोम, चन्द्रमा, मन अथवा शिव का भरण-पोषण करती हूँ। मैं ही त्वष्टा, पूषा और भग को भी धारण करती हूँ। जो यजमान यज्ञ में सोमाभिषव के द्वारा देवताओं को तृप्त करने के लिये हाथ में हविष्य लेकर हवन

करता है, उसे लोक-परलोक में सुखकारी फल देने वाली मैं ही हूँ।

''अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।।''[५१]

मैं ही राष्ट्री अर्थात् सम्पूर्ण जगत की ईश्वरी हूँ। मैं उपासकों को उनके अभीष्ट वसु-धन प्राप्त कराने वाली हूँ। जिज्ञासुओं के साक्षात् कर्तव्य परब्रह्म को अपनी आत्मा के रूप में मैंने अनुभव कर लिया है। जिनके लिये यज्ञ किये जाते हैं, उनमें मैं सर्वश्रेष्ट हूँ। सम्पूर्ण प्रपंच के रूप में मैं ही अनेक सी होकर विराजमान हूँ। सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर में, जीवरूप में, मैं अपने आप को ही प्रविष्ट कर रही हूँ। भिन्न-भिन्न देशकाल, वस्तु और व्यक्तियों में जो कुछ हो रहा है, किया जा रहा है, वह सव मुझमें, मेरे लिये ही किया जा रहा है। सम्पूर्ण विश्व के रूप में अवस्थित होने के कारण जो कोई जो कुछ भी करता है, वह सब मैं ही हूँ।

'' अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शखे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश।।''[५२]

अर्थात् मैं ही ब्रह्मज्ञानियों के द्वेषी हिंसारत त्रिपुरवासी त्रिगुणाभिमानी अहंकार-असुर का वध करने के लिये संहारकारी रुद्र के धनुष पर ज्या (प्रत्यञचा) चढ़ाती हूँ। मैं ही अपने जिज्ञासु स्तोताओं के विरोधी शत्रुओं के साथ संग्राम करके उन्हें पराजित करती हूँ। मैं ही द्युलोक और पृथ्वी में अन्तर्यामिरूप से प्रविष्ट हूँ।

वेदों में देवी का स्वरूप जन्म देने वाली माता के रूप में आता है, उसने रुद्र, वसु तथा आदित्य जैसे विश्व देवताओं को जन्म दिया है, वही ज्ञान की देवी है, वही योगमाया है, वही शत्रुविनाशिनी शक्ति है। सोम, चन्द्र, मन और शिव का भरण-पोषण करती है, वही कर्मफल की दात्री है और वही शरीर की आत्मा भी है। यदि शक्ति आकृति प्रदान न करती, तो त्रिभुवन न होते और त्रिभुवन में उत्पन्न देव, असुर, नर और पशु कुछ भी न होते। इसलिये वह वास्तविक श्रद्धा की पात्रा है और सब कुछ प्रदान करने वाली है।

६. रुद्र (शिव)- वेदों में शिव नाम का कोई देवता नहीं है। बल्कि पुराणों में वर्णित रुद्र को ही शिव मानते हैं। वेदों के अनुसार रुद्र, पर्वतों में रहने वाला ऐसा देवता है, जो अत्यन्त बलशाली, क्रोध से महाविनाश को जन्म देने वाला तथा शत्रुओं का नाश करने वाला है। वह विविध प्रकार के आयुध, धनुष-बाण, त्रिशूल का धारण करने वाला है। उसके शरीर का रंग ताम्रवर्णी है। वह संसार के निर्बल प्राणियों का रक्षक है और दुष्टों का संहारक है। उसके शिष्य भी रुद्र के नाम से विख्यात हैं।

''अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक।
अहींश्च सर्वांजम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परा सुव।।''[५३]

अर्थात् शास्त्रसम्मत वचन बोलने वाले देवहितकारी, परम रोगनाशक, प्रथम पूज्य रुद्र हमें श्रेष्ठ कहें और सर्पादि का विनाश करते हुए सभी अधोगामिनी राक्षसियों आदि को भी हमसे

दूर करे।

''असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमंगलः।

ये चैनँ, रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्त्रशोऽवैषाँ, हेड ईमहे।।''[५४]

अर्थात् ये जो ताम्र, अरुण और पिंगल-वर्ण वाले मंगलमय सूर्यरूप रुद्र हैं और जिनके चारो ओर से सहस्त्रों किरणों के रूप में रुद्र हैं। हम भक्ति द्वारा उनके क्रोध का निवारण करते हैं।

''असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।

उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्य स दृष्टो मृऽयाति नः।।''[५५]

अर्थात् ये जो विशेष रक्तवर्ण सूर्यरूपी नीलकंठ रुद्र गतिमान हैं, जिन्हें गोप देखते हैं, जल वाहिकायें देखती हैं, वह हमारे द्वारा देखे जाने पर हमारा मंगल करे।

वेदों में रुद्र का जो स्वरूप दिया है, उससे यह प्रकट होता है कि रुद्र धर्म अनुकूल देवहित चिन्तन करने वाले और व्यक्तियों की दरिद्रता दूर करने वाले हैं। इनके शरीर में सूर्य के समान तेज है तथा इनके शिष्य भी इनकी आज्ञा का अनुसरण करते हैं। रुद्र क्रोध में रक्त वर्ण तथा विष शमन की क्षमता रखने वाले देव हैं। कुम्भ से शीतल जल द्वारा स्नान कराये जाने पर वह प्रसन्न हो जाते हैं। वे महान दाता हैं।

७. गणपति- शास्त्रों के अनुसार गणपति प्रथम पूज्यदेव हैं। कोई भी मांगलिक कार्य करते समय सर्वप्रथम गणेश को स्थापित किया जाता है। यही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के दाता हैं। परन्तु इतिहासवेत्ताओं के अनुसार- गणपति, गणों के स्वामी को कहते थे। जिसका मस्तिष्क सामान्य व्यक्ति से अधिक बड़ा, जिसके कर्ण सब की बात सुनने में समर्थ, जो सूक्ष्मदृष्टा, सूंघ-सूंघ कर कदम रखने वाला तथा सब कुछ पचाने की क्षमता रखने वाला व्यक्ति होता था, वही गणपति या गणेश होता था। वह सबका कल्याण चाहता था, इसलिये वह शिव का पुत्र है। किसी भी प्रकार से वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता था, इसलिये उसकी दो पत्नियाँ रिद्धि और सिद्धि हैं। वह हमेशा शुभ सोचता था और जनता के लाभ की बात सोचता था, इसलिये शुभ और लाभ उनके दो पुत्र हैं। इस प्रकार गणेश हाथी का सिर धारण करने वाले, एक दाँत धारण करने वाले, बड़ा पेट धारण करने वाले देव थे। उन्हें गजानन, लम्बोदर, गणेश, भवानीनन्दन आदि नामों से पुकारा जाता था।

''ॐ नमस्ते गणपतये। त्वमेव प्रत्यक्षं तत्वमसि। त्वमेव केवलं कर्तासि। त्वमेव केवलं धर्तासि। त्वमेव केवलं हर्तासि। त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मसि। त्वं साक्षादात्मासि नित्यम।।''[५६]

अर्थात् गणपति को नमस्कार है, तुम्ही प्रत्यक्ष तत्व हो, तुम्ही केवल कर्ता, तुम्हीं केवल धारणकर्ता और तुम्हीं केवल संहारकर्ता हो, तुम्ही केवल समस्त विश्वरूप ब्रह्म हो और तुम्हीं साक्षात नित्य आत्मा हो।

''त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मयः। त्वमानन्द मयस्त्वं ब्रह्ममयः। त्वं सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि।

त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि।''[५७]

अर्थात् तुम वाङ्मय हो, तुम चिन्मय हो। तुम आनन्दमय हो, तुम ब्रह्ममय हो। तुम सच्चिदानन्द, अद्वितीय परमात्मा हो। तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुम ज्ञानमय हो, विज्ञानमय हो।

''त्वं गुणत्रयातीतः। त्वं कालत्रयातीतः। त्वं दंहत्रयातीतः। त्वं मूलाधर स्थितोऽसि नित्यम्। त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वं वायुस्त्वं चन्द्रमास्त्वं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्।।''[५८]

अर्थात् तुम सत्व-रज-तम इन तीनों ही गुणों से परे हो। तुम भूत-भविष्यत-वर्तमान इन तीनों कालों से परे हो, तुम स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों देहों से परे हो। तुम नित्य मूलाधार चक्र में स्थित हो। तुम प्रभु-शक्ति, उत्साह-शक्ति और मंत्र शक्ति इन तीनों शक्तियों से संयुक्त हो। योगिजन नित्य तुम्हारा ध्यान करते हैं। तुम ब्रह्मा हो, तुम विष्णु हो, तुम रुद्र हो, तुम इन्द्र हो, तुम अग्नि हो, तुम वायु हो, तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो, तुम सगुण ब्रह्म हो। तुम (निर्गुण) त्रिपाद भूः भुवः स्वः एवं प्रणव हो।

'' एक दन्तं चतुर्हस्तं पाशमंकुश। रदं च वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम्।।
रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम्। रक्तगन्धानुलिप्ताङ्ग रक्तपुष्पैः सुपूजितमं।।
भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम्। आविर्भूतंच सृष्टयादौ प्रकृतेः पुरुषात्परम्।।
एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां वरः।।''[५९]

अर्थात् गणपतिदेव एकदन्त और चतुर्बाहु हैं। वे अपने चार हाथों में पाश, अंकुश, दन्त और वरमुद्रा धारण करते हैं। उनके ध्वज में मूषक का चिन्ह है। वे रक्तवर्ण, लम्बोदर, शूर्पकर्ण तथा रक्तवस्त्रधारी हैं। रक्त चन्दन के द्वारा उनके अंग अनुलिप्त हैं। वे रक्तवर्ण के पुष्पों द्वारा सुपूजित हैं। भक्तों की कामना पूर्ण करने वाले, ज्योतिर्मय, जगत के कारण, अच्युत तथा प्रकृति और पुरुष से परे विद्यमान वे पुरुषोत्तम सृष्टि के आदि में आविर्भूत हुए। इनका जो इस प्रकार नित्य ध्यान करता है, वह योगी-योगिनियों में श्रेष्ठ हैं।

वेदों में गणपति को सर्वशक्तिमान देवता के रूप में माना गया है, वे वक्ता, श्रोता और धाता की रक्षा करते हैं। वे आचार्य और शिष्य की भी रक्षा करते हैं। वे कुशल चिन्तक, आनन्ददाता, अध्यात्मविज्ञ, परमात्मा तथा ब्रह्म के समान हैं। उन्हें संसार के तीन गुण सत्, रज, तम् प्रभावित नहीं करते। उन्हें काल नष्ट नहीं कर सकता। वे शक्ति, उत्साह और मन्त्र से युक्त हैं और वे निर्गुण और सगुण दोनों ही रूप में दिखाई देते हैं। गणपति देव एकदन्त और चार भुजा धारण करने वाले हैं। वे अपने चारो हाथों में पाश, अंकुश, दन्त और वरमुद्रा धारण करते हैं।

८. **सूर्य-** सूर्य सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करने वाले देव हैं। वे अपने नेत्रों की ज्योति से संसार को प्रकाशित करते हैं। वे संसार की आत्मा हैं। सत्कर्मों के प्रेरक हैं और प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाले हैं। इसलिये सूर्य पृथ्वी के प्राणियों को विविध यथार्थ बोध प्रदान करने वाले देव हैं।

''तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरूपस्थे।

अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति।।"[६०]

अर्थात् प्रेरक सूर्य, प्रातःकाल मित्र, वरुण और समग्र सृष्टि को सामने से प्रकाशित करने के लिये प्राची के आकाशीय क्षितिज में अपना प्रकाशक रूप प्रकट करते हैं। इसकी रसमोजी रश्मियाँ अथवा हरे घोड़े बलशाली रात्रिकालीन अन्धकार के निवारण में समर्थ, विलक्षण तेज धारण करते हैं। उन्हीं के अन्यत्र जाने से रात्रि में काले अन्धकार की सृष्टि होती है।

"अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः।।"[६१]

अर्थात् हे प्रकाशमान् सूर्य-रश्मियो ! आज सूर्योदय के समय इधर-उधर बिखर कर तुम लोग, हमें पापों से निकालकर बचा लो। न केवल पाप से ही प्रत्युत जो कुछ निन्दित है, गर्हणीय है, दुःख-दारिद्रय है, सबसे हमारी रक्षा करो। जो कुछ हमने कहा है मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथ्वी और द्युलोक के अधिष्टातृ देवता उसका आदर करें, अनुमोदन करें, वे भी हमारी रक्षा करें।

पृथ्वी में मुख्य रूप से पाँच देवताओं की उपासना होती है, उनमें सूर्य का प्रमुख स्थान है।

"अयं बेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपाँ, संगमें सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति।।"[६२]

अर्थात् जल के निर्माण के समय यह ज्योतिर्मण्डल से आवृत्त चन्द्रमा अन्तरिक्षीय जल को प्रेरित करता है। इस जल समागम के समय ब्राह्मण सरल वाणी से वेन (चन्द्रमा) की स्तुति करते हैं।

"तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं संजभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै।।"[६३]

अर्थात् सूर्य का देवत्व तो यह है कि ये ईश्वर-सृष्ट जगत के मध्य स्थित हो समस्त ग्रहों को धारण करते हैं और आकाश से ही जब हरित वर्ण की किरणों से संयुक्त हो जाते हैं तो रात्रि सबके लिये अन्धकार का आवरण फैला देती है।

सूर्य को हम अपना उपास्य देव मानते हैं। वह वाष्पीकरण के माध्यम से जल का निर्माण करता है तथा सूर्य के ज्योतिर्मण्डल से घिरा हुआ चन्द्रमा ज्वार-भाटा के माध्यम से जल को अपनी ओर आकर्षित करता है। समस्त ग्रह, सूर्य के गुरुत्वाकर्षण से बंधे हुए हैं तथा उसके चारो ओर चक्कर लगाते हैं तथा ये सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं। रात्रि में जब अन्धकार होता है तो यही नक्षत्रगण पृथ्वी को लघु प्रकाश प्रदान करते हैं। सूर्य ही वरुण है, सत्य को दर्शाने वाला है तथा वृष्टि का कारक है। सूर्य से ही हमारे पाप नष्ट होते हैं।

६. अग्नि– वैदिक युग में अग्नि का विशेष महत्व था, क्योकि कोई भी यज्ञ तथा धार्मिक और सामाजिक संस्कार बिना अग्नि के पूर्ण नहीं हो सकते थे। अग्नि सर्वव्यापी है तथा यह जातवेद के नाम से भी विख्यात है। भूमण्डल में व्याप्त प्रमुख तत्वों में अग्नि का विशेष महत्व है। तीन प्रकार

की अग्नियाँ विश्व में उपलब्ध होती हैं-

अ. जठराग्नि- जो हमारे शरीर में निवास करती है।

ब. दावाग्नि- जो समस्त वनों में निवास करती है।

स. बड़वाग्नि- जो समुद्र में निवास करती है।

इसके अतिरिक्त दो प्रकार की और अग्नियाँ अस्तित्व में हैं परन्तु वे दिखलाई नहीं देती, ये हैं-

क. क्रोधाग्नि ख. कामाग्नि

''अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम्।।''[६४]

अर्थात् अग्नि ही पुष्टिकारक, बलयुक्त और यशस्वी अन्न प्रदान करते हैं। अग्नि से ही पोषण होता है, यश बढ़ता है और वीरता से धन प्राप्त होता है।

''स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये।।''[६५]

अर्थात् हे अग्नि! जिस प्रकार पिता-पुत्र के कल्याणकारी काम में सहायक होता है, उसी प्रकार आप हमारे कल्याण में सहायक हों।

अग्नि हमारे जीवन का मूल अंग है, यह हमें ऊष्णता प्रदान करती है। इसकी न्यूनता और अधिकता से ऋतु का बोध होता है। यह पृथ्वी का जल शोषण करके वर्षा का कारण बनती है। यह यज्ञों को सम्पन्न करती है, यह रात्रि के अन्धकार में प्रकाश देती है, दिशाबोध कराती है, यह हमारी पाकशाला में भोजन पकाने में सहयोग प्रदान करती है। पृथ्वी में यह अग्नि ज्वलनशील पदार्थों में गोपनीय ढंग से छिपी रहती है तथा घर्षण के माध्यम से यह प्रज्जवलित होती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक यह हमारे समस्त कार्यों में सहयोगी है।

१०. यम- वेदों के अनुसार यम व्यक्ति को जीवन के अन्त में, कर्म के फलों के अनुसार सुगति देने वाले देवता हैं। ये योगमार्ग के दृष्टा, विवस्वान के पुत्र हैं। यम अन्तिम न्यायकर्ता हैं, इनके फैसले को कोई परिवर्तित नहीं कर सकता। यम, पितरों और बृहस्पति की सहायता से उत्कर्ष पाते हैं और पितरों के लिये यज्ञ करने में आहुति देने पर इन्हें प्रसन्न किया जा सकता है। यम, भूत, पिशाचों और असुरों को दुर्गति प्रदान करते हैं। यम के मार्गरक्षक चार नेत्रों वाले स्वान हैं। यम के दूत लम्बी नासिका वाले, व्यक्ति के प्राणों को अपने अधिकार में रखने वाले और महापराक्रमी हैं, जो सर्वत्र पृथ्वी में घूमते रहते हैं। यह प्राणियों का राजा है, जिसके अधीन सुगति और दुर्गति हैं।

''परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य।।''[६६]

अर्थात् उत्तम पुण्यकर्मों को करने वालों को सुखद स्थान में ले जाने वाले, बहुतों के हितार्थ योगमार्ग के दृष्टा, विवस्वान के पुत्र, यम को हवि अर्पण करके उनकी सेवा करें, जिनके पास मनुष्यों को जाना ही पड़ता है।

"यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः।।"[६७]

अर्थात् पाप-पुण्य के ज्ञाता, सबमें प्रमुख, यम के मार्ग को कोई बदल नहीं सकता। पहले जिस मार्ग से हमारे पूर्वज गये हैं, उसी मार्ग से अपने-अपने कर्मानुसार हम सब जायेंगे।

यम के सन्दर्भ में पुराणों में यह वर्णन प्राप्त होता है कि यम सूर्य का पुत्र है, उसका वाहन भैंसा है, तथा एक फंदा वह हमेशा अपने हाथ में लिये रहता है। वह समय का निर्माता भी है। आठो याम, यम, नियम, संयम, पल, घटिका, मुहूर्त, शुक्ल पक्ष, कृष्ण पक्ष तथा संवत्सर का निर्माता भी यही है। यम से काल बोध होता है तथा यही जन्म से लेकर मृत्यु तक शरीर के विभिन्न परिवर्तनों के बारे में बोध कराता है, इसे हम मृत्यु के देवता के रूप में मान्यता देते हैं और यह मानते हैं कि यही कर्मफल के अनुसार स्वर्ग और नरक का दाता भी है।

११. पितर और माता-पिता- व्यक्ति जिस किसी परिवार में रह रहा है उसको अपना जीवन पितरों से ही मिलता है। जिस सम्पत्ति का वह भोग करता है, वह भी उसे पितरों से ही प्राप्त होती है। वह अपने मस्तिष्क और शरीर में कुछ ऐसे गुण धारण करता है जो उसे पितरों से प्राप्त होते हैं, इसलिये वह अपने पूर्वजों का कृतज्ञ रहता है तथा उनकी आत्मा को अजर-अमर मानता हुआ उनसे यह याचना करता है कि वे उनका कल्याण करें। उनसे हर पुत्र यह आशा करता है कि वो कुशासन में बैठकर उन्हें यह वरदान दें कि उनका जीवन क्लेश रहित होकर सुख से बीते। यदि किसी प्रकार की गलती हमसे हो गई है तो उसे क्षमा करें।

"इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु।।"[६८]

अर्थात् जो भी नये अथवा पुराने पितर यहाँ से चले गये हैं, जो पितर अन्य स्थानों में हैं और जो उत्तम स्वजनों के साथ निवास कर रहे हैं अर्थात् यमलोक, मर्त्यलोक और विष्णुलोक में स्थित सभी पितरों को आज हमारा यह प्रणाम निवेदित हो।

"आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम।।"[६९]

अर्थात् हे पितरो! बाँया घुटना मोड़कर और वेदी के दक्षिण में नीचे बैठकर आप सभी हमारे इस यज्ञ की प्रसंशा करें। मानव स्वाभाव के अनुसार हमने आपके विरुद्ध कोई भी अपराध किया हों तो उसके कारण हे पितरो, आप हमें दण्ड मत दें।

"अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन।।"[७०]

अर्थात् अग्नि के द्वारा पवित्र किये गये हे उत्तम पथ प्रदर्शक पितर! यहाँ आइये और अपने-अपने आसनों पर अधिष्ठित हो जाइये। कुशासन पर समर्पित हविर्द्रव्यों का भक्षण करें और (अनुग्रहस्वरूप) पुत्रों से युक्त सम्पदा हमें समर्पित करा दें।

वेदादि ग्रन्थों के माध्यम से यह बात स्पष्ट होती है कि हर प्राणी अपने पितरों के वंश से ही सम्बन्धित है। इसीलिये पितरों के कर्म और धर्म का प्रभाव आगे आने वाली सन्तति के जन्म और कर्म पर भी पड़ता है। यदि उसके पितर यशस्वी रहे हों तो उस वंश से सम्बन्धित प्राणी को ऐसे कोई कर्म नहीं करने चाहिए जिनसे उनके पिता कलंकित होते हों। इसलिये हमारे पितर श्रेष्ठ हैं।

जो व्यक्ति संसार में है उसको आकृति प्रदान करने में माता-पिता का पूर्ण सहयोग रहता है। संतान की उत्पत्ति में माता-पिता को कष्ट सहना पड़ता है, इसलिये माता-पिता के ऋण को कोई भी व्यक्ति चुका नहीं सकता। एक प्रकार से गुरु भी हमारे माता-पिता हैं। उनके ऋण को भी संसार में महत्वपूर्ण माना गया है क्योंकि ये हमें केवल शरीर प्रदान नहीं करते अपितु धन, सम्पत्ति, संस्कार, वैभव और ज्ञान भी प्रदान करते हैं।

"यं मातापितरो क्लेशं सहेते भंभवे नृणाम्। तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तु वर्षशतैरपि।।
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा। तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते।।"[७१]

अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति में माँ-बाप को जो क्लेश सहन करना पड़ता है, उस क्लेश से वे सौ वर्षों में भी निस्तार नहीं पा सकते। दोनों (माँ-बाप) और आचार्य को हमेशा प्रसन्न रखना चाहिए, इन तीनों के प्रसन्न रहने से सभी तपस्या पूर्ण हो जाती है।

"इमं लोकं मातृभक्तया पितृभक्तया तु मस्यमम्। गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते।।
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते तत्र आद्रताः। अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः।।"[७२]

अर्थात् व्यक्ति माता में भक्ति से इस लोक का, पितृभक्ति से मध्यलाक और गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक के सुख को प्राप्त करता है। जिनके ये तीनों आदृत होते हैं, उनके सभी धर्म आदरणीय होते हैं। जिनके माता-पिता-गुरु अनादृत होते हैं, उनकी सभी क्रियायें निष्फल होती हैं।

स्मृति ग्रन्थों और वेदों में ब्रह्मा को विश्व का पिता, पितरों को वंश का पिता और माता-पिता को प्रणियों का जन्मदाता माना गया है। इसी प्रकार गुरु ज्ञान का जनक है जो हमें सत्-असत् तथा गुण देता है।

१२. राजा– जब संसार का विस्तार हुआ और सामाजिक व्यवस्था स्थपित हुयी, उसी समय से एक ऐसे व्यक्ति की परिकल्पना की गई जो सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ रखे तथा न्यायपूर्वक प्रजाओं की रक्षा करे, उसे राजा के नाम से सम्बोधित किया गया। जिस विस्तृत भू-भाग तक उसके राज्य का विस्तार था, वह क्षेत्र उसके अधीन था, तथा प्रजा को यह निर्देशित किया गया कि वह राजाज्ञा का अनुसरण करे तथा शान्ति व्यवस्था में उसको सहयोग प्रदान करे। वह प्रशासनिक व्यवस्था के लिये योग्य मंत्रियों, सैनिकों तथा अन्य अनुचरों की नियुक्ति करता था।

"ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि। सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षम्।।"[७३]

अर्थात् यथाविधि यज्ञोपवीत संस्कार पाये हुए क्षत्रिय राजा को न्यायपूर्वक सभी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।

"अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्। रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः।।
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।।"[७४]

अर्थात् इस संसार में राजा के न रहने से सर्वत्र भय, हाहाकार मचने लगा, इसलिये इस जगत के रक्षार्थ ईश्वर ने राजा को बनाया। ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर, इन आठो देवताओं का सारभूत अंश लेकर राजा को उत्पन्न किया।

किसी भी व्यवस्था के लिये समाज और राष्ट्र में नायक अथवा राजा की आवश्यकता होती है। जब सामाजिक व्यवस्था का विस्तार हुआ, उस समय नियंत्रक और जननायक न होने के कारण अराजकता फैल गई। इसलिये आवश्यकतानुसार बलिष्ठ और प्रतिभाशाली व्यक्ति को राजा बनाया गया। वह इन्द्र की भाँति कृषि कार्यों और उपयोग के लिये जल की व्यवस्था करता था वायु की भाँति वह पर्यावरण शुद्ध रखने का कार्य करता था। यम की भाँति वह दुष्ट और अराजक तत्वों को दण्डित करता था। वह सूर्य की भाँति यथार्थ और कर्मों का निर्धारण करता था। अग्नि की भाँति वह क्रोधित होकर शत्रुओं का नाश करता था। वरुण की तरह जनता के दुख में करुणा और दया की भावना रखता था। चन्द्रमा की भाँति वह प्रजा को संतुष्ट करके सुख प्रदान करता था। वह कुबेर की भाँति कर द्वारा संचित सम्पत्ति को कुसमय में जन कल्याण में खर्च करता था।

१३. मित्र– संसार में उत्पन्न प्राणियों के सम्बन्धों का जब विस्तार होता है उस समय वह ऐसे व्यक्तियों की खोज करता है जो उसे सहयोग प्रदान करें। ऐसे व्यक्तियों में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें मित्र के नाम से पुकारा जाता है। इन मित्रों के सन्दर्भ में वेदों में भी उल्लेख मिलता है–

"न स सखा यो न ददाति सख्ये।"[७५]

अर्थात् वह मित्र क्या जो अपने मित्र को सहायता नहीं देता।

"अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।"[७६]

अर्थात् परमेश्वर! हम तेरे मित्रभाव में दुखी और विनष्ट न हों।

"उद्बुध्यध्वं समनसः।"[७७]

अर्थात् एक विचार और एक प्रकार के ज्ञान से युक्त मित्रजनों उठो! जागो!!

वेदों के अनुसार संसार के प्रणियों का सबसे बड़ा मित्र परमात्मा है क्योंकि वह अपने प्राणियों को आवश्यकतानुसार विविध प्रकार के सामान उपलब्ध कराता है। यदि प्राणियों के ऊपर किसी प्रकार का संकट आता है तो वही मित्र के समान सहयोगी भाव से अपने पौरुष से उसके शत्रुओं का विनाश करता है। सम्पूर्ण प्राणियों के दूसरे मित्र देवता होते हैं, जो पंचतत्व से निर्मित मानव शरीर के रक्षार्थ विविध प्रकार की सामग्री प्रदान करते हैं और उसकी विपत्ति को नष्ट करते हैं। प्राणियों के तीसरे मित्र माता-पिता और गुरू होते हैं जो सदैव अपने से जुड़े व्यक्तियों का कल्याण चाहते हैं और करते हैं। प्राणियों के चौथे मित्र पति-पत्नी होते हैं जो जीवन भर साथ रहकर वंशवृद्धि करते हैं तथा परिवार की सुख सुविधाओं के लिये साधन जुटाते हैं तथा समस्त समस्याओं का समाधान करते हैं। प्रणियों के पाँचवें मित्र वे सहयोगी होते हैं, जो किसी लगाव की

वजह से सम्बन्धित व्यक्ति का कल्याण सोंचते हैं और करते हैं तथा उसके लिये त्याग का भाव रखते हैं।

१४. यजमान- यजमान वह व्यक्ति होता है जो देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण से मुक्त होने के लिये धार्मिक यज्ञों, संस्कारों का आयोजन करता है। इन यज्ञों को सम्पन्न करने के लिये योग्य पुरोहित एवं आचार्यों को नियुक्त करता है। इन यज्ञों में वह बन्धु-बान्धव, कौटम्बिक जन, चिर-परिचित व्यक्तियों को आमंत्रित करता है तथा यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् अन्न, धन, वस्त्र आदि का दान विविध प्रकार के पात्रों को करता है। इन यज्ञों के पीछे वह अपने द्वारा अर्जित अथवा प्राप्त धन को उन व्यक्तियों में वितरित करता है, जो उसे प्राप्त कर उसका यशगान करते हैं और तीनों प्रकार के ऋणों से उसे छुटकारा दिलाते हैं। वह यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण को दान और दक्षिणा भी प्रदान करता है।

याचक (दानग्रहीता)- जो व्यक्ति दान का वास्तविक पात्र होता है उस व्यक्ति अथवा उसकी संस्था को याचक(दानग्रहीता) कहते हैं। ये याचक व्यक्ति एवं संस्थायें निम्न प्रकार के हैं-

१. आचार्य, पुरोहित और पुजारी- ऐसे व्यक्ति जो धार्मिक संस्कार कराते हैं अथवा शिष्यों को ज्ञान प्रदान करते हैं उन्हें ऋषि, आचार्य और गुरु के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति धार्मिक स्थलों में निवास कर पूजा पाठ सम्पादित कराते हैं तथा मन्दिरों की देखरेख करते हैं, उन्हें पुजारी कहते हैं। इन व्यक्तियों के पास जीविकोपार्जन के कोई अन्य साधन नहीं होते, इसलिये भारतीय धर्मशास्त्र के अनुसार इन्हें प्रथम कोटि का याचक अथवा दान का पात्र माना जाता है। इसी कोटि में पुरोहित भी आते हैं जो सभी प्रकार के सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों को सम्पादित कराते हैं।

२. जलाशय एवं धर्मस्थल- व्यक्ति जब अतिरिक्त धन अर्जित कर लेता है उस समय वह अपने धन का सदुपयोग विभिन्न जनकल्याणकारी कार्यों में करना चाहता है, उस धन से वह देवालयों का निर्माण कराता है, उनके रखरखाव के लिये भूमिदान करता है तथा जलाशयों (बीहड़, कुओं, तालाब) का निर्माण कराता है। उन जलाशयों के तट पर छायादार वृक्ष लगाता है। धर्मशाला का निर्माण कराता है। निराश्रित व्यक्तियों के लिये विहारों तथा आश्रयगृहों का निर्माण कराता है। इसी प्रकार वह अपने धन का विविध परोपकारी संस्थाओं को दान देकर सदुपयोग करता है।

३. निर्बल एवं निराश्रित व्यक्ति- समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो निराश्रित, विकलांग, अंधे, परित्यक्त एवं उपेक्षित हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार वे भी परमात्मा की कृति हैं, इन्हें भेजकर परमात्मा हमारी मनोभावनाओं की परीक्षा लेता है, इसलिये दानकर्ता या दाता उनके प्रति दया, करुणा और सहयोग की भावना से प्रेरित होता हुआ उन्हें अन्न, वस्त्र तथा धन समय-समय पर दान देता है। ऐसे दान की याचकगण सर्वत्र प्रसंशा करते हैं।

४. राष्ट्रहित- कभी-कभी जव राजा अथवा उसका राज्य विशिष्ट दैवी अथवा प्राकृतिक आपदाओं में फंस जाता है अथवा शत्रुओं से घिर जाता है, उस समय राजा भी दानदाताओं के

सम्मुख याचक बनकर आता है तथा राष्ट्र को संकट से उबारने के लिये समस्त दानदाताओं तथा राष्ट्रप्रेमियों से धन एवं सहयोग की याचना करता है। ऐसे समय में राष्ट्र को संकट से उबारने के लिये इस प्रकार से याचक के अनुरोध पर दाता दान देते हैं।

दान के विविध पर्याय– दान शब्द अत्यधिक प्रचलित है। उसका अभिप्राय यह है कि जब दाता के पास किसी प्रकार से अतिरिक्त धन संचय हो जाता है तो वह किसी उद्देश्य विशेष से प्रेरित होकर अपना अतिरिक्त धन याचक पात्रों को प्रदान करता है, उसे दान कहते हैं। किन्तु दान से जुड़े हुए अनेक शब्द भाषा में प्रचलित हैं, जो थोड़े बहुत अर्थान्तर के साथ दान के उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं तथा उनका सीधा सम्बन्ध दान से ही है। दान के पर्याय के रूप में निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग होता है–

१. वरदान– जब कोई भी प्राणी ईश्वर अथवा देवताओं से प्रेरणा ग्रहण करता है और निष्ठापूर्वक उनकी भक्ति करता है, उस समय देवता अथवा ईश्वर, भक्त अथवा याचक की परीक्षा लेते हैं, यदि याचक सत्यनिष्ठ है तो वह अपने भक्त को जो दान, भक्त की इच्छा के अनुसार देते हैं उसे वरदान कहते हैं। इसमें धन, अन्न, आयु, शक्ति, अभय, मोक्ष, भक्ति आदि आते हैं।

२. भेंट एवं उपहार– जब कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति से मिलने जाता है अथवा किसी व्यक्ति को कतिपय कारणों से सम्मानित करता है उस समय उसके सम्मान में दिया गया धन, वस्तु एवं अन्य उपहार सामग्री अथवा भेंट कहलाती है। यह भी एक प्रकार का दान है जिसका जाति, संस्कार तथा धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह दान किसी भी व्यक्ति की श्रद्धा का मूल्यांकन करता है। विशेषकर यह प्रथा राजा अथवा विद्वान को सम्मानित करने तथा जन्मदिन आदि अवसरों पर अपनायी जाती थी। धामिक स्थलों के लिये पुजारियों, कलाकारों आदि को सम्मानित करने के लिये भी भेंट और उपहार की प्रथा थी।

३. त्याग और समर्पण– व्यक्ति जब विश्वकल्याण अथवा मानवकल्याण के लिये दृढ़निश्चय कर लेता है उस समय वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति उस व्यक्ति अथवा संस्था को दे देता है जिसे वह यह समझता है कि वह उसके त्याग अथवा समर्पण के अनुकूल है।

४. बलिदान– जब कोई सैनिक अथवा राजा अथवा कोई प्रजाजन राष्ट्र रक्षा अथवा सम्मान रक्षा के लिये संघर्ष करता हुआ अपने प्राणों की आहुति उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिये करता था। तब उसके प्राण त्याग को बलिदान कहते थे तथा यह भी दान की एक कोटि थी।

५. कर– राजा के अनुशासन को मानते हुए उसे हम जो धन राज्य व्यवस्था के लिये प्रदान करते हैं, उसे कर के नाम से पुकारा जाता है। यह कर एक प्रकार का दान ही है, जो प्रजा द्वारा राजा एवं उसके कर्मचारियों को प्रदान किया जाता है। क्योंकि यह समझा जाता है कि राजा की आय का मुख्य स्त्रोत जनता द्वारा प्रदान किया हुआ धन है। जिसे वह शत्रु रक्षा, राज्य व्यवस्था, न्याय व्यवस्था तथा जनकल्याण में खर्च करता है। यह भी दान की कोटि में आता है।

६. प्रेम एवं उत्सर्ग– जब कोई व्यक्ति किसी व्यक्तिविशेष से प्रेरित होता है उस समय वह

अपनी इच्छाओं का हनन करके उस व्यक्ति की इच्छाओं की पूर्ति के लिये सब कुछ अर्पण कर देता है, जिसके प्रति वह प्रेम एवं उत्सर्ग की भावना रखता है। इसका सम्बन्ध केवल धन से नहीं अपितु हृदय से है और उस मस्तिष्कजन्य आकर्षण से है जिसके वशीभूत होकर वह व्यक्तिगत आकांक्षाओं का परित्याग, परिवार के हित के लिये, पारिवारिक आकांक्षाओं का परित्याग समाज हित के लिये, सामाजिक आकांक्षाओं का परित्याग राष्ट्रहित के लिये तथा राष्ट्रहित की आकांक्षाओं का परित्याग सम्पूर्ण विश्व कल्याण के लिये करता है। उसका यह प्रेम और उत्सर्ग एकांगी न होकर सर्वांगी हो जाता है। इसलिये यह उत्सर्ग एवं प्रेम समर्पण, जिसमें तन, मन, धन, शौर्य आदि सभी शामिल हैं, उच्चकोटि के दान के रूप में आता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दान की परिभाषा और उसका क्षेत्र चिरकालिक और सर्वव्यापी है। उसे संकुचित और संकीर्ण दृष्किोण से नहीं जोड़ा जा सकता। सभ्यता की प्रथम किरण से लेकर वैदिक युग तक और उसके बाद भी दान की महत्ता और उसका प्रकाश सम्पूर्ण चराचर में मार्तण्ड के दिव्य आलोक की भाँति विस्तृत है। यह अज्ञानता के अन्धकार को दूर करके परहित और जनकल्याण की भावना को पुष्पित और पल्लवित करता है। इसको अपनाकर अनेक महापुरुष चिरजीवी एवं यशस्वी हुए जो युग की स्मृतियों में हमेशा बने रहेंगे। चूँकि यह शोधप्रबन्ध महाकाव्यों के विशेष सन्दर्भ में लिखा जा रहा है। अस्तु यह आवश्यक है कि रामायण और महाभारत का संक्षिप्त परिचय तथा इनमें मिलने वाले दान के विविध प्रसंगों पर भी संक्षिप्त प्रकाश डाला जाय।

महाकाव्यों का संक्षिप्त परिचय- महाकाव्यों के अन्तर्गत वाल्मीकि कृत रामायण तथा महर्षि वेदव्यास कृत महाभारत नामक ग्रन्थ आते हैं। रामायण और महाभारत भारतवर्ष के अति प्राचीन महाकाव्य हैं। भारतीय लोकजीवन में इन दोनों ही ग्रन्थों का अत्यन्त आदरपूर्ण स्थान है। इन महाकाव्यों ने मानवीय जीवन के लिये जिन उदात्त सिद्धान्तों और दृष्टान्तों को प्रस्तुत किया है उनके कारण ये भारतीय जीवन के प्रकाश स्तम्भ बन गये हैं। ऐतिहासिक ग्रन्थ होने के साथ-साथ ये भारतवर्ष के धार्मिक ग्रन्थ भी हैं। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नवत है-

रामायण- वाल्मीकि कृत रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के चरित्र का वर्णन है। उसकी वर्तमान प्रति में सात काण्ड हैं जिनमें कुल चौबीस हजार श्लोक हैं, इसीलिये इस आदिकाव्य को 'चतुर्विंशति साहस्त्री संहिता' कहते हैं। रामायण के कुछ प्रक्षिप्त अंश भी हैं। जर्मन विद्वान जेकोबी ने अयोध्या काण्ड से युद्ध काण्ड तक केवल पाँच काण्डों को ही वाल्मीकि कृत माना है। रामायण के बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड के कुछ अंश प्रक्षिप्त हैं। प्रधान कथा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। रामायण की रचना बुद्ध के जन्म से पहले हुई अर्थात् रामायण के मूलभाग को पाँच सौ ईसा पूर्व की रचना माना जा सकता है। विन्टर्निज का मत है कि रामायण का वर्तमान रूप निश्चित रूप से दो सौ ईस्वी तक बन गया था।[७८]

महाभारत- महाभारत को ऐसा महासागर माना गया है जिसमें असंख्य ज्ञान सरितायें मिल कर एक प्राण हो गयी हैं। इसके रचयिता वेदव्यास की यह उक्ति सर्वथा सत्य प्रमाणित है कि "इस

ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है यथा-

''धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित।।''

कौरवों और पाँडवों का इतिहास वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है अपितु हमारे हिन्दू धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण भी इसका प्रयोजन है। महभारत का शान्ति पर्व जीवन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य हजारों वर्षों से करता आ रहा है इसलिये इस इतिहास ग्रन्थ को हम अपना ग्रन्थ मानते आये हैं जिसका पठन-पाठन, श्रवण-मनन सब प्रकार से हमारा कल्याणकारक है। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक मूल्य भी कम नहीं है, सच तो यह है कि केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के शुद्ध स्वरूप से परिचय पा सकते हैं। भारतीय इतिहास का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी महाभारत का एक अंश है। प्राचीन राजनीति को जानने के लिये हमें इसी ग्रन्थ की शरण लेनी पड़ती है। इस प्रकार ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक दृष्टियों से महाभारत एक गौरवपूर्ण ग्रन्थ है।

आजकल महाभारत में एक लााख श्लोक मिलते हैं। इसलिये इसे 'शतसाहस्त्री-संहिता' कहते हैं। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष पुराना है क्योंकि गुप्तकालीन शिलालेख में यह 'शतसाहस्त्री-संहिता' के नाम से उल्लिखित हुआ है। विद्वानों का ऐसा मानना है कि महाभारत का यह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ है, इसके विकास के तीन क्रमिक स्वरूप माने जाते हैं- १. जय, २. भारत, ३. महाभारत।

महाभारत की रचना छठी-पाँचवीं सदी ईसा पूर्व में हुयी थी, चूंकि रामायण का रचनाकाल लगभग ६००ई०पू० माना जाता है और महाभारत इसके बाद की रचना है। अतः यही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महाभारत की रचना ६००ई०पू० के बाद हुई होगी। परन्तु समय-समय पर महाभारत में अनेकानेक क्षेपक जुड़ते रहे और इस प्रकार उसका कलेवर बढ़ता रहा। आज उसमें एक लाख श्लोक हैं। मैकडॉनल्ड महोदय का मत है कि इस महाकाव्य का परिवर्द्धन तीन सौ ईसा पूर्व और १००ईसवी के बीच हुआ था। डा० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार महाभारत पतंजलि के महाभाष्य (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी) तक पूर्ण हो चुका था।[७६] मुकर्जी महोदय का यह मत अपेक्षाकृत अधिक तर्कसंगत लगता है।

वर्तमान महाभारत में १६२३ अध्याय और ६६२४४ श्लोक हैं जिसमें हरिवंश के खिल पर्व के १२००० श्लोक सम्मिलित हैं। इसमें १८ पर्व और १०० पर्वाध्याय हैं। महाभारत के खण्डों को पर्व का नाम दिया गया है ये संख्या में अठारह हैं- १. आदि, २. सभा, ३. वन, ४. विराट, ५. उद्योग, ६. भीष्म, ७. द्रोण, ८. शल्य, ६. कर्ण, १०. सौप्तिक, ११. स्त्री, १२. शान्ति, १३. अनुशासन, १४. अश्वमेध, १५. आश्रमवासी, १६. मौसल, १७. महाप्रस्थानिक, १८. स्वर्गारोहण। इन विभिन्न पर्वों की कथा निम्नवत है-

आदिपर्व में चन्द्रवंश का विस्तृत इतिहास तथा कौरव-पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभापर्व में द्यूतक्रीड़ा, वनपर्व में पाण्डवों का वनवास, विराटपर्व में पाण्डवों का अज्ञातवास,

उद्योगपर्व में श्रीकृष्ण का दूत बनकर कौरवों की सभा में जाना तथा शान्ति का उद्योग करना, भीष्म पर्व में अर्जुन को गीता का उपदेश, युद्ध का आरम्भ, भीष्म का युद्ध और शरशय्या पर पड़ना, द्रोण पर्व में अभिमन्यु वध, द्रोणाचार्य का युद्ध और वध, कर्ण पर्व में कर्ण का युद्ध और वध, शल्यपर्व में शल्य की अध्यक्षता में लड़ाई और वध, सौप्तिक पर्व में पाण्डवों के सोये हुए पुत्रों का रात में अश्वत्थामा द्वारा वध, स्त्री पर्व में स्त्रियों का विलाप, शान्तिपर्व में भीष्मपितामह का युधिष्ठिर को मोक्षधर्म तथा राजधर्म का उपदेश, अनुशासन पर्व में धर्म तथा नीति की कथायें, अश्वमेघ पर्व में युधिष्ठिर का अश्वमेघ यज्ञ करना, आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र, गान्धारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना, मौसलपर्व में यादवों का मूसल के द्वारा नाश, महाप्रस्थानिक पर्व में पाण्डवों की हिमालय यात्रा तथा स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग जाना वर्णित है।

रामायण और महाभारत का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान रूप में सम्पूर्ण रामायण और महाभारत किसी एक व्यक्ति अथवा एक काल की रचनायें नहीं हैं। भिन्न- भिन्न व्यक्ति भिन्न- भिन्न कालों में इन महाकाव्यों के मूल का परिवर्द्धन करते रहे। अतः जब हम महाकाव्यकालीन सभ्यता का नाम लेते हैं तो इससे किसी काल विशेष की सभ्यता का बोध नहीं होता। इससे केवल इन दोनों महाकाव्यों में चित्रित सभ्यता का ही अर्थ लेना चाहिए। यह सभ्यता भिन्न-भिन्न कालों की सभ्यता है। कभी-कभी तो ये महाकाव्य आदि मानवीय सभ्यता को लेकर उसका क्रमिक विकास उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर हाप्किन महोदय ने कहा है कि इनमें सामाजिक अव्यवस्थाओं का जो वर्णन है वह स्पष्टतया भिन्न-भिन्न तिथियों का है। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि इन दोनों महाकाव्यों में वर्णित अवस्थायें एवं विचारधरायें बहुत कुछ समान रूप हैं।

महाकाव्यों में दान के प्रसंग- रामायण और महाभारत दोनों ही ग्रन्थों में दान के प्रसंग उपलब्ध होते हैं। यद्यपि रामायण की अपेक्षा महाभारत में दान के प्रसंग अधिक उपलब्ध होते हैं। महाभारत के अनुशासन पर्व में विशेष रूप से दान के विभिन्न स्वरूपों पर प्रकाश डाला गया है। वैसे तो सम्पूर्ण रामायण और महाभारत में दान के प्रसंग मिलते हैं जिनका पृथक-पृथक विवरण इस प्रकार है-

रामायण में दान के प्रसंग- रामायण में दान के प्रसंग तथा दान की कोटियाँ मुख्य रूप से निम्न स्थलों में मिलती हैं- ज्ञानदान (बालकाण्ड १,५) पुरस्कार दान(बालकाण्ड ४, २२-२५), महादान (बालकाण्ड, १४, ५०-५४), मिश्रित दान (बालकाण्ड, १८, २०-२३; ७४, ३-५; युद्धकाण्ड, १२८, ७०-८७), कन्यादान (बालकाण्ड, २५, ८; ७४, ३-५), आयुध (शस्त्र) दान (बालकाण्ड, २७, २; ६६, १२-१३; अरण्यकाण्ड १२, ३७), भूमिदान (बालकाण्ड, २८, २०-२१; ७५, २५), जलदान (बालकाण्ड, ३५, १७-१८), अन्नदान (बालकाण्ड, ६५, ५-६), गोदान (बालकाण्ड, ७२, २३-२४; ७४, ३-५; युद्धकाण्ड, १२८, ७०-८७; उत्तरकाण्ड, १, १३), हर्षदान (अयोध्याकाण्ड, ७, ३२; युद्धकाण्ड, ११२, २१-२२; १२१, १०), कामदान (अयोध्याकाण्ड,

२५,३०-३१; ३२,११), अन्त्येष्टि संस्कारदान (अयोध्याकाण्ड, ७७, २-३; १०३, २७-२८; अरण्यकाण्ड, ६८, ३२-३३; किषकिन्धाकाण्ड, २५, ५२; उत्तरकाण्ड, ६६, १८), धर्मदान (अयोध्याकाण्ड, ११८, १८-१६, २२; उत्तरकाण्ड, ६२, ४१६), अभयदान (अरण्यकाण्ड, २१, ८-६; सुन्दरकाण्ड १, १३६, १४३; ३, ४४; ६३, २; युद्धकाण्ड, १८, ३३, ३६), फलदान (युद्धकाण्ड, २२, ४३; उत्तरकाण्ड, प्रक्षिप्तसर्ग ३८-३६), वस्तुदान (उत्तरकाण्ड ७६, ३०-३१), भयदान (उत्तरकाण्ड, ७८, २३, २६)।

महाभारत में दान के प्रसंग- महाभारत में दान के प्रसंग तथा दान की कोटियाँ मुख्य रूप से निम्न स्थलों पर मिलती हैं- वाग्दान (आदिपर्व, ८, १६; विराटपर्व, ७२, २०, ३८) धनदान (आदिपर्व ५८, ११-१३; ११३, ५; १७१, २०६; वनपर्व, ६४, २; ६५, ६; १२१, १८; द्रोणपर्व, ५६, ६; ११२, ६१), दक्षिणा दान (आदिपर्व ७४, १३०; १३३, २२), ज्ञानदान (आदिपर्व ७६, ४; ८७, १३; ६०, २२; ६१, ३; वनपर्व, २, ५५, ७५; १६८, २६; २००, १-१२६; शान्तिपर्व, ३६, १-५०; ७६, ११; २३४, ३८; अनुशासन पर्व, ६, २६-२७; २२, १-४१; ३७, १-१८; ५७, १-४४; ५८, १-३३; ५६, १-४१; ६०, १-२०; ६१, १-३८; ६२, १-६६; ६३, १-५२; ६४, १-३६; ६५, १-१६; ६६, १-६५; ६७, १-१६; ६८, १-३४; ६६, १-२२; १३७, १-३२; १३८, १-११; अश्वमेध पर्व, ६०, १-१२०; ६२), कामदान (आदिपर्व, ८२, १३ व २५; २१३, ३२-३३; उद्योगपर्व, ११५, १२), सर्वस्वदान (आदिपर्व ६३, १८), मिश्रितदान (आदिपर्व ६३, २३-२४; २१४, ३; २१८, २; २२०, ६६; सभापर्व, ४, ४-५; १२, १५-१७; ३३, ५२; ४५; ५८; वनपर्व, २३, २; ६६, २७; ११७, ११-१३; ११८, १४; उद्योगपर्व, ६४, १०-११; १५१, ६२; १५६, ३२-३३; भीष्म पर्व, २२, ८; द्रोणपर्व, १७, २६; ६५, ५-८; ६६, ८-६; ६७, ६; ८२, १७-१६), कन्यादान (आदिपर्व, १०६, ३३२; १७१, १८; १७२, ३३; वनपर्व, २६५, १६; उद्योगपर्व, १०४,११ व २६; द्रोणपर्व, ६०, २), वस्तुदान (आदिपर्व, ११०, २७-२६; सभापर्व, १, २०; वनपर्व, ३, ७२-७३), अन्त्येष्टि संस्कारदान (आदिपर्व, १२५-१२६, २-३ व २८; वनपर्व, १०६, १६; स्त्रीपर्व, २७, ३-४; शान्तिपर्व, ४२, २-६; आश्रमवासिक पर्व, १४, ५-६), अभयदान (सभापर्व, २४, ४२; विराटपर्व, ६७, ५; उद्योगपर्व, १४६, २६), भूमिदान (वनपर्व, ११४, १८; द्रोणपर्व, ६१, २; अश्वमेध पर्व, ८६, ७), गोदान (वनपर्व, ११८, ७; १२६, ४१; १६५, ५-६), प्राणदान (१६६, ३७ व ५६-५७; वनपर्व, १००, २२), शरीरदान (वनपर्व, १६७, २२-२३), हर्षदान (विराटपर्व, २६५, ३४; शान्तिपर्व, ४५, ७-६; अश्वमेधपर्व, ८६, ७), मानवदान (द्रोणपर्व, ६४, १२), महादान (द्रोणपर्व, ६६, २६-३१)।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. ऋग्वेद, १०, १२६, २।

२. वही, १०, १२६, ७।

३. शतपथ ब्राह्मण, ५, २, १, १०।

४. गिडिंग्स, प्रिंसिपल्स ऑफ सोसियोलाजी, पृष्ठ २७।

५. मैकाइवर एवं पेज, सोसायटी, पृष्ठ ५।

६. बीरस्टीड, रॉबर्ट, दि सोशल ऑर्डर, १९५७, पृष्ठ १०६।

७. मनुस्मृति, ४, १; ५, १६६; ६, १-२।

८. प्रभु, पी०एम०, हिन्दू सोशल ऑर्गेनाइजेशन, तृतीय संस्करण, बम्बई, १९५८, पृष्ठ ८३।

९. ऋग्वेद, ४, ५३, ३।

१०. छान्दोग्य उपनिषद, २, २३।

११. फ्रेजर, सर जेम्स, दि गोल्डन बग, न्यूयार्क, पृष्ठ ५०।

१२. काणे, पाण्डुरंग वामन, धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय संस्करण, लखनऊ, १९८०, पृष्ठ १०१।

१३. याज्ञवल्क्य स्मृति, १, १ पर मिताक्षरा की टीका।

१४. ठाकुर, रवीन्द्र नाथ, गीतांजलि,(हिन्दी अनुवाद)।

१५. डार्विन, डिसेन्ट ऑफ मैन, पृष्ठ ६३।

१६. क्रोपाटकिन, पीटर, म्यूचुअल एड ऐज ए लॉ ऑफ नेचर एण्ड ए फैक्टर ऑफ इवोल्यूसन, भाग ३, पृष्ठ ३७६।

१७. मनुस्मृति, १, ८६।

१८. वही, ३, ७८।

१९. ऋग्वेद, १, १२५; १, २६; १, ५; ५, ६१; ६, ४७, २२-२५; ७, १८, २२-२५; ८, ५, ३७-३९; ८, ६, ४६-४८; ८, ४६, २१-२४; ८, ६८, १४-१९।

२०. वही, १०, १०७; २, ७।

२१. तैत्तिरीय संहिता, २, ३, १२, १।

२२. पेहोवा शिलालेख, एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १, पृष्ठ १८६।

२३. गौतम धर्मसूत्र, १९, १६।

२४. शतपथ ब्राह्मण, २, २, १० ,६।

२५. बृहदारण्यक उपनिषद, ५, २, ३।

२६. देखिये- जैमिनि, ४, २, २८; ७, १, ५; ६, ४, ३२ पर शबर तथा याज्ञवल्क्य स्मृति, २, २७ पर मिताक्षरा की टीका।

२७. देवल(अपरार्क, पृष्ठ २८७; दानक्रियाकौमुदी, पृष्ठ २; हेमाद्रि, दानखण्ड, पृष्ठ १३; दानवाक्यावलि

आदि द्वारा उद्धृत)।

२८. देवल (हेमाद्रि, दानखण्ड, पृष्ठ १४ में उद्धृत)।

२९. नाथ, विजय, दान : गिफ्ट सिस्टम इन ऐंसिएन्ट इन्डिया, प्रथम संस्करण, दिल्ली, १९८७, पृष्ठ ११।

३०. ड्रेकमेयर, सी०, किंगशिप एण्ड कम्यूनिटी इन अर्ली इन्डिया, पृष्ठ ४७।

३१. रामायण, वालकाण्ड, २८ , ११।

३२. महाभारत, सभापर्व, १२, १५-१७।

३३. देव, राजा राधाकान्त, शब्दकल्पद्रुमः, भाग २, तृतीय संस्करण, वाराणसी, संवत् २०२४ वि०, पृष्ठ ६९९-७०१।

३४. वही, पृष्ठ ६७१-७२।

३५. ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्रकृतिखण्ड।

३६. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २, ४, ९, ९-१०।

३७. अग्नि पुराण, २११, ३१।

३८. श्रीमद्भागवत्, २, ५, १४; २, १०, १२; १२, ११, ३१।

३९. अथर्ववेद, पृथ्वीसूक्त।

४०. ऋग्वेद, द्वितीय मंडल, इन्द्रसूक्त।

४१. वही।

४२. वही, प्रथम मंडल, विष्णुसूक्त, १५४।

४३. वही, १।

४४. वही, २।

४५. वही, नारायणसूक्त, २।

४६. वही, ३।

४७. वही, श्रीसूक्त, १।

४८. वही, ४।

४९. वही, देवीसूक्त, १।

५०. वही, २।

५१. वही, ३।

५२. वही, ६।

५३. वही, रूद्रसूक्त, ५।

५४. वही, ६।

५५. वही, ७।

५६. वही, पंचदेवसूक्त, १।

५७. वही, ४।

५८. वही, ६।

५९. वही, ८।

६०. वही, सूर्यसूक्त, १, ११५, ५।

६१. वही, ६।

६२. वही।

६३. वही, ११।

६४. वही, अग्निसूक्त, १।

६५. वही, ८।

६६. वही, यमसूक्त, १०, १४, १।

६७. वही, २।

६८. वही, पितृसूक्त, १०, १५, २।

६९. वही, ६।

७०. वही, ११।

७१. मनुस्मृति, २, २२७-२८।

७२. वही, २, २३३-३४।

७३. वही, ७, २।

७४. वही, ७, ३-४।

७५. ऋग्वेद, १०, ११७, ४।

७६. वही, १, ६४, ४।

७७. वही, १०, १०१, १।

७८. विन्टर्निज, हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, भाग-१, पृष्ठ ५०३।

७९. मुकर्जी, राधाकुमुद, हिन्दू सिविलाइजेशन।

द्वितीय अध्याय

दान का स्वरूप : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

समस्त अध्यात्म विज्ञानों में दान को पुरुषार्थ का सर्वोत्कृष्ट अंग माना गया है। संसार में उन व्यक्तियों की ही प्रशंसा होती है जो सदैव कुछ देने की भावना रखते हैं। दान के सन्दर्भ में मनुस्मृति में जो उल्लेख मिलता है उससे दान का महत्व स्पष्ट हो जाता है और ऐसा लगता है कि व्यक्ति के हृदय में प्राचीन काल से ही यह भावना जागृत हुई कि उसे अपने अतिरिक्त दूसरे के हित चिन्तन की बात भी सोचनी चाहिए, इसलिये स्मृतिकार ने वर्तमान युग में दान को सर्वश्रेष्ठ माना है। तद्नुसार–

''तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।।''[१]

अर्थात् सतयुग में तपस्या, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में दान को प्रधान धर्म माना गया है। इसके अतिरिक्त पद्मपुराण,[२] पाराशर स्मृति,[३] लिंग पुराण,[४] भविष्य पुराण[५] में भी इसका उल्लेख आया है। शतपथ ब्रह्मण में 'दा'धातु से दान की व्याख्या की गई है और इसे मनुष्य का धर्म माना गया है। इसके अतिरिक्त दानसागर, दानकल्पतरु, हेमाद्रिदानखण्ड आदि ग्रन्थों में दान की महिमा गायी गई है। स्कन्दपुराण में दान के २हेतु, ६अधिष्ठान, ६अंग, ६फल, ४प्रकार और ३नाशक बताये गये हैं। यथा–

''द्विहेतु षडधिष्ठानं षडंग च द्विपाकयुक्। चतुष्प्रकारं त्रिविधं त्रिनाशं दानमुच्यते।।''[६]

इनके पूर्ववर्ती ग्रन्थ ऋग्वेद में भी दान के सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख उपलब्ध हो जाता है। मुख्य रूप से ऋग्वेद के दशम मण्डल में अनेक सूक्तियाँ दान से सम्बन्धित हैं। यथा–

''न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते।।''[७]

अर्थात् देवताओं ने केवल क्षुधा की ही सृष्टि नहीं की, अपितु मृत्यु को भी बनाया है। जो बिना दान दिये हुये ही खाता है, उस खाने वाले पुरूष को भी मृत्यु के ही समीप जाना पड़ता है। दाता का धन कभी क्षीण नहीं होता। इधर दान न करने वाले मनुष्य को कभी सुख नहीं प्राप्त होता।

''य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते।।''[८]

अर्थात् जो क्षुधा को अन्न दान से शान्त करता है, वह सर्वश्रेष्ठ दाता है। जो दान नहीं करता, जरूरत पड़ने पर उसकी भी कभी कोई सहायता नहीं करता अथवा उसके प्रति सहानुभूति नहीं दिखाता तथा जो पुरूष स्वयं अन्नवान होने पर भी घर आये हुये दुर्बल एवं अन्न की याचना करने वाले भिक्षुक के प्रति दान देने के लिये अपने अन्तः करण को स्थिर कर लेता है उसे कभी सुख नहीं मिलता।

''स इदभोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।

अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्।।''[९]

अर्थात् अन्न की कामना से घर आये हुये याचक को जो अन्न देता है, वही श्रेष्ठ दाता है। उसे सम्पूर्ण फल मिलता है और सभी उसके मित्र हो जाते हैं।

लेकिन दान देने के सन्दर्भ में कुछ सावधानी बरतने का निर्देश भी दिया गया है। वेदों के अनुसार घर में आने वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त उस व्यक्ति को अन्न और धन दान में दिया जाना चाहिये जिसे उसकी आवश्यकता है। वही सच्चा मित्र है।

''न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।

अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्।।''[१०]

अर्थात् वह पुरूष मित्र नहीं है, जो सर्वदा स्नेह रखने वाले मित्र को अन्नदान नहीं करता। ऐसे पुरूष से दूर हट जाना ही श्रेयस्कर है। उसका वह गृह, गृह नहीं है। अन्न प्रदान करने वाले किसी अन्य पुरूष के यहाँ जाना ही उसके लिये श्रेयस्कर है।

डॉ० अविनाश चन्द्र दान की प्रशंसा करते हुये उपरोक्त कथन की पुष्टि इस प्रकार करते हैं-

"A home belonging to an inhabitant of the land, bound by ties of kingship. A home is not meant only for its members, but also for others in need of food and shelter."[११]

ऋग्वेद में ही दान के सन्दर्भ में आगे कहा गया है कि-

''पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत् पन्थाम्।

ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा ऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः।।''[१२]

अर्थात धनवान पुरूष के द्वारा घर आये हुये याचक को धन अवश्य दिया जाना चाहिये, जिससे याचक को दीर्घमार्ग (पुण्यपथ) प्राप्त होता है। रथ के चक्र के समान धन एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता। वह अन्य पुरूष का आश्रय लेता रहता है।

इस सन्दर्भ में डा० अविनाश चन्द्र का कथन है कि हर व्यक्ति को यह सोचना चाहिये कि आज वह धनी है हो सकता है कल वह गरीब बन जाय और उसे भी सहयोग की आवश्यकता पड़े इस उद्देश्य से उसे दान देना ही चाहिये। यथा-

"The rich man should take a long view of life and think that he may also one day become poor and would need anothers help."[१३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दान की अवधारणा अत्यन्त प्राचीन काल से ही मनोवैज्ञानिक कारणों पर आधारित है, इससे व्यक्ति स्वतः प्रेरित होता है और वह दान और धर्म में सामंजस्य स्थापित करता हुआ दान को ही धर्म मानता है।

दान की मनोवैज्ञानिक अवधारणा- वेदों तथा आध्यात्मिक ग्रन्थों के अनुसार समस्त विश्व परमात्मा द्वारा निर्मित है, समस्त प्राणी भी उसी परमात्मा के ही अंश है। इस भावना को लेकर विश्व बंधुत्व के मानवीय सिद्धान्त का उदय हुआ। व्यक्ति इस संसार में नाना प्रकार के भोग

भोगता हुआ काल-कवलित होता है-

"तपो न तप्ता वैमेव तप्ता, तृष्णा न जीर्णाः वैमेव जीर्णाः।
भोगा न भोक्ता वैमेव भोक्ताः, कालो न यातो वैमेव यातो।।"

अर्थात हम तप से अपने जीवन को नहीं तपाते किन्तु प्रतिकूल परिस्थितियाँ हमारे शरीर को स्वतः तपाकर जर्जर कर देती हैं। हमारी इच्छा, शक्ति और मनोरथ कभी जीर्ण नहीं होते, अपितु हम इच्छापूर्ति की कामना करते-करते स्वतः वृद्ध हो जाते हैं। हम भौतिक सुखों की कामना करते हुये नाना प्रकार के सुख भोग भोगना चाहते हैं, किन्तु हमें अपनें दुष्कर्मो का फलस्वतः भुगतना पड़ता है। हम शुभ घड़ी की प्रतीक्षा करते-करते जीवन के अन्त में काल कवलित हो जाते हैं, किन्तु जो करना चाहते हैं, वह नहीं कर पाते। इस लिये जीवन को सार्थक बनाने के लिये हमें धर्म, तप, ज्ञान और दान का सहारा लेना पड़ता है। समस्त प्राणियों को देखकर जिन भावनाओं से हम प्रेरित होते हैं, वे निम्नलिखित हैं-

(१)-दया- जब कोई भी सामर्थ्यवान प्राणी अपने ही तरह के किसी दूसरे व्यक्ति को दुखी देखता है तो वह स्वभावतः दया की भावना से द्रवीभूत हो जाता है, वह उसके प्रति मदद की भावना रखता है। इसी भावना से दान का उदय होता है। जिस प्रकार का सहयोग वह दया योग्य व्यक्ति के साथ करता है वही दान है।

(२) करुणा- जब कोई व्यक्ति किसी विशेष कष्टित व्यक्ति के प्रति अपनी सहानुभूति दर्शाता है और उसे सान्त्वना देता है, उस समय करूणा का भाव जाग्रत होता है। यह संसार दुख और वेदनाओं से भरा हुआ है, इन वेदनाओं से कोई भी व्यक्ति मुद्रा आदि देकर मुक्त नहीं हो पाता, फिर भी वह व्यक्ति विशेष से सान्त्वना का आश्वासन पाकर कुछ समय के लिये दुख की कमी का अनुभव करता है। यह करूणा भाव परमात्मा और देवताओं द्वारा प्राणियों के प्रति दर्शाया जाता है। सामर्थ्यवान व्यक्ति भी कष्ट की स्थिति में अथवा आकस्मिक घटनाओं के घटनेपर मृत्यु और वियोग के समय करूणा का भाव दर्शाते हैं। जैन धर्म के २४वें तीर्थंकर महावीर स्वामी ने यह देखा कि संसार करूणा मय है और व्यक्ति सदैव कष्ट झेलता है इसलिये समस्त प्राणियों के प्रति करूणा का भाव रखना चाहिये। उनकी शिक्षाओं में भी जीवों के प्रति करूणा भाव रखने पर जोर दिया गया है। जैसे महावीर स्वामी अपनी शिक्षाओं में पंचमहाव्रत (अणु व्रत) पर विशेष जोर दिया ये पंच माहव्रत हैं (१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अस्तेयाणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (५) अपरिग्रहाणुव्रत। इसी क्रम में उन्होंने अणुव्रत के पालन के लिये चार आधार बताये (१) मैत्री (सबके साथ मित्रता का भाव रखना) (२) प्रमोद (दूसरों की प्रगति से प्रसन्न होना) (३) कारुण्य (दुखियों के प्रति दया रखना) (४) माध्यस्थ (दुष्ट व्यक्तियों की बातों पर ध्यान न देना)[१४] (४) महावीर स्वामी ने सत्य, प्रेम, अहिंसा के जिस सिद्धान्त को जन्म दिया है वह करूणा जन्य है।

(३) परहित- मनुष्य यदि केवल अपने लिये जीता है तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं

रह जाता है। यदि मनुष्य ज्ञानवान नहीं है, और भूत-भविष्य तथा वर्तमान काल की परिस्थितियों पर विचार नहीं करता तो भी उसका जीवन बेकार है। आध्यात्मिक ग्रन्थों में व्यक्तियों की कुछ विशेषतायें इस प्रकार बतलायी गयी हैं।

''आहार निद्रा भय मैथुनं च, समान एताः नरः पशुः समाना।
धर्म हि एको नरो विशेतो धर्म विहीना नरा पशुः समानाः।।
''येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृर्त्युलोके भू भारभूतः मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति।।''

व्यक्ति यदि अपने जीवनकाल में कल्याण या परहित की भावना नहीं रखता तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। दान की भावना का उदय परहित से ही हुआ। मौर्यकाल में जब सम्राट अशोक का शासन स्थापित हुआ तो उसने अपनी प्रजा को पुत्रवत माना तथा उसके कल्याण के लिये विविध कार्य किये। उसके शिलालेखों में विश्व कल्याण तक की भावनाओं का उल्लेख मिलता है। अपने दूसरे शिलालेख में अशोक कहता है-

"All men are my children and, just as I desire of my children that they may obtain every kind of welfare and happiness both in this and the next world, so do I desire for all men." [१५]

स्पष्ट है कि परहित की भावना से ही दान की भावना का उदय हुआ है। यदि गीता के सिद्धान्तों का अवलोकन किया जाय तो परमात्मा भी परहित के लिये ही जन्म लेता है यथा-

''यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युथानमधर्मस्य तदात्मनं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।''[१६]

परहित को यदि दान का पर्याय माना जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। विपरीत परिस्थियों में व्यक्ति सहयोग की जिस भावना की आकांक्षा रखता है और जिसकी पूर्ति किसी व्यक्ति विशेष द्वारा पूरी की जाती है। उसे ही परहित कहते हैं।

४. बाध्यता- प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक परिवेश में निवास करता है तथा किसी न किसी वंश एवं परिवार से सम्बन्धित होता है। जिस स्थान, समय तथा जिन परिस्थितियों में वह रहता है, उनका निर्वाह उसे करना पड़ता है। यदि कुल-परम्परा, रीति रिवाज का निर्वाह करते हुये उसे दान देना पड़ता है तो वह देता है। यह दान उसकी बाध्यता है। उदाहरणार्थ- राजा दशरथ अपने पुत्रों का दान विश्वामित्र को देना नहीं चाहते थे किन्तु रघु-कुल की मान-मर्यादा को ध्यान में रखते हुए यह दान उन्होंने बाध्यतावश विश्वामित्र को दिया। यथा-

''कथमव्यरप्रख्यं संग्रामाणामकोविदम्। बालं में तनयं ब्रह्मन नैव दास्यामि पुत्रकम्।।''[१७]

अर्थात् ब्रह्मन! यह मेरा देवोपम् पुत्र युद्ध की कला से सर्वथा अनभिज्ञ है। इसकी अवस्था भी अभी बहुत थोड़ी है। इसलिये मैं इसे किसी तरह नहीं दूँगा।

''स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथस्तदा। ददौ कुशिकपुत्राय सुप्रीतेनान्तरात्मना।।''[१८]

अर्थात् तदनन्तर राजा दशरथ ने पुत्र का मस्तक सूँघकर अत्यन्त प्रसन्नचित्त से उसको विश्वामित्र को सौंप दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा दशरथ का पुत्र दान बाध्यतावश किया गया दान था।

एकलव्य द्रोणाचार्य का शिष्य नहीं बन पाया था किन्तु वह द्रोणाचार्य पर आस्था रखता हुआ धनुर्विद्या सीखता रहा, जब द्रोणाचार्य ने यह समझा कि कहीं वह धनुर्विज्ञान में पाण्डवों से अधिक होशियार न हो जाय इसलिये उसको अपना शिष्य बनाते हुए उससे उसका अंगूठा दान में माँग लिया।

''न हि किंचिददेयं में गुरवे ब्रह्मवित्तम। तमब्रवीत् त्वयागुंष्ठो दक्षिणो दीयतामिति।।
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम्। प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन् सत्ये च नियतः सदा।।
तथैव हृष्टवदनस्तथैवादीनमानसः। छित्वाविचार्य तं प्रादाद्द्रोणायागुंष्ठमात्मनः।।''[१६]

अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ आचार्य ! मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो गुरु के लिये अदेय हो। तब द्रोणाचार्य ने उससे कहा- 'तुम मुझे दाहिने हाथ का अंगूठा दे दो।' द्रोणाचार्य का यह दारुण वचन सुनकर सदा सत्य पर अटल रहने वाले एकलव्य ने अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करते हुए पहले की ही भाँति प्रसन्नमुख और उदारचित्त रहकर बिना कुछ सोच-विचार किये अपना दाहिना अंगूठा काटकर द्रोणाचार्य को दे दिया।

दान बाध्यता का प्रभाव दाता के हृदय में देशकाल, परिस्थितिजन्य विवशता के कारण पड़ता है। इस प्रकार के दानों में उसकी आन्तरिक सहमति नहीं होती।

५. प्रतिस्पर्द्धा- कभी-कभी मानव मस्तिष्क में अहं की भावना पैदा हो जाती है। इस प्रकार एक प्रतिस्पर्द्धा उसके हृदय में जन्म लेती है। वह अहं को बनाये रखने के लिये दूसरे व्यक्ति को अपने से आगे नहीं निकलने देना चाहता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत सम्मान को सब कुछ मानता हुआ वह अपने को मिटाकर भी चिरकालिक यश और स्थायित्व के लिये दान देने के लिये प्रेरित होता है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र की दानशीलता कुछ इसी कोटि की है। राजा हरिश्चन्द्र की दानवीरता चारो तरफ प्रशंसित हो रही थी, देवताओं ने राजा हरिश्चन्द्र के दान की परीक्षा लेने के लिये विश्वामित्र को भेजा। प्रतिस्पर्द्धावश दिये गये दान के कारण राजा हरिश्चन्द्र पूरी तरह बर्बाद हो गये किन्तु उन्हे स्थाई यश प्राप्त हुआ।[२०]

दान-सामर्थ्य- आध्यात्मिक ग्रन्थों में उन तत्वों की भी खोज की गई है जिनका सम्बन्ध दान देने की क्षमता से है। सामान्यतः कोई भी व्यक्ति कठिनाई से अर्जित सम्पत्ति को किसी भी व्यक्ति को हस्तान्तरित नहीं कर सकता। वह एक व्यवसायी की भाँति सर्वप्रथम यह सोचता है कि जो द ान वह किसी व्यक्ति विशेष को हस्तान्तरित कर रहा है, उससे उसको क्या लाभ होने वाला है तथा किन परिस्थितयों के वशीभूत होकर वह निःस्वार्थ भाव से दान देना चाहता है। इस प्रकार के विचार से ऐसे तत्वों का पता लगता है जो दान देने का वातावरण तैयार करते हैं-

१. श्रद्धा- व्यक्ति देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार किसी व्यक्ति विशेष, संस्था विशेष

तथा धर्म विशेष से अनुराग करने लगता है। सम्बन्धित व्यक्तियों, धर्मों तथा संस्थाओं के प्रति उसके हृदय में सम्मान के कारण एक त्याग की भावना जन्म लेती है उस त्याग की भावना का नाम श्रद्धा है। यह प्रेम और त्याग का प्रतीक है तथा इस भावना का मापन करने के लिये श्रद्धा एक पैमाने का कार्य करती है। पौराणिक ग्रन्थों में श्रद्धा को दान का कारण माना गया है-

''श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत। सर्वस्वं जीवितं चापि दद्यादश्रद्धया यदि।।
नाप्नुयात्स फलं किंचिच्छ्रद्दधानस्ततो भवेत्। श्रद्धा साध्यते धर्मो महद्भिर्नार्थ राशिभिः।।''[२१]

अर्थात् शरीर को बहुत क्लेश देने से तथा धन की राशियों से सूक्ष्म धर्म की प्राप्ति नहीं होती। श्रद्धा ही धर्म और अद्भुत तप है, श्रद्धा ही स्वर्ग और मोक्ष है तथा श्रद्धा ही यह सम्पूर्ण जगत है। यदि कोई बिना श्रद्धा के अपना सर्वस्व दे दे अथवा अपना जीवन ही न्यौछावर कर दे, तो भी वह उसका कोई फल नहीं पाता, इसलिये सबको श्रद्धालु होना चाहिए।

बौद्ध धर्म में भी दया और करुणा जन्य श्रद्धा को दान का मूल कारण माना गया है- "For the welfare of herself, her parents, her bhattarika, the mother of jiwaka and all creatures;[२२] The Bodhgaya Buddhist coping stone inscription specifically mentions that the temple was erected by the doner, "for the welfare of his relations and his teachers (Updhyaya) living at Ahavagra."[२३]

२. शक्ति (इच्छा)- यदि व्यक्ति धनाढ्य है और दान देने की शक्ति नहीं रखता तो वह कदाचित् दान नहीं दे सकता। जब व्यक्ति धनाढ्य हो और दान देने की इच्छाशक्ति रखता हो तभी वह दान दे सकता है। यहाँ पर शक्ति से तात्पर्य इच्छाशक्ति से ही है। यदि व्यक्ति धन को भौतिक सुखों का कारण मानता है तो वह संचित धन से स्नेह भी बहुत करता है, इसलिये वह मोहवश संचित धन को अपने से अलग नहीं देखना चाहता, वह दान नहीं दे सकता। जो व्यक्ति संसार को असार मानता है तथा अपने शरीर को नश्वर और परिवर्तनशील मानता है, उसका भौतिक सुखों के प्रति भी कोई लगाव नहीं होता। वह अपने पार्थिव शरीर को और अपनी अर्जित सम्पत्ति को जनकल्याण में व्यय कर देना चाहता है, उसी के हृदय में दान देने की इच्छाशक्ति उत्पन्न होती है।

''कुटुम्वभुक्त भरणाद्देयं यद्तिरिच्यते। मध्वास्वादो विषं पश्चाद्दातुर्धर्मोऽन्यथा भवेत्।।
शक्ते परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि। मध्वापानविषादः स धर्माणां प्रतिरूपकः।।''[२४]

अर्थात् व्यक्ति अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के अतिरिक्त अपने परिजनों के सुख के लिये तथा उनके दुःख के निवारण के लिये अपनी इच्छाशक्ति के अनुसार दान देता है।

सुप्रसिद्ध स्मृतिग्रन्थ बौधायन में दान के सन्दर्भ में यह उल्लेख मिलता है कि किसी भी व्यक्ति को बिना दान दिये तथा भोजन को बिना अन्नपूर्णा को समर्पित किये, भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। दान भावना की उपेक्षा कर ग्रहण किया अन्न विष के समान है।

"He who without giving me to the gods, the manes, his servants, his guests and friends consumes what has been prepared, in his exceeding folly swallows poison."[२५]

दान के सन्दर्भ में मनु भी इस बात का समर्थन करते हैं कि व्यक्ति को इच्छानुसार दान देना चाहिए।

"शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना। संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः।।"[२६]

अर्थात् जो सन्यासी या ब्रह्मचारी स्वयं भोजन न बना सके उन्हें गृहस्थ यथाशक्ति अन्न दे। कुटुम्ब के लोगों को तथा अन्य प्राणियों को भी कष्ट दिये बिना ही यथाशक्ति अन्न-जल का भाग देना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इच्छाशक्ति से ही दान सम्भव है।

३. सामर्थ्य अथवा हैसियत– ऐसी अवधारणा है कि वह व्यक्ति जिसके पास कुछ है ही नहीं, वह देगा क्या? इसलिये सामर्थ्यवान व्यक्ति ही दान दे सकता है। जिन दानवीरों का उल्लेख धर्मग्रन्थों और पुराणों में उपलब्ध होता है वे आर्थिक स्थिति से मजबूत व्यक्ति थे तभी उन्होंने दान देने का निश्चय अपनी सामर्थ्य के अनुसार किया। दानी व्यक्तियों को अपनी सम्पत्ति में यह अधि ाकार प्राप्त था कि वे अपनी सम्पत्ति का प्रयोग जैसा चाहें वैसा करें, इसलिये वे यश वृद्धि की आशा से अधिक से अधिक दान देकर नाम कमाते थे। ये लोग स्वर्ण, वस्त्र तथा अन्य कीमती वस्तुएं दान में दिया करते थे। इस दान से उनकी भौतिक स्थिति तथा उनके विकास की जानकारी उपलब्ध होती थी।[२७] इसलिये बिना हैसियत के दान देने की इच्छा रखते हुए भी व्यक्ति दान नहीं दे पाता था।

दान का स्वरूप– जिस प्रकार से मानव शरीर का अस्तित्व शरीर का बाहरी आवरण तथा शरीर के अन्दर अस्थि, माँस, मज्जा तथा शरीर के अन्य उपयोगी अंग, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा आत्मा से जाना जाता है। उसी प्रकार किसी भी शरीर में आत्मा, हृदय तथा मस्तिष्क तीन वस्तुएं होती हैं। जो अदृश्य रहते हुए सम्पूर्ण शरीर पर अपना नियन्त्रण रखती हैं। इनको नियन्त्रित करने के लिये एक अति सूक्ष्म शरीर होता है, जो मस्तिष्क, हृदय एवं ज्ञानेन्द्रियों में एकरूपता बनाये रहता है। जब शरीर इसके नियन्त्रण में होता है तो वह आत्म संयमी बनता है, गलत कर्मों को जन्म नहीं देता तथा अपने ही जैसे अन्य शरीरों के प्रति दया, करुणा की भावना से आकर्षित रहता है। इस सूक्ष्म शरीर को नियन्त्रित करने के लिये एक अति सूक्ष्म शरीर भी होता है। इसे परमात्मतत्व के नाम से पुकारते हैं, यह समस्त आध्यात्मिक भावनाओं का जन्मदाता है तथा संसार के यथार्थ का बोध कराता है। दान का स्वरूप भी कुछ इसी प्रकार का है जो दृश्य एवं अदृश्य दोनों ही प्रकार का है। आध्यात्मिक ग्रन्थों मे दान के निम्न प्रकार बतलाये गये हैं–

१. ध्रुवदान– जो धन कुँआ बनवाने, बगीचे लगवाने, तालाब खुदवाने तथा जनकल्याण के लिये दिया जाता है, वह ध्रुवदान कहलाता है। यह दान ध्रुवदान इसलिये कहलाता है क्योंकि इस द ान से जिन वस्तुओं का निर्माण होता है, वह चिरकालिक होते हैं और वह दान अधिक समय तक चलता है।

"कूपारामतडागादि सर्वकामफलं ध्रुवम।"[२८]

अर्थात् कुँआ बनवाना, बगीचे लगवाना तथा पोखरे खुदवाना आदि कार्यों में जो सबके उपयोग में आते हैं, धन लगाना, ध्रुवदान कहा गया है।

२. त्रिकदान– व्यक्ति अपने नैमित्तिक जीवन में प्रतिदिन कुछ न कुछ दान करता है वह यह दान पशु-पक्षियों तथा याचकों आदि को करता है, वह त्रिकदान कहलाता है। नित्यप्रति पूजा करने वाले व्यक्ति देवपूजा के उपरान्त जो प्रसाद आदि चढ़ाते हैं वह त्रिकदान का स्वरूप है। इसी प्रकार भिखारियों को दिया जाने वाले अन्न का दान भी त्रिकदान की कोटि में आता है।

"तदाहु स्त्रिकमित्येव दीयते यद्दिने दिने।"[२६]

अर्थात् प्रतिदिन जो कुछ दिया जाता है उस नित्य दान को ही 'त्रिक' कहते हैं।

३. काम्यदान– जब व्यक्ति कुछ भी पाने के लिये बदले की भावना से दान देता है, वह दान काम्यदान की कोटि में आता है। अर्थात् जब व्यक्ति संतान की प्राप्ति, युद्ध में विजय का लक्ष्य, ऐश्वर्य का लाभ, स्त्री की प्राप्ति तथा शक्ति अर्जित करने के लिये दान देता है वह दान काम्य दान कहलाता है।

"अपत्यविजयैश्वर्यस्त्रीबलार्थे च दीयते। इच्छासंभ्थं च यद्दानं काम्यमित्यभिधीयते।।"[३०]

अर्थात् संतान, विजय, ऐश्वर्य, स्त्री और बल आदि के निमित्त तथा इच्छा की पूर्ति के लिये जो दान दिया जाता है, वह काम्य कहलाता है।

४. नैमित्तिक दान– जो दान देश, काल और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर दिया जाता है, वह दान नैमित्तिक दान कहलाता है। इस दान को यज्ञ आदि में दिये जाने वाले दान की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

"कालापेक्षं क्रियापेक्षं गुणपेक्षमिति स्मृतौ। त्रिधा नैमित्तिकं प्रोक्तं सदा होमविवर्जितम्।।"[३१]

नैमित्तिक दान तीन प्रकार का होता है-

अ. कालापेक्ष नैमित्तिक दान– जो दान तीज-त्योहारों (मकरसंक्रान्ति, शिवरात्रि आदि) समयों में दिया जाता है, वह कालापेक्ष नैमित्तिक दान है।

ब. क्रियापेक्ष नैमित्तिक दान– जो दान श्राद्ध आदि क्रिया कर्मों के समय दिया जाता है, वह क्रियापेक्ष नैमित्तिक दान कहलाता है।

स. गुणापेक्ष नैमित्तिक दान– संस्कार और विद्याध्ययन आदि गुणों की अपेक्षा रखकर जो दान दिया जाता है, वह गुणापेक्ष नैमित्तिक दान है।

धर्मशास्त्रकारों ने दान के कुछ और प्रकार बतलाये हैं, ये प्रकार व्यक्ति के गुण, वस्तु के गुण, देश, काल और, परिस्थिति के अनुसार किये गये हैं। इसमें दानदाता और याचक दोनों की भावना भी शामिल है। दानदाता और दानग्रहीता दोनों की सम्मति से ये कोटियाँ बनी हैं।

१. उत्तम कोटि का दान– दानदाता और दानग्रहीता दोनों ने वस्तुओं के आधार पर दानों का निर्धारण किया है। उत्तम कोटि के दान में गृह, मंदिर या महल, विद्या, भूमि, गौ, कूप, प्राण और स्वर्ण का दान सर्वोत्तम माना गया है। उपरोक्त ८ वस्तुएं दानग्रहीता को स्थाई सुख प्रदान

करने वाली हैं। इनमें भी सर्वाधिक महत्व ज्ञानदान, भूमिदान और प्राणदान का है। इनको प्राप्त करके ग्रहीता दाता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता था।

"गृहप्रासादविद्याभूगोकूपप्राणहाटकम्। एतान्युत्तमदानानि उत्तमान्यन्यदानतः।।"[३२]

अर्थात् गृह, मंदिर या महल, विद्या, भूमि, गौ, कूप, प्राण और सुवर्ण इन वस्तुओं का दान उत्तम कोटि का दान है।

२. मध्यम कोटि का दान– जो वस्तुएं दानग्रहीता के लिये चिरकालिक नहीं होतीं तथा कुछ काल बाद वह नष्ट हो जाती हैं, उनका दान मध्यम कोटि का दान कहलाता है। इन वस्तुओं में अन्न, बगीचा, वस्त्र, अश्व और वाहन आदि शामिल हैं।

"अन्नारामौ च वासांसि हयप्रभृतिवाहनम्। दानानि मध्यमानीति मध्यमद्रव्यदानतः।।"[३३]

अर्थात् अन्न, बगीचा, वस्त्र तथा अश्व आदि वाहन इन मध्यम श्रेणी के द्रव्यों को देने से यह मध्यम दान माना गया है।

३. कनिष्ठ कोटि का दान– यह निम्न स्तर का दान कहलाता है जो दानग्रहीता के लिये उपयोगी तो होता है किन्तु आर्थिक दृष्टि से वह मूल्यवान नहीं होता। जूता, छाता, बर्तन, दही, मधु, आसन, दीपक, काष्ठ और पत्थर आदि का दान कनिष्ठ कोटि का दान कहलाता है।

"उपानच्छत्रपात्रादि दधिमध्वासनानि च। दीपकाष्ठोपलादीनि चरमान्याहुरुत्तमाः।।"[३४]

अर्थात् जूता, छाता, बर्तन, दही, मधु, आसन, दीपक, काष्ठ और पत्थर आदि इन वस्तुओं के दान को श्रेष्ठ पुरुषों ने कनिष्ठ दान बताया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दान के ये भेद वस्तु की गुणवत्ता के आधार पर किये गये हैं।

दान के कुछ अन्य भेद– दान के कुछ अन्य भेद दानदाता की भावना के अनुसार किये गये हैं। इसके अन्तर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि दानदाता किन भावनाओं से प्रेरित होकर दान करना चाहता है और वह किस इच्छा की पूर्ति के लिये दान कर रहा है। इसको निम्न भागों में विभाजित किया गया है–

१. धर्म दान– यदि दाता केवल मानवीय भावनाओं से प्रेरित होकर बिना किसी इच्छा के दान देता है अर्थात याचक की दीन दशा देखकर उसके बिना याचना किये ही जो दान, दाता द्वारा दिया जाता है, वह धर्मदान है।

"पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनपेक्ष्य प्रयोजनम्। केवलं धर्मबुद्ध्या यद्धर्मदानं तदुच्यते।।"[३५]

अर्थात् सदा किसी प्रयोजन की इच्छा न रखकर केवल धर्मबुद्धि से सुपात्र व्यक्तियों को जो दान दिया जाता है, उसे धर्मदान कहते हैं।

२. अर्थदान– जब दानदाता अपने हृदय में कोई उद्देश्य रखता है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये जो दान वह ग्रहीता को देता है, वह अर्थदान कहलाता है।

"प्रयोजनमपेक्ष्यैव प्रसंगाघत्प्रदीयते। तदर्थदानमित्याहुरैहिकं फलहेतुकम्।।"[३६]

अर्थात् मन में कोई प्रयोजन रखकर ही प्रसंगवश जो कुछ दिया जाता है, उसे अर्थदान कहते हैं। इस प्रकार का दान इस लोक में ही फल देने वाला होता है।

३. कामदान– जब कोई दानदाता स्त्री समागम, सुरापान, शिकार और जुएं के प्रसंग में अनधिकारी मनुष्यों को यत्नपूर्वक जो कुछ देता है उसे कामदान कहते हैं।

"स्त्रीपानमृगयाक्षाणां प्रसंगाद्यत्प्रदीयते। अनर्हेषु सुंयत्नेन कामदानं तदुच्यते।।"[३७]

अर्थात् स्त्रीसमागम, सुरापान, शिकार और जुएं के प्रसंग में अनधिकारी मनुष्यों को प्रयत्नपूर्वक जो कुछ दिया जाता है वह 'काम-दान' कहलाता है।

४. लज्जा-दान– यदि भरी सभा में कोई याचक उपस्थित किसी धनी मानी व्यक्ति से कुछ माँग लेता है, इस स्थिति में अपनी इज्जत व सम्मान को बचाने के लिये दानदाता जो दान देता है उसे लज्जादान कहते हैं।

"संसदि व्रीड्रयाऽऽश्रुत्य अर्थोऽथिभ्यः प्रयाचितः। प्रंदीयते तु तद्दानं व्रीडादानमिति श्रुतम।।"[३८]

अर्थात् भरी सभा में याचकों के माँगने पर लज्जावश देने की प्रतिज्ञा करके उन्हें जो कुछ दिया जाता है वह लज्जादान माना गया है।

५. हर्षदान– जब दाता प्रसन्नता का कोई समाचार सुनता है और उससे प्रभावित होकर जो दान न्यौछावर और ईनाम के रूप में दिया जाता है उसे हर्षदान कहा जाता है।

"दृष्ट्वा प्रियाणि श्रुत्वा वा हर्षेण यत्प्रदीयते। हर्षदानमिति प्राहुर्दानं तद्धर्मचिन्तिकाः।।"[३९]

अर्थात् कोई प्रिय कार्य देखकर अथवा प्रिय समाचार सुनकर हर्षोल्लास से जो कुछ दिया जाता है उसे धर्मविचारक महात्मापुरुष 'हर्षदान' कहते हैं।

६. भयदान– दानदाता द्वारा सार्वजनिक निन्दा के भय से, अनर्थ को रोकने के लिये अराजकतत्वों, बदमाशों, गुण्डों, अनुपकारी व्यक्तियों को भयवश दिया गया धन भयदान की कोटि में आता है।

"आक्रोशानर्थहिंसानां प्रतीकाराय यद्भवेत्। दीयतेऽनुपकर्तृभ्यो भयदानं तदुच्यते।।"[४०]

अर्थात् निन्दा, अनर्थ और हिंसा का निवारण करने के लिये अनुपकारी व्यक्तियों को विवश होकर जो कुछ दिया जाता है उसे 'भयदान' कहते हैं।

अधोगति के दान– यदि दानदाता खराब भावना से प्रभावित होकर दान देता है तो वह दान अधोगति का दान कहलाता है। ये तीन प्रकार के होते हैं-

१. आसुर दान– जब कोई दान दाता किसी कारण से दान देता है तथा कुछ दिनों उपरान्त दान में दिये गये धन के सन्दर्भ में वह चिन्तन और पश्चाताप करता है, वह आसुर दान है। दानदाता को इस दान का कोई फल प्राप्त नहीं होता तथा इससे उसकी केवल धन की लिप्सा ही झलकती है।

"यद्दत्वा तप्यते पश्चादासुरं तद्वृथा मतम्।"[४१]

अर्थात् यदि दान देकर पश्चाताप हो तो वह दान आसुर दान है जो निष्फल माना

गया है।

२. राक्षस दान– जब कोई दान अश्रद्धापूर्वक दिया जाता है और दानदाता याचक का सम्मान नहीं करता, उसे राक्षस दान कहते हैं। इस दान का भी कोई फल नहीं मिलता।

"अश्रद्धया यद्ददाति राक्षसं स्यादवृथैव तत्।।"[४२]

अर्थात् अश्रद्धा से जो कुछ दिया जाता है, वह राक्षस दान है। यह भी व्यर्थ ही होता है।

३. पैशाच दान– जब कोई दानदाता याचक अथवा ग्रहीता को डाँट-फटकार कर अथवा कटु वचन सुनाकर दान देता है, वह दान पैशाच दान कहलाता है।

"यच्चाक्रुश्य ददात्यंग दत्वा वाक्रोशति द्विजम्। पैशाचं तद्वृथा दानं दाननाशास्त्रयस्त्वमी।।"[४३]

अर्थात् ब्राह्मण को डाँट-फटकार कर या उसे कटुवचन सुनाकर जो दान किया जाता है अथवा दान देकर जब ब्राह्मण को कोसा जाता है, वह पैशाच दान माना गया है। इसे भी व्यर्थ ही समझना चाहिए।

देश, काल और परिस्थिति के अनुसार दान का स्वरूप– आध्यात्मिक ग्रन्थों तथा अन्य मनीषियों ने दान का विभाजन अपने-अपने स्तर से किया है। उन्होंने मनुष्य के जीवन को व्यक्तिगत, सामाजिक और धार्मिक तीन भागों में विभक्त किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सम्पूर्ण मानव जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया है। ये आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास के नाम से जाने जाते हैं। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को १६ संस्कारो में भी विभाजित किया गया है। इस प्रकार मानव जीवन के सम्पूर्ण जीवनचक्र मे व्यावहारिक, सामाजिक और धार्मिक भावना के आधार पर दान के स्वरूप को विभाजित किया गया है। ये विभाजन निम्नलिखित हैं-

१. संस्कारों से जुड़ा हुआ दान का स्वरूप– भारतीय संस्कृति में संस्कारों से युक्त व्यक्ति को ही सभ्य एवं सुशील माना जाता है। ऐसा अनुमान है कि संस्कार के अनुपालन से मनुष्य का केवल शारीरिक, मानसिक व वैयक्तिक उत्कर्ष होता है बल्कि उसका सामाजिक और धार्मिक जीवन भी उन्नत होता है। ऋग्वेद में संस्कृति शब्द का प्रयोग धर्म(बर्तन) के लिये हुआ है, जिस प्रकार से अश्विन पवित्र बर्तन को हानि नहीं पहुँचाते, उसी प्रकार संस्कारयुक्त व्यक्ति को देवता भी हानि नहीं पहुँचाते।[४४] टीकाकार शबर ने संस्कार की परिभाषा इस प्रकार दी है-

"संस्कारो नाम स भवति यस्मिन्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य।"[४५]

अर्थात् संस्कार वह है जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिये योग्य हो जाता है।

धर्मग्रन्थों में गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमान्तोनयन संस्कार के समय दान देने के कोई सन्दर्भ उपलब्ध नहीं होते। जातकर्म संस्कार और नामकरण संस्कार के अवसर पर दान देने की प्रथा थी। नामकरण संस्कार पुण्यतिथि, पुण्यमुहूर्त और अनुकूल नक्षत्र में किया जाता था यथा-

"नामधेयं दशम्यां तुद्वादश्यां वाऽस्य कारयेत। पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते।।"

राम जन्म के समय अयोध्या में राजा दशरथ ने ब्राह्मणों को धन और गायें दान में दी थीं यथा-

''प्रदेयांश्च ददौ राजा सूतमागधवन्दिनाम। ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं गोधनानि सहस्त्रशः।।''[४६]

अर्थात् राजा दशरथ ने सूत, मागध और बन्दीजनों को देने योग्य पुरस्कार दिये तथा ब्राह्मणों को धन एवं सहस्त्रों गोधन प्रदान किये।

इसी प्रकार जब नामकरण किया जाता था उस समय भी योग्य ब्राह्मणों को भोजन कराने के उपरान्त दान देने की व्यवस्था थी किन्तु हर संस्कारों में दान देने की कुछ वस्तुओं में भिन्नता थी। राजा दशरथ ने अपने पुत्रों के नामकरण के अवसर पर ब्राह्मणों को दान दिया

''ब्राह्मणान् भोजयामास पौरजानपदानपि। अददद् ब्राह्मणानां च रत्नौधममलं बहु।।''[४७]

अर्थात् राजा ने ब्राह्मणों, पुरवासियों तथा जनपदवासियों को भी भोजन कराया। ब्राह्मणों को बहुत से उज्जवल रत्नसमूह दान किये।

इसके पश्चात् निष्क्रमण, अन्नप्रासन आदि संस्कारों में दान देने का कोई विधान नहीं था। चूड़ाकर्ण संस्कार में बालक का मुण्डन किया जाता था। शिखा को छोड़कर उसके शेष बाल मुड़वा दिये जाते थे, यह संस्कार बालक के जन्म के पहले या तीसरे वर्ष में कराया जाता था, इसमें पितरों की पूजा की जाती थी। यह संस्कार देवालयों में सम्पन्न होता था इस अवसर पर हवन, पूजन, ब्राह्मण भोज के अतिरिक्त निर्धनों को अन्न, वस्त्र बाँटकर यह संस्कार पूरा होता था तथा घुटे हुए सिर पर दही, मक्खन का लेप किया जाता है। इस संस्कार के सम्बन्ध में अल्बेरुनी का कथन है कि ''संतान के बालों को पहली बार काटने का आयोजन तीन साल बाद किया जाता है।''[४८]

इस संस्कार के पश्चात् कर्णवेध संस्कार होता था, इस संस्कार में दान देने की प्रथा नहीं थी। इसके पश्चात् विद्यारम्भ संस्कार होता था। प्राचीनकाल में जब शिशु पाँच साल का हो जाता था उस समय यह संस्कार होता था। योग्य शिक्षक द्वारा एक पट्टी पर ओम और स्वस्तिक लिखकर और फिर वर्णमाला लिखकर शिक्षा प्रारम्भ कराई जाती थी। इस अवसर पर गणपति पूजन, सरस्वती पूजन, यज्ञादि सम्पन्न होता था। बालक का मुँह पूर्व की ओर करके अक्षर का उच्चारण कराया जाता था, इस अवसर पर यज्ञ होता था तथा गुरु को वस्त्र, धन, आभूषण आदि भेंट किये जाते थे।[४९] इस संस्कार का सम्बन्ध ज्ञान से था। इस संस्कार के कुछ और भेद थे जिन्हें उपनयन तथा वेदारम्भ संस्कार के नाम से पुकारा जाता था। वेदाध्ययन करने वाले ब्राह्मण को ब्रह्मचर्य रहकर ब्रह्मांजलि बाँधकर हल्के वस्त्र धारण कर वेदारम्भ के समय प्रारम्भ में 'ॐ' और अन्त में 'ॐ' कहने का विधान था।

वेदारम्भ संस्कार के बाद केशान्त संस्कार सम्पन्न होता था। इस अवसर पर बालक जब १६ वर्ष का हो जाता था उस समय पहली बार उसके दाढ़ी आदि का क्षौर कर्म होता था।[५०] ब्राह्मण के लिये यह १६ वर्ष में, क्षत्रिय का २२ वर्ष में और वैश्य का २४ वर्ष में होता था।

इस अवसर पर शिष्य ब्राह्मण आचार्य को गोदान देता था।

जब छात्र का वेदाध्ययन समाप्त हो जाता था और वह अपनी शिक्षा पूरी कर लेता था, उस समय गुरु गृह में समावर्तन संस्कार होता था। इस अवसर पर छात्र को स्नान कराया जाता था तथा उसे उसके घर लौटने की आज्ञा प्रदान की जाती थी। इसके पश्चात् वह विवाह आदि कर सकता था। समावर्तन संस्कार को सम्पन्न करने के लिये विद्यार्थी को ११ वस्तुएं जुटानी पड़ती थीं। गले में लटकाने के लिये एक रत्न, कानों के लिये दो कुण्डल, एक जोड़ा परिधान, एक छाता, एक जोड़ा जूता, एक लाठी, एक माला, शरीर पर लगाने वाला लेप, अंजन और पगड़ी। इसके पश्चात् वह स्वतः ईधन इकट्ठा करके ब्राह्मणों को भोजन कराता था तथा गाय का दान देता था। इसके बाद स्नातक पुनः गर्म जल से स्नान करके वस्त्रादि धारण करता था। इस प्रकार वह इस संस्कार के माध्यम से दान कर्म को सम्पन्न करता था।[५१]

हिन्दू संस्कारों में विवाह को सर्वोत्तम संस्कार माना गया है, इसे परिणय या पाणिग्रहण भी कहते हैं। ऋग्वेद में स्त्री और पुरुष को एक साथ रहने की सलाह दी गई है, और दोनों को साथ रहकर प्रगति और मोक्ष के मार्ग में अग्रसर होने के लिये कहा गया है, यथा–

''प्रातर्यावाणा रथ्येव वीरा ऽजेव यमा वरमा सचेथे।
मेने इव तन्वः शुम्भमाने दंपतीव क्रतुविदा जनेषु।।''[५२]

अर्थात् हे वर और वधू! तुम दोनों रथ में जुते दो अश्वों के समान या रथ में लगे दो पहियों के समान एकसाथ मिलकर प्रातः से ही कार्यों में व्याप्त होकर वीर्यवान वीर होकर, अनुत्पन्न अनादि दो आत्माओं के समान परस्पर एक दूसरे के ऊपर प्रेमयुक्त होकर, यम-नियम के पालक एवं जितेन्द्रिय होकर श्रेष्ठ कार्य करो और धन प्राप्त करो। तुम दानों परस्पर सम्मान करने वाले दो स्त्री-पुरुषों के समान या दोनों नर मादा मेना पक्षी के समान शरीर से शोभायमान और आदर्श पति-पत्नी के समान दाम्पत्य-सम्बन्ध का पालन करते हुए सब मनुष्यों के बीच यज्ञ आदि उत्तम कर्म तथा श्रेष्ट ज्ञान को प्राप्त करके परस्पर मिलकर रहो।

जैमिनी सूत्र के अनुसार विवाह के अवसर पर १०० गायें भेंट के रूप में कन्या को देने का उल्लेख मिलता है। यह कन्या खरीदने की कीमत नहीं हैं बल्कि यह उसको भेंट है। यह धन कन्या के पिता का नहीं होता। मनुस्मृति में इस बारे में उल्लेख मिलता है कि पिता अपनी कन्या देने के बदले में कुछ भी गृहण न करे। वर पक्ष द्वारा दिया गया पदार्थ कन्या के लिये होता है और यह उसके सम्मान का सूचक है।

''न कन्यायाः पिता विद्वान्गृहीयाच्छुल्कमण्वपि। गृहणंछुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी।।''[५३]

अर्थात् बुद्धिमान कन्या के पिता को कन्यादान के लिये थोड़ा भी धन न लेना चाहिए। लोभ से धन ग्रहण करने पर मनुष्य संतान बेंचने वाला होता है।

विवाह के शुभ अवसर पर वर पक्ष के लोग वर-वधू के मंगल के लिये दान करते थे।

''गवां शतसहस्त्रं च ब्राह्मणेभ्यो नराधिपः। एकैकशो ददौ राजा पुत्रानुद्दिश्य धर्मतः।।''[५४]

अर्थात् राजा दशरथ ने अपने एक-एक पुत्र के मंगल के लिये धर्मानुसार एक-एक लाख गौएँ ब्राह्मणों को दान कीं।

विवाह के अवसर पर कन्या पक्ष वाले कन्या को सुसज्जित और आभूषणों से अलंकृत करके कन्यादान करते थे।

''देवदुन्दुभिनिर्घोषः पुष्पवर्षो महानभूत। एवं दत्वा सुतां सीतां मन्त्रोदकपुरस्कृताम्।।''[५५]

अर्थात् देवताओं के नगाड़े बजने लगे और आकाश से फूलों की बड़ी भारी वर्षा हुई। इस प्रकार मंत्र और संकल्प के जल के साथ जनक ने अपनी पुत्री सीता का कन्यादान किया।

इस अवसर पर दहेज के रूप में कन्या पक्ष के लोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन, दास-दासियाँ और उपयोगी वस्तुएं दहेज में देते थे।

''अथ राजा विदेहानां ददौ कन्याधनं बहु। गवां शतसहस्त्राणि बहूनि मिथिलेश्वर।।
कम्बलानां च मुख्यानां क्षौमान् कोट्यम्वराणि च। हस्त्यश्वरथपादातं दिव्यरूपं स्वलंकृतम्।।''[५६]

अर्थात् उस समय विदेहराज जनक ने अपनी कन्याओं के निमित्त दहेज में बहुत अधिक धन दिया। उन मिथिला नरेश ने कई लाख गौएं, कितनी ही अच्छी-अच्छी कालीनें तथा करोड़ों की संख्या में रेशमी और सूती वस्त्र दिये। भाँति-भाँति के गहनों से सजे हुए बहुत से दिव्य हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिक भेंट किये।

''ददौ कन्याशतं तासां दासीदासमनुत्तमम्। हिरण्यस्य सुवर्णस्य मुक्तानां विद्रुमस्य च।।''[५७]

अर्थात् अपनी पुत्रियों के लिये सहेली के रूप में उन्होंने सौ-सौ कन्याएं तथा उत्तम दास-दासियाँ अर्पित कीं। इन सबके अतिरिक्त राजा ने उन सबके लिये एक करोड़ स्वर्णमुद्रा, रजतमुद्रा, मोती तथा मूँगे भी दिये।

विवाह सम्पन्न होने के पश्चात् कन्या पक्ष और वर पक्ष के व्यक्ति विवाह सम्पन्न कराने वाले ब्राह्मणों को गोदान, अन्नदान, वस्त्रदान और धनदान दक्षिणा सहित देते थे।

जो जन्म लेता है उस व्यक्ति का शरीर एक दिन आत्मतत्व से अलग हो जाता है तत्पश्चात् आत्मा से विलग हुए शरीर को मृत शरीर कहते हैं। मृत शरीर के संस्कार को अर्न्तयेष्टि कहते थे। हिन्दू रीति-रिवाजों के अनुसार उसका दाह संस्कार किया जाता था। लकड़ियों की चिता बनाकर मृत शरीर को बाँस की अर्थी बनाकर शमशानघाट तक ले जाया जाता था। मृतक के शरीर को स्नान कराकर चिता के ऊपर रखा जाता था और पिण्डदान के साथ नारियल कुश के साथ शरीर को भस्म किया जाता था। दाह का समस्त कार्य मृतक का ज्येष्ठ पुत्र करता था। इसके पश्चात् मृतक को शमशान घाट तक ले जाने वाले व्यक्ति जलाशयों में स्नान करते थे। तदनन्तर शुद्धि, शान्ति, तथा श्राद्ध क्रिया की जाती थी। इसके पश्चात् मृतक को पितरों में मिलाने की क्रिया सम्पन्न की जाती थी। शव विसर्जन की तीन क्रियायें प्रचलित थीं।[५८]

१. शव को जलाना, २. शव को गाड़ना, ३. शव को फेंकना।

इस अवसर पर ब्राह्मणों को भोजन कराने के पश्चात् दान देने की प्रथा थी। इसके लिये

पिण्डदान, श्राद्ध और ब्राह्मण भोज आयोजित होते थे।

''अयुजो भोजयेत्कामं द्विजानन्ते ततो दिने। दधाद्दर्भेषु पिण्डं च प्रेतायोचिछष्टसन्निधौ।।''[५६]

अर्थात् जब कोई व्यक्ति स्वर्गवासी हो जाये, उन दिनों में ब्राह्मण भोज का आयोजन किया जाना चाहिए। उसके पश्चात् प्रेतात्माओं को शान्त करने के लिये पिण्डदान कराये और ब्राह्मणों को यथाशक्ति दान दे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन से लेकर मृत्यु तक चार आश्रमों और सोलह संस्कारों में दान देना पुण्य कार्य माना गया है। जहाँ एक ओर यह हमारी उदार भावना का परिचायक है, वहीं जन-कल्याण का द्योतक भी है। दान को पुरुषार्थ का सर्वश्रेष्ठ अंग माना गया है।

सामाजिक कार्यों में दिया जाने वाला दान- व्यक्ति का जीवन जन्म से लेकर मृत्यु तक समाज में व्यतीत होता है। वहीं वो जन्म लेता है, वहीं उसकी मृत्यु होती है तथा उसी के मध्य रहने वाले व्यक्तियों से उसका व्यवहार होता है। इस प्रकार सारा समाज मनुष्य के लिये है और मनुष्य समाज के लिये है। सुप्रसिद्ध विद्वान गिडिंग्स ने समाज को इस प्रकार परिभाषित किया है-

''समाज स्वयं संघ है, संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का योग है, जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक दूसरे के साथ जुड़े हुए या सम्बद्ध हैं।''[६०]

स्पष्ट है कि जिस समाज ने हमको जीवन दिया तथा विकास के संसाधन प्रदान किये उसके प्रति हमें कृतज्ञता ज्ञापित करन चाहिए और यदि हमारे पास संसाधन हैं तो विविध उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए हमें सामाजिक उत्थान के लिये दान देना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति निर्धन है तो सामर्थ्यवान व्यक्ति को उसे गृहदान करना चाहिए। यदि व्यक्ति अज्ञानी है, तो उसे शिक्षित करने के लिये पाठशाला भवन आदि निर्मित कराकर दान देना चाहिए ताकि उसे इन स्थानों में विद्या प्राप्त करने का अवसर मिल सके। यदि व्यक्ति बेरोजगार है तो उसे कृषि करने के लिये भूमि दान में देनी चाहिए। यदि व्यक्ति रोग से ग्रसित है और उसे स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन, दुग्ध आदि नहीं मिल रहा तो उसके लिये गोदान करना चाहिए। यदि किसी स्थान में आवश्यकतानुसार जल की व्यवस्था नहीं है तो दानी व्यक्ति को उस स्थान पर कुँआ, तालाब, बीहड़ आदि का निर्माण कराकर उन्हें दान में देना चाहिए। यदि किसी स्थान में संक्रामक रोग आदि फैले हैं तो वहाँ दानदाता को व्यक्तियों की प्राणरक्षा के लिये वैद्यों की व्यवस्था करनी चाहिए और औषधियों का दान करना चाहिए। यदि किसी स्थान में बेरोजगारी है और व्यक्ति धन की कमी की वजह से विपरीत समस्याओं से ग्रसित हैं तो दानदाता को चाहिए कि वह व्यक्तियों को स्वर्ण और धन दान में दे ताकि व्यक्ति उससे अपना कार्य चला सके। यदि व्यक्ति अनावृष्टि और बहुवृष्टि से ग्रसित है और वहाँ व्यक्तिगत उपयोग की वस्तुओं का अभाव है तो उस स्थल में व्यक्तियों को दानदाता अन्न और वस्त्र दान में दे। यदि किसी स्थल विशेष का पर्यावरण प्रदूषित है तो दानदाता का कर्तव्य है कि उस स्थल

में बगीचा लगवाये तथा वृक्षारोपण करवाये। यदि किसी क्षेत्र विशेष में आवागमन के साधनों का अभाव है तो व्यक्तियों की सुविधा के लिये दानदाता मार्गों का निर्माण कराये तथा आवागमन के साधनों का विस्तार करे।[६१]

धार्मिक कार्यों में दिया जाने वाला दान- जब से ज्ञान का उदय हुआ उस समय से व्यक्ति को ऐसा लगा कि कोई ऐसी पारलौकिक शक्ति है जो सम्पूर्ण चराचर का संचालन करती है तथा समूची सृष्टि उसी परमात्मा के द्वारा निर्मित भी है, इस भावना ने विभिन्न देवी-देवताओं की परिकल्पना की तथा यह माना गया कि यही दैवी शक्तियाँ मनुष्य की पीड़ा और बाधाओं को दूर करने वाली हैं तथा यज्ञ, तप, दान तथा देव उपासना के माध्यम से ही व्यक्ति अनेक कष्टों से मुक्ति पा सकता है। आध्यात्मिक ग्रन्थों में धर्म को निश्चित नियम या आचरण नियम के नाम से सम्बोधित किया गया है। वाजसनेयी संहिता में इसके लिये 'ध्रुवेण', 'धर्मणा' शब्द का प्रयोग हुआ है।[६२] मुख्य रूप से इसका व्यापक अर्थ यह है कि व्यक्ति अपने जीवन को उन नियमों से बाँधे जो उसके विकास में सहायक हैं। उसे मुख्य रूप से वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रम धर्म, नैमित्तिक धर्म और गुणधर्म का पालन करना चाहिए।[६३] मनुस्मृति के अनुसार सम्पूर्ण वेद वेदज्ञों की परम्परा, व्यवहार, साधुओं का आचार तथा आत्मसंतुष्टि, धर्म के पाँच उपादान हैं।

''वेदोखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।''[६४]

अर्थात् उन शास्त्रोक्त कर्मों में सम्यक प्रकार से लगा हुआ मनुष्य देवलोक को प्राप्त करता है। जैसे इस संसार में उसके संकल्प पूरे होते हैं। सम्पूर्ण वेद और वेदों को जानने वालों (मनु आदि को) स्मृतिशील और आचार तथा धार्मिकों की मनस्तुष्टि, यह सभी धर्म मूल (धर्म में प्रमाण) हैं।

ऋग्वेद में सत्य को सर्वोच्च धर्म माना गया है। यथा-

''सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्य सत।।''[६५]

इसी प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद में समावर्तन नामक संस्कार के समय गुरु शिष्य से कहता है- ''सत्यं वद। धर्मम् चर।।''[६६]

महाभारत के शान्तिपर्व में सत्य के १३ स्वरूप बताये गये हैं तथा मनसा, वाचा, कर्मणा, अहिंसा, सद्इच्छा, दान को शाश्वत् धर्म माना गया है।[६७] इन गुणों का वर्णन अन्य पुराणों में भी मिलता है।[६८]

सत्य के अतिरिक्त आचार और व्यवहार को भी धर्म का अंग माना गया है तथा इस बात पर जोर दिया गया है कि व्यक्ति अपने वर्ण और जाति के अनुसार धर्म का पालन करे। इसलिये दान धर्म का एक अंग है तथा इसे विविध प्रकार के धर्म आयोजनों में दिया जाता था।

१. धर्मस्थल निर्माण के अवसर पर दिया जाने वाला दान- व्यक्ति ईश्वर के अतिरिक्त अनेक देवों का उपासक था इसलिये धार्मिक भावनाओं की पूर्णता के लिये

धार्मिक स्थलों का निर्माण कराता था। निर्माण पूरा हो जाने के पश्चात् धार्मिक स्थलों के गर्भगृह में ईष्टदेवों की स्थापना करता था। मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा करता था, अभिषेक करता था तथा ब्रह्मणों, पुजारियों, याचकों को विविध प्रकार का दान देता था।[६६] मन्दिरों में तीन प्रकार की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं- पहली मूर्तियाँ वैदिकी होती थीं। द्वितीय मूर्तियाँ तान्त्रिकी होती थीं तथा तृतीय मूर्तियाँ मिश्रित मूर्तियाँ कहलाती थीं। मूर्तियों की धातु अथवा निर्माण सामग्री के अनुसार भी उसकी स्थापना होती थी। ये मूर्तियाँ पाषाणों, लकड़ी और धातुओं से निर्मित होती थीं।

२. धार्मिक उत्सवों पर दिया जाने वाला दान- जब व्यक्ति किसी भी प्रकार का यज्ञ करता था तो वहाँ सर्वप्रथम एक वेदिकामण्डल तैयार किया जाता था तथा वहाँ यज्ञ करने के लिये आचार्य, ऋत्विज, सम्बन्धी, स्नातक, प्रियमित्र तथा राजा उपस्थित रहते थे। इस अवसर पर यज्ञ समाप्त हो जाने के पश्चात् दान देकर आचार्यों को संतुष्ट किया जाता था। अनेक प्रकार के यज्ञों के उदाहरण विविध पुराणों में मिलते हैं। ये यज्ञ राजा, सम्भ्रान्त व्यक्ति तथा सामूहिक रूप से आयोजित हुआ करते थे। इसमें दान देते समय याचकों को सम्मानित करने का भी विधान था। जिस व्यक्ति को दान दिया जाता था उसे चन्दन, पुष्पमाला, फल आदि भेंट किये जाते थे उसके पश्चात् संकल्प करके दानदाता उन्हें दान प्रदान करते थे।

३. धार्मिक तीज-त्यौहारों में दिया जाने वाला दान- भारतवर्ष के वे लोग जो पुरातन और सनातन धर्म पर आस्था रखते है उनके लिये भारतीय तीज, त्यौहारों का बहुत अधिक महत्व है। प्रत्येक माह में चार दिन ऐसे हैं, जबकि धर्म पर आस्था रखने वाले व्यक्ति अनिवार्य रूप से दान देते थे। ये दिन एकादशी, पूर्णमासी, अमावस्या तथा प्रदोष हैं। अनेक व्यक्ति इस अवसर पर योग्य ब्राह्मणों से सत्यनारायण जी की कथा का पाठ कराते थे और उन्हें दान देते थे। जब व्यक्ति नेष्ट ग्रहों से पीड़ित होता था उस समय भी वह दान देता था। जब ग्रहण आदि पड़ते थे उस समय भी व्यक्ति दान देते थे। मकर संक्रान्ति, शिवरात्रि, नवरात्रि आदि पर भी दान देने की प्रथा थी। वर्तमान समय में भी जब कोई व्यक्ति कथा, भागवत् का पाठ तथा रामायण आदि का पाठ कराता है तो उसकी समाप्ति पर वह विविध प्रकार का दान ब्राह्मणों और परिजनों को देता है।

४. तीर्थ स्थलों पर दिया जाने वाला दान- प्राचीन भारतीय धर्म में आस्था रखने वाला व्यक्ति तीर्थस्थलों को पवित्र मानता है, जहाँ के तीर्थस्थल विविध देवी-देवताओं से सम्बन्ध रखते हैं। उन स्थलों में यहाँ का व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में जाना पसन्द करते हैं तथा वहाँ स्थापित देवी-देवताओं के वह दर्शन करता है, वहाँ के पवित्र सरोवरों में स्नान करता है, तत्पश्चात् अपनी श्रद्धानुसार दान देता है। प्रयागराज में स्थित अक्षयवट एक महान तीर्थ माना जाता है तथा प्रयागराज को भी एक महान तीर्थ माना जाता है। इस स्थल पर व्यक्ति पवित्र संगम पर स्नान करता है यदि वह अस्थि विसर्जन के प्रयोजन से यहाँ आया है तो वह अस्थि विसर्जन करके पंडों एवं ब्राह्मणों को दान देता है। यहीं अक्षयवट के दर्शन करता है तथा कुम्भ पर्व एवं माघ के महीने

में पवित्र संगम में स्नान करने के पश्चात् याचकों को दान देता है। इसी प्रकार पितृपक्ष में व्यक्ति गया जी की यात्रा करता है और यहाँ अपने पूर्वजों के मोक्ष के लिये पिण्डदान करता है तथा अनेक प्रकार का दान ब्राह्मणों एवं पण्डों को देता है। इसी प्रकार काशी (बनारस), हरिद्वार, मथुरा, तिरुपति बालाजी तथा रामेश्वरम् की यात्रा करता है और यहाँ पर उपस्थित याचकों को दान देता है। भारतवर्ष में तीर्थों की संख्या हजारों में है। करोड़ों की संख्या में प्रतिवर्ष यात्री यहाँ की यात्रा करते हैं तथा अनेक याचकगण दानदाताओं के ऊपर ही अपना जीवननिर्वाह करते हैं।

गुणों के आधार पर दान का स्वरूप- व्यक्ति के हृदय में व्याप्त गुण उसकी मानसिक स्थिति का परिचय देते हैं, ये गुण व्यक्ति के चरित्र और उसकी प्रवृत्ति के भी परिचायक होते हैं। व्यक्ति को इस पृथ्वी में धर्म, देवता और ब्राह्मण के ज्ञान का अनुसरण करना चाहिये तथा वह संयम से अपने जीवन का निर्वाह करे, क्रोध न करे, संयम से काम ले, गुणों का सम्मान करें, वही व्यक्ति संसार में रहने योग्य है। जो व्यक्ति हमेशा लोकहित की बात सोचता है, वही श्रेष्ठ है। आत्मज्ञानी मिट्टी के ढेले और धन में कोई अन्तर नहीं मानता। चंचल और युवा वर्ग के लोग जिनकी बुद्धि स्थिर नहीं है, वे धन, यौवन और भोग विलास को ही सब कुछ समझते हैं। इस पृथ्वी पर यदि कोई सबसे बड़ा तप है तो वह तप दान है।

''दानं वृत्तं व्रतं वाचः कीर्तिर्धर्मस्तथायुषः। परोपकरणं कायादसारात् सारमुद्धरेत।।
धर्मे रागः श्रुतौ चिन्ता दाने व्यसनमुत्तमम्। इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं सम्प्राप्तं जन्मनः फलम्।।''[७०]

अर्थात् दान, सदाचार, व्रत, सत्य और प्रिय वचन उत्तम कीर्ति, धर्मपालन तथा आयुपर्यन्त दूसरों का उपकार-इन सार वस्तुओं का इस असार शरीर से उपार्जन करना चाहिये। राग हो तो धर्म में, चिन्ता हो तो शास्त्र की, व्यसन हो तो दान का-ये सभी बातें उत्तम हैं। इन सबके साथ यदि विषयों के प्रति वैराग्य हो जाय तो समझना चाहिये, मैंने जन्म का फल पा लिया।

व्यक्ति धन को प्राप्त करने के लिये नाना प्रकार के दुर्गुण करता है। वह धन प्राप्ति के लिये जीवों की हिंसा करता है, सैकड़ों व्यक्तियों को सताता है, इसलिये वह पातकी है, जो व्यक्ति अपने धन का सदुयोग करता है तथा योग्य व्यक्तियों को हाथ उठाकर दान देता है। उसी का धन पवित्र है। जैसे- कुयें का जल बार-बार निकाले जाने से नहीं घटता, उसी प्रकार दान दाता का धन भी दान देने से नहीं घटता। जो मूर्ख होता है, वह धन घटने की आशंका से धन का दान नहीं देता। विद्वान पुरूष धन को नश्वर समझकर दान देता है। यदि व्यक्ति धनवान है और याचक को माँगने पर भी दान नहीं देता तो वह दंड का पात्र है। सैकड़ों मनुष्यों में कोई एक दानवीर होता है। गौ, ब्राह्मण, वेद, सतीस्त्री, सत्यवादी पुरूष और दानशील मनुष्य ही पृथ्वी का भार वहन करते हैं। जब आपत्ति पड़ती है, तब दानवीर अपने धन और कर्तव्य से पृथ्वी की रक्षा करते हैं। दान को सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणों के आधार पर भी विभाजित किया गया है।

(१) सतोगुण से प्रभावित दान- जब व्यक्ति बिना कुंछ पाने की इच्छा के याचक को दान देता है, तो वह दान धर्मदान या सतोगुणी दान कहलाता है। इस प्रकार के अनेक दानों के

उदाहरण प्राप्त होते हैं, जैसे- महर्षि दधीचि का अस्थिदान, रन्तिदेव का भोजनदान आदि सतोगुण दान की श्रेणी में आते हैं।

(२) रजोगुण से प्रभावित दान- जब व्यक्ति अपने वैभव को दर्शाने के लिये इस भाव से दान देता है, कि मेरे पास इतना अपार धन है कि मैं जितना चाहूँ उतना धन दान दे सकता हूँ और दान देकर बुद्धिजीवियों को अपने वश में कर सकता हूँ उस व्यक्ति के द्वारा दिया हुआ दान रजोगुण दान की श्रेणी में आता है। इसमें अहं भाव मिला रहता है। ईमानदारी से कमाया गया धन ही दान देने योग्य होता है। रजोगुण से युक्त व्यक्ति बिना याचना किये किसी को दान नहीं देता।

३. तमोगुण से प्रभावित दान- जो व्यक्ति नाना प्रकार के दुर्गुण करता है तथा तमोगुण से घिरा रहता है, उसका धन कृष्ण धन कहलाता है तथा उसके द्वारा दिया गया दान तमोगुण से प्रभावित दान कहलाता है, यह दानदाता और याचक दोनो को ही हानि पहुँचाता है।

वस्तु के आधार पर दान का स्वरूप- इस संसार में जो भी दानदाता विद्यमान हैं वे कोई ऐसी वस्तु दान में नहीं दे सकते हैं जिसका अस्तित्व संसार में नहीं है वे ऐसी वस्तु भी दान में नहीं दे सकते जिसके वे स्वामी नहीं हैं। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि वह वस्तु जो दानदाता के स्वामित्व में है, दानदाता ने जिसे स्वतः अर्जित किया है अथवा अपने पूर्वजों से उस वस्तु को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया हो। ऐसी वस्तुएं जिनका दिया जान सम्भव है, वही दान में दी जा सकती है। दानदाता यथाशक्ति इस प्रकार से दान दे सकता है कि दान देने के पश्चात् आर्थिक कष्ट का अनुभव न करे। दान दी हुई वस्तु का अभाव अनुभव न करे तथा दान में दी गई वस्तु के लिये किसी प्रकार का पश्चाताप न करे। दान दी जाने वाली वस्तु अति प्रसन्नता के साथ पारिवारिक सहमति के बाद ही दी जाये। अनुपयोगी वस्तु को भी दान में नहीं देना चाहिए। व्यर्थ की वस्तुए भी दान में नहीं दी जानी चाहिए, दानदाताओं द्वारा दान में दी जाने वाली वस्तुओं का विवरण निम्नवत् है-

१. भूमिदान- अति प्राचीनकाल से ही भूमिदान को सर्वोच्च पुण्य फल देने वाला कार्य माना गया है। इसका उल्लेख अनेक धार्मिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।[७१] महाभारत के अनुशासन पर्व में भूमिदान की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि ''परिस्थितिवश व्यक्ति जो कुछ पाप कर बैठता है, वह गोचर्म मात्र भूदान से मिट सकता है।''[७२] अपरार्क का कथन है कि भूदान से उच्च फलों की प्राप्ति होती है।[७३] महाभारत के वनपर्व में कहा गया है कि ''राजा शासन करते समय जो भी पाप करता है उसे यज्ञ एवं दान करके, ब्राह्मणों को भूमि एवं सहस्त्रों गायें देकर नष्ट कर देता है, जिस प्रकार चन्द्र राहु से छुटकारा पाता है उसी प्रकार राजा भी पापमुक्त हो जाता है।''[७४]

भूमिदान की लोकप्रियता एवं महत्ता को देखते हुए स्मृतिकारों ने बहुत से नियम बनाये हैं। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि ''जब राजा भूदान या निबन्ध-दान(निश्चित दान जो प्रतिवर्ष या

प्रतिमास या विशिष्ट अवसरों पर किया जाता है) करे तो उसे आगामी भद्र(अच्छे) राजाओं के लिये लिखित आदेश छोड़ने चाहिए। राजा को चाहिए कि वह अपनी मुद्रा को किसी वस्त्रखण्ड या ताम्रपत्र के ऊपर चिन्हित कर दे और नीचे अपना तथा अपने पूर्वजों का नाम अंकित कर दे और दान का परिमाण एवं उन स्मृतियों की उक्तियाँ लिख दे जो दिये हुए दान के लौटा लेने पर (दाता की) भर्त्सना करती हैं।''[७५] इस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विश्वरूप ने टीका करते हुए लिखा है कि दान-पत्र पर आज्ञा, दूतक आदि राजकर्मचारियों एवं राजसेना के ठहराव के स्थल आदि के नाम भी अंकित होने चाहिए, स्त्रियों (रानी या राजमाता) के नाम भी उल्लिखित होने चाहिए और साथ ही उन कुफलों की भी चर्चा होनी चाहिए जो दान लौटा लेने से प्राप्त होते हैं।

यदि हम अब तक के प्राप्त सहस्त्रों शिलालेखों या दान-पत्रों का अवलोकन करें तो पता चलता है कि स्मृतियों के उपर्युक्त नियमों का अक्षरशः पालन होता रहा है, विशेषकर पाँचवीं शताब्दी से जब याज्ञवल्क्य, बृहस्पति एवं व्यास आदि स्मृतियों की रचना हुयी, दान-पत्रों में इन नियमों का अक्षरशः पालन किया गया। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि अति प्राचीन शिलालेखों में दान-फल एवं दान देकर लौटा लेने के विषय में ऐसा कुछ नहीं पाया जाता।[७६]

आरम्भिक लेखों में भूमिदान की महत्ता एवं दान लौटा लेने के विषय में कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होते किन्तु परवर्ती अभिलेखों में इस सन्दर्भ में व्यापक चर्चायें की गई हैं। भूमिदान के कुछ उदाहरण इतने अधिक लोकप्रिय हो गये कि प्रायः इन दानों की उक्तियाँ सभी दानों में दी जाने लगीं। उदाहरणार्थ ''सगर तथा अन्य राजाओं ने पृथ्वी का दान किया था।'' भूमिदान के सन्दर्भ में कहा गया है कि जो भी राजा पृथ्वीपति होता है वह भूमि-दान का पुण्य कमाता है। भूमिदाता स्वर्ग में ६०,००० वर्षों तक आनन्द ग्रहण करता है, और जो दान लौटा लेता है वह उतने ही वर्षों तक नरक में वास करता है।'' लेकिन भूमिदान के सन्दर्भ में इन नियमों के होते हुए भी कुछ राजाओं द्वारा दान में दी गई सम्पत्ति लौटा लेने के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ- इन्द्रराज तृतीय के अभिलेख (८३६ शकाब्द) से पता चलता है कि उसने ४०० ग्राम दानपात्रों को लौटाये जो कि उसके पूर्व के राजाओं ने जब्त कर लिये थे।[७७] चालुक्य शासक विक्रमादित्य प्रथम (६६० ई०) के तलमंत्रि ताम्रपात्र से पता चलता है कि राजा ने मन्दिरों एवं ब्राह्मणों को पुनः तीन राज्यों में हृत दान लौटा दिये।[७८] कल्हण की राजतरंगिणी से पता चलता है कि अवन्तिवर्मा के पुत्र शंकर वर्मा ने अपने ऐश-आराम (व्यसनों) से खाली हुए कोष को मन्दिरों की सम्पत्ति छीनकर पूरा किया। पराशर ने दिये गये भूमिदान को पुनः छीनने को महापाप बताते हुए लिखा है कि ''दान में पूर्वदत्त सम्पत्ति को छीन लेने से एक सौ बाजपेय यज्ञ करने या लाखों गायें देने पर भी प्रायश्चित नहीं होता।''[७९] इसी प्रकार परिव्राजक महाराज संक्षोभ के कोहपत्रों में भी दिये दान को छीनने वालों की घोर निन्दा की गयी है यथा ''जो व्यक्ति मेरे इस दान को तोड़ेगा उसे मैं दूसरे जन्म में रहकर भी भयंकर शामाग्नि में जला दूँगा।''[८०]

बहुत से शिलालेखों में वर्णित दानों में ऐसा उल्लेख है कि ''इस पूर्वदान से रहित

भूमिखण्ड या स्थल में सब कुछ दिया जा रहा है- यथा "पूर्वप्रत्त-देव-ब्रह्म-दाय रहितः।" चन्देल शासक परमर्दिदेव के एक दान में बुद्ध मन्दिर को दिये गये पाँच हलों (भूमिमाप) को छोड़कर अन्य भू-भाग देने की चर्चा है।"[८१] इससे स्पष्ट है कि वेदानुयायी राजा भी बुद्ध मन्दिर को दिये गये दान का सम्मान करता था। कई उदाहरण ऐसे भी मिलते है जो यह सिद्ध करते हैं कि राजाओं ने प्रतिग्रहीता की भूमि खरीदकर पुनः उसे दान में दे दी।[८२] राजा लोग दान में दी हुयी भूमि से किसी प्रकार का कर नहीं लेते थे।[८३] भूमि या ग्राम के दान-पत्रों में आठ भोगों का वर्णन मिलता है।[८४] विरूपाक्ष के श्रीशैल-पत्रों में इन भोगों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं- निधि, निक्षेप(भूमि पर जो कुछ दिया गया हो), वारि (जल), अश्मा (प्रस्तर, खानें), अक्षिणी (वास्तविक-विशेषाधिकार), आगामी (भविष्य में होने वाला लाभ), सिद्ध (जो भू-खण्ड कृषि के काम में ले लिया है) एवं साध य(बंजर भूमि, जो कभी खेती के काम में आ सकती है)। एपिग्रैफिया इण्डिका तथा इण्डियन ऐन्टीक्वेरी में इन शब्दों का विस्तृत अर्थ उपलब्ध होता है।[८५]

अब प्रश्न यह उठता है कि भूमि पर किसका स्वामित्व होता था? इस प्रश्न पर धर्मशास्त्रकार तथा नीति निर्माता एक मत नहीं हैं। इस सन्दर्भ में विद्वानों ने अलग-अलग मत दिये हैं। जैमिनी ने लिखा है कि विश्वजित यज्ञ में (जिसमें याज्ञिक अर्थात् यज्ञ करने वाला अपना सर्वस्व दान कर देता है) सम्राट भी सम्पूर्ण पृथ्वी का दान नहीं कर सकता, क्योकि पृथ्वी सबकी है अर्थात् सम्राट तथा उनकी जो इसे जोतते हैं और प्रयोग में लाते हैं।[८६] शबर ने जैमिनि की इस उक्ति की व्याख्या की है और अन्त में कहा है कि पृथ्वी पर सम्राट एवं अन्य लोगों के अधिकारों में कोई अन्तर नहीं है। व्यवहारमयूख में भी इसी मत की पुष्टि की गयी है।[८७] उपर्युक्त मत के अनुसार पृथ्वी के भूखण्डों पर उनका अधिकार है जो इसे जोतते-बोते हैं, राजा को केवल कर एकत्र करने का अधिकार है। जब राजा स्वयं भूमि खरीद लेता है तो उसे उस भूमि को दान रूप में देने का पूर्ण अधिकार है। इससे स्पष्ट है कि भूमि पर राज्य का स्वामित्व नहीं है, वह केवल कर लेने का अधिकारी है।

एक दूसरा मत यह है कि राजा ही भूमि का स्वामी है, प्रजाजन केवल उसके उपभोक्ता मात्र है। मिताक्षरा ने याज्ञवल्वय स्मृति का उद्धरण देते हुये लिखा है कि भूदान करने या निबन्ध ा देने का अधिकार केवल राजा को है न कि किसी जनपद के शासक को , यथा-

"अनेन भूपतेरेव भूमिदाने निबन्धदाने वाधिकारे न भोगपतेरिति दर्शितम।"[८८]

प्राचीनकाल में भी दान सम्बन्धी ताम्रपत्रों की बड़ी महत्ता थी और कभी-कभी लोग कपटलेख का सहारा लेकर भू-सम्पत्ति पर अधिकार जताते थे। उदाहरणार्थ हर्षवर्द्धन के धुवन ताम्रपत्र में वामरथ्य नामक ब्राह्मण के (सोमकुण्ड के ग्राम के विषय में) कूटलेख का प्रमाण मिलता है।[८९] मनु ने इस प्रकार के कृत्य को अक्षम्य मानते हुए कहा है कि 'कपटाचरण से राजकीय आज्ञाओं की प्राप्ति पर मृत्युदण्ड की व्यवस्था की जानी चाहिए।'[९०]

भूमि पर स्वामित्व के सन्दर्भ में मनु तथा अन्य स्मृतिकारों का यह मत है कि कर्षित

भूमि (खेती के काम में लायी जाने वाली भूमि) पर कृषकों का स्वामित्व था और राजा को इसकी रक्षा करने के बदले में कर दिया जाता था। मनु का कथन है कि "राजा को पशुओं एवं सोने का १/५० भाग, अनाजों का १/६, १/८ या १/१२ भाग तथा वृक्षों, माँस, मधु, घृत, गंधों, जड़ी-बूटियों (औषधियों), तरल पदार्थों (मदिरा आदि पुष्पों), जड़-मूलों, फलों आदि का १/६ भाग लेना चाहिये।"[६१] मनु ने अप्रत्याशित अवसरों पर भूमि की उपज पर १/४ भाग तक कर लगा देने की व्यवस्था दी है।[६२] मनु ने लिखा है कि भूमि उसी की है, जो घास, फूस, झाड़ आदि को दूर कर उसे खेती के योग्य बनाता है।[६३] मनु ने आगे लिखा है कि भूमि में गड़े धन या खान में पाये गये धन का स्वामी राजा इसीलिये होता है क्योंकि वह पृथ्वी का शासक और रक्षक है।[६४] मनु की इस उक्ति से स्पष्ट है कि मनु राजा को भूमि का स्वामी नहीं मानते थे। यदि मनु राजा को भूमि का स्वामी मानते होते तो वे गड़े हुये धन तथा खानों की सम्पत्ति पर राजा का पूर्ण अधिकार बताते न कि केवल थोड़ा भाग पा लेने का अधिकारी बताते। मनु ने समय पर खेती न करने वाले कृषकों के लिये दण्ड की व्यवस्था दी है।[६५] इस दण्ड का अर्थ केवल इतना ही है कि खेती ने करने से राजा का भाग मारा जाता है, क्योंकि व्यक्ति द्वारा समय से खेत जोतने-बोने से राजा को कर के रूप में अपना भाग मिलता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनु कृषकों को अर्थात् खेती करने वालों को ही भूमि का स्वामी मानते थे, वे राजा को केवल कर या भाग लेने का अधिकारी मानते थे। इस मत की पुष्टि राजाओं के उस कृत्य से भी होती है जिसमें राजा कृषकों से भूमि खरीदकर प्रतिग्रहीता ब्राह्मणों या धार्मिक स्थानों को दान करते थे। हाँ वह भूमि जो कर्षित नहीं थी, वह राजा के पूर्ण अधिकार में थी। मनु के मतानुसार राजा को एक ग्राम के लिये एक मुखिया तथा दस, बीस, सौ एवं एक सहस्त्र ग्रामों के लिये अधिकारी नियुक्त करने चाहिये, जिन्हें अपने ऊपर के अधिकारी को अपनी सीमा के अपराधों तथा अन्य बातों की सूचना देनी चाहिये। मुखिया को भोजन, ईंधन आदि के लिये अर्थात् अपनी जीविका के लिये गाँव पर ही निर्भर रहना पड़ता था (वह उतना पा सकता था, जितना कि राजा गाँव से प्रतिदिन पाने का अधिकारी था), तथा अन्य अधिकारियों को भूमि दान में मिलती थी (वैसी ही भूमि जो कर्षित नहीं होती थी)।[६६] इस सन्दर्भ में कौटिल्य का कहना है कि 'खेती के योग्य बनायी गयी भूमि कृषकों को दी जानी चाहिये, क्योंकि वे जीवन भर कर देंगें, किन्तु जो खेत नहीं जोतते उनकी भूमि जब्त कर दूसरों को दे दी जानी चाहिये, किन्तु अध्यक्षों, आय-व्यय का ब्यौरा रखने वालों तथा अन्य लोगों को दी गयी भूमि न तो उनके द्वारा बेची जा सकती थी और न बन्धक रखी जा सकती थी।[६७] अति प्राचीन काल से ब्राह्मणों को दान में दिये गये ग्राम या भूमिखण्ड अग्रहार के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों में इनकी चर्चा अनेको बार आयी है।[६८]

(२) महादान– धर्मशास्त्रों के अनुसार कुछ विशिष्ट वस्तुओं के दान को महादान कहा जाता था। इसका उल्लेख अग्नि पुराण में मिलता है। अग्नि पुराण के अनुसार 'पूजन करके हाथ में जल लेकर संकल्प के साथ निम्न वस्तुओं का दान महादान है– स्वर्ण, तिल, हाथी, दासी, रथ, भूमि, गृह,

कन्या और कपिला गाय।[९९] अन्य पुराणों में महादानों की संख्या १६ बताई गयी है, इनमें तुलादान, स्वर्ण, ब्राह्माण्ड, कल्पवृक्ष, गोसहस्त्र, कामधेनु, हेमहस्तिरथ, पंचलांगल धरादान, विश्वचक्र कल्पलता, सप्तसागर, रत्नधेनु, महाभूतघट आदि वस्तुओं के नाम गिनाये गये हैं। लिंग पुराण में भी महादानों का उल्लेख मिलता है लेकिन इस पुराण में महादानों के उपर्युक्त नामों में कुछ विभिन्नता है।[१००] महाभारत में इसके लिये महादानानि शब्द का प्रयोग किया गया है।[१०१] हाथी गुम्फा अभिलेख में कल्पवृक्ष दान का उल्लेख मिलता है।[१०२] बाणभट्ट ने भी अपने ग्रन्थ हर्षचरित में महादानों तथा गोसहस्त्र नामक महादान की चर्चा की है।[१०३] उषवदात ने जिन वस्तुओं का दान किया था, उनमें कुछ महादानों की सूची में आते हैं।[१०४] अभिलेखों में तुलापुरूष का उल्लेख कई बार हुआ है।[१०५] बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन ने हेमाश्वरथ नामक महादान करते समय एक ग्राम दान में दिया था।[१०६] अमोघवर्ष के संजन पत्रों में हिरण्यगर्भ नामक महादान की चर्चा हुयी है।[१०७] मत्स्यपुराण में भी महादान का उल्लेख मिलता है इसमें कहा गया है कि वासुदेव, अम्बरीष, भार्गव, कार्तवीर्य-अर्जुन, राम, प्रहलाद, पृथु एवं भरत नें महादान किये थे।[१०८]

महादान देने की विधि– मत्स्यपुराण, हेमाद्रि कृतदानखण्ड, लिंग पुराण, गरूड़ पुराण तथा दानमयुख आदि ग्रन्थों में महादान देने की विधि का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।[१०९] मत्स्यपुराण में महादान देने के लिये मण्डप के निर्माण के विषय में नियम दिये है तदनुसार मण्डप कई प्रकार के होते हैं अर्थात् उनकी आकृतियाँ कई प्रकार की हो सकती है और उनके आकार भी विविध ढंग के हो सकते हैं, यथा १६ अरत्नियों वाले (१ अरत्नि=दाता के २१ अंगुल की) या १२ या १० हाथ वाले, जिनमें चार द्वार और एकवेदी का होना आवश्यक है। वेदी ईंटों से बनी ७ या ५ हाथ की होनी चाहिये, छादन सँभालने के लिये एक तनोवा होना चाहिये, ८ या५ कुण्ड होने चाहिये। दो-दो मंगल घट मण्डप के प्रत्येक द्वार पर होने चाहिये, तुला दो पलड़े वाली होनी चाहिये, जिसकी डाँड़ी अश्वत्थ, बिल्व पलाश आदि की लकड़ी की होनी चाहिये और उसमें सोने के आभूषण जड़े होने चाहिये। चारों दिशाओं में चार वेदज्ञ ब्राह्मण बैठने चाहिये, यथा पूर्व में ऋग्वेदी, दक्षिण में यजुर्वेदी, पश्चिम में सामवेदी एवं उत्तर में अथर्ववेदी। इसके उपरान्त गणेश, ग्रह, लोकपालों, आठ वसुओं, आदित्यों, मरूतों, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, औषधियों को चार-चार आहुति होम किया जाता है तथा इनसे सम्बन्धित वैदिक मंत्र पढ़े जाते हैं।

पुराणों में महादानों की संख्या १६ स्वीकार की गयी है इनका विवरण निम्नवत है-

(१) तुला–पुरूष– तुलापुरूष दान करने के लिये होम के उपरान्त गुरू, पुष्प एवं गन्ध के साथ पौराणिक मन्त्रों का उच्चारण करके लोकपालों (यथा इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरूण, वायु, सोम, ईशान, अनन्त एवं ब्रह्मा) का आवाहन करते है। इसके उपरान्त दाता सोने के आभूषण, कर्णाभूषण, सोने की सिकड़ियाँ, कंगन, अंगूठियाँ एवं परिधान पुरोहितों को तथा इनके दूने पदार्थ गुरू को देने के लिये प्रस्तुत करता है। तब ब्राह्मण शान्ति-सम्बन्धी वैदिक मन्त्रों का पाठ करते हैं। इसके उपरान्त दाता पुनः स्नान करके श्वेत पुष्पों की माला पहन कर तथा हाथों में पुष्प लेकर तुला

का (कल्पित विष्णु का) आवाहन करता है और तुला की परिक्रमा करके एक पलड़े पर चढ़ जाता है, दूसरे पलड़े पर ब्राह्मण लोग सोना रख देते हैं। इसके उपरान्त पृथ्वी का आवाहन हाता है और दाता तुला को छोड़कर हट जाता है। फिर वह सोने का आधा भाग गुरू को तथा दूसरा भाग ब्राह्मणों को उनके हाथों पर जल गिराते हुये देता है। दाता अपने गुरू एवं ऋत्विजों को ग्राम-दान भी कर सकता है। इस दान का फल बताते हुये कहा गया है कि जो यह कृत्य करता है, वह अनन्त काल तक विष्णुलोक में निवास करता है। यही विधि रजत या कर्पूर तुलादान में भी अपनायी जाती है।[११०] प्राचीनकाल में राजा लोग तुलापुरूष महादान करते थे, कभी-कभी मन्त्रियों द्वारा भी तुलापुरूष महादान किये जाने के उदाहरण प्राप्त होते हैं।[१११]

(२) हिरण्यगर्भ- इस दान का उल्लेख मत्स्यपुराण और लिंग पुराण में मिलता है।[११२] इस दान में मण्डप, काल, स्थल तथा पदार्थ का ध्यान रखते हुये दान किया जाता है। दान दाता एक सोने का कुण्ड (थाल या परात या बरतन) जो ७२ अंगुल ऊँचा, ४८ अंगुल चौड़ा तथा आकृति में मृदंगाकार होता है, लाता है। यह स्वर्णिम पात्र जो हिरण्यगर्भ कहलाता है तिल की राशि पर रखा जाता है। इसके बाद पौराणिक मन्त्रों के बीच मृदंगाकार कुण्ड में दानदाता सिकुड़ कर बैठ जाता है उसके पश्चात् गुरू स्वर्णपात्र के ऊपर गर्भाधन, पुंसवन तथा सीमन्तोनयन मंत्रों का उच्चारण करता है। उसके बाद गुरू उसे गायन वादन के साथ बाहर निकलने का आदेश देता है। इसके उपरान्त शेष बारहो संस्कार प्रतीकात्मक ढंग से सम्पादित किये जाते हैं। दाता हिरण्यगर्भ के लिये मन्त्रपाठ करता है और कहता है-"पहले मै मरणशील के रूप में माँ से उत्पन्न हुआ था, किन्तु अव आप से उत्पन्न होने के कारण दिव्य शरीर धारण करूँगा।" इसके उपरान्त दाता सोने के आसन पर बैठकर 'देवस्य त्वा' नामक मन्त्र के साथ स्नान करता है और हिरण्यगर्भ को गुरू एवं अन्य ऋत्विजों में बाँटता है।

(३) ब्रह्माण्ड- इस दान का उल्लेख मत्स्य पुराण में उपलब्ध होता है।[११३] इस दान में दो ऐसे स्वर्ण पात्र निर्मित होते हैं, जो गोलार्ध के दो भागों के समान होते हैं जिनमे एक धौ (स्वर्ग) तथा दूसरा पृथ्वी माना जाता है। ये दोनों अर्धपात्र दाता की सामर्थ्य के अनुसार बीस से लेकर एक सहस्त्र पलों के वजन के हो सकते हैं और उनकी लम्बाई-चौड़ाई १२से१०० अंगुल तक हो सकती है। इन दोनों अर्धो पर आठ दिग्गजों, वेदों, छः अंगों, अष्ट लोकपालों, ब्रह्मा (मध्य में), शिव, विष्णु, सूर्य (ऊपर), उमा, लक्ष्मी वसुओं, आदित्यों (भीतर) मरूतों की आकृतियाँ (सोने की) होनी चाहिये। दोनों को रेशमी वस्त्र से लपेटकर तिल की राशि पर रख देना चाहिये और उनके चतुर्दिक १८ प्रकार के अन्न सजा देने चाहिये। इसके उपरान्त आठों दिशाओं में, पूर्व दिशा से आरम्भकर अनन्तशयन(सर्प पर सोये हुये विष्णु), प्रघुम्न, प्रकृति, संकर्षण, चारो वेदों, अनिरुद्ध, अग्नि, वासुदेव की स्वर्णिम आकृतियाँ क्रम से सजा देना चाहिये। वस्त्रों से ढके हुये दस घट पास में रख देने चाहिये। स्वर्णजटित सीगों वाली दस गायें, दूध दुहने के लिये वस्त्रों से ढके हुये काँस्य पात्रों के साथ दान में दी जानी चाहिये साथ ही चप्पलों, छाताओं, आसनो, दर्पणों की भेट भी दी जानी

चाहिये। इसके उपरान्त सोने के पात्र (जिसे ब्रह्माण्ड कहा जाता है) का पौराणिक मन्त्रों के साथ सम्बोधन होता है और सोना गुरू एवं ऋत्विजों या पुरोहितों में (दो भाग गुरु को तथा शेषांश आठ ऋत्विजों को) बाँट दिया जाता है।

४. कल्पपादप या कल्पवृक्ष- इस दान का उल्लेख मत्स्यपुराण और लिंग पुराण में मिलता है।[११४] इस दान के अनुसार भाँति-भाँति के फलों, आभूषणों एवं परिधानों से सुसज्जित कल्पवृक्ष का निर्माण किया जाता है। फिर दाता अपनी सामर्थ्य के अनुसार ३ रत्ती से लेकर एक सहस्त्र रत्ती तक का एक कल्पवृक्ष बनाता है, यह अर्द्ध स्वर्ण का होता है। इसमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य आदि की आकृतियाँ बनायी जाती हैं। इसमें पाँच शाखायें तथा ४ टहनियाँ होती हैं, जिन्हें क्रम से पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में रख दिया जाता है, उस वृक्ष के नीचे कामदेव एवं उसकी चार स्त्रियों की आकृति रख दी जाती है, इसके पश्चात् ८ जल से भरे हुए कलश वस्त्र से ढककर दीपक सहित रख दिये जाते हैं, इसके साथ छाता भी रखा जाता है तथा १८ प्रकार का अनाज भी रखा जाता है, फिर कल्पवृक्ष की पूजा की जाती है। यह कल्पवृक्ष गृरु को दान दिया जाता है और टहनियाँ चार पुरोहितों को दान स्वरूप दी जाती हैं। अपरार्क का कथन है कि "सन्तानहीन स्त्री एवं पुरुष को यह महादान करना चाहिए।"[११५]

५. गोसहस्त्र- इस दान का उल्लेख मत्स्य पुराण एवं लिंग पुराण में मिलता है।[११६] इस दान के अन्तर्गत दानदाता को दो-तीन दिन पहले केवल दूध पीकर रहना चाहिए। इसके पश्चात् लोकपालों का आवाहन करके होम आदि करना चाहिए फिर सुनहले रंग के बैल के शरीर पर सुगन्धित पदार्थ का लेप करके उसे यज्ञ वेदी के पास खड़ा करना चाहिए, फिर १००० गायों में ये १० गायों का चुनाव करना चाहिए। उनके ऊपर कपड़ा डालना चाहिए, फिर उनके सींगों को सोने से मढ़ा जाय और खुरों को चाँदी से मढ़ा जाय तथा १० गायों के मध्य में नन्दीश्वर को खड़ा किया जाय, उसके गले में घंटी तथा ऊपर रेशमी वस्त्र डाले जायं तथा उसके सींगों को भी सोने से मढ़ा जाय। उसके पश्चात् दाता औषधियों के जल से स्नान करे, तत्पश्चात् नन्दी को धर्म कहकर पुकारे, इसके पश्चात् गृरु को दो गायें तथा नन्दी की स्वर्ण आकृति दान में दे। शेष गायों को अन्य ब्राह्मणें को दान में दे दे। यह व्रत पितरों की रक्षा के लिये किया जाता है।

६. कामधेनु- इस दान का उल्लेख भी मत्स्य पुराण और लिंगपुराण में मिलता है।[११७] मत्स्य पुराण के अनुसार गाय और बछड़े की दो आकृतियाँ बनायी जाती हैं। इन आकृतियों की तौल १०००रत्ती, ५००रत्ती, २५०रत्ती या केवल तीन रत्ती हो सकती है। एक वेदी पर काले मृग का चर्म बिछा देना चाहिए जिस पर सोने की गाय, ८ मंगल घट, फल, १८ प्रकार के अनाज, छाता, ताम्रपात्र, दिया, दो रेशमी वस्त्र, गायों की गले की घंटियाँ आदि रख दी जाती हैं। दाता पौराणिक मंत्रों के साथ गाय का आवाहन करता है और तब गुरु को गाय एवं बछड़े का दान किया जाता है।

७. हिरण्याश्व- इस दान का उल्लेख मत्स्य पुराण में मिलता है।[११८] एक वेदी पर मृगचर्म

बिछाकर उस पर तिल रखे जाते हैं। कामधेनु की तौल के बराबर एक स्वर्ण अश्व तैयार किया जाता है। दानदाता स्वर्ण के घोड़े का भगवान के रूप में आवाहन करता है और वह आकृति गुरु को दान में देता है, अश्व के पैर और मुँह में चाँदी की चद्दर चढ़ाने का भी निर्देश प्राप्त होता है।[११६]

८. **हिरण्याश्वरथ**- इस दान का उल्लेख भी मत्स्य पुराण में मिलता है।[१२०] इस दान के सम्वन्ध में मत्स्य पुराण में इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है- सात या चार घोड़ों, चार पहियों एवं ध्वजा वाला एक सोने का रथ बनवाना चाहिए। ध्वजा पर नीले रंग का कलश रहना चाहिए। चार मंगल घट होने चाहिए। इस हिरण्याश्वरथ का दान, चामरों, छाता, रेशमी परिधानों एवं सामर्थ्य के अनुसार गायों के साथ करना चाहिए।

९. **हेमहस्तिरथ**- मत्स्यपुराण में इस दान का उल्लेख मिलता है।[१२१] इस ग्रन्थ के अनुसार चार पहियों के मध्य में आठ लोकपालों, ब्रह्मा, शिव, सूर्य, नारायण, लक्ष्मी एवं पुष्टि की आकृतियों के साथ खिलौने के आकार का एक सोने का रथ बनवाना चाहिए। रथ की ध्वजा पर गरुड़ एवं स्तम्भ पर गणेश की आकृति होनी चाहिए। रथ में चार हाथी होने चाहिए। मंत्रोच्चार के साथ आवाहन के बाद रथ को दान में देना चाहिए।

१०. **पंचलांगलक**- इस दान का उल्लेख भी मत्स्यपुराण में ही मिलता है।[१२२] इस दान में मजबूत लकड़ी के पाँच हल बनवाये जाते हैं। इसमें सोने के पाँच फाल लगाये जाते हैं। दस बैलों को सजाकर उनके सींगों में सोना मढ़कर, पूँछ में मोती लटकाकर, खुरों में चाँदी मढ़कर दान में देना चाहिए। इसके साथ भूमि या ग्रामदान भी करना चाहिए तथा ब्राह्मणों को पत्नी सहित सोने की सिकड़ियों, अंगूठियों, कंगनों एवं रेशमी वस्त्रों को दान में देना चाहिए।

११. **धरादान या हैमधरादान**- मत्स्यपुराण में ही इस दान का भी उल्लेख मिलता है।[१२३] इस दान में पाँच रत्ती से लेकर १०००रत्ती सोने की पृथ्वी का निर्माण करवाना चाहिए। पृथ्वी की आकृति जम्बूद्वीप जैसी हो जिसमें किनारे पर अनेक पर्वत, मध्य में मेरुपर्वत तथा सातो समुद्र की आकृतियाँ होनी चाहिए। इसके पश्चात् पृथ्वी का आवाहन करके इसके स्वर्ण को १/२ अथवा १/४ भाग गुरु को तथा शेष भाग पुरोहितों को बाँट दिया जाता है।

१२. **विश्वचक्र**- इस दान का उल्लेख भी मत्स्यपुराण में मिलता है।[१२४] इस दान में सोने के एक चक्र का निर्माण किया जाता है। इसमें १६ तीलियाँ एवं ८ मण्डल बनाये जाते हैं। दानदाता अपनी सामर्थ्य के अनुसार २०रत्ती से लेकर १०००रत्ती तक का चक्र बनवा सकता है। इसके प्रथम मध्य भाग पर योगी की मुद्रा में विष्णु की आकृति तथा इसी के समीप शंख, चक्र और आठ देवियों की आकृतियाँ बनायी जाती हैं। दूसरे मण्डल पर अत्रि, भृगु, वशिष्ठ, ब्रह्मा, कश्यप तथा दस अवतारों की आकृतियाँ होती हैं। तीसरे मण्डल पर गौरी तथा माता देवी की आकृतियाँ होती हैं, चौथे मण्डल पर १२ आदित्यों तथा ४ वेदों की आकृतियाँ होती हैं, पाँचवें मण्डल पर ५ भूतों (छिति, जल, पावक, गगन और समीर) की आकृति होती है। छठे मण्डल में आठ लोकपालों एवं

दिशाओं की एवं आठ हाथियों की आकृति होती है। सातवें मण्डल में आठ अस्त्र-शस्त्रों की आकृति एवं मंगलमय वस्तुएं होती हैं, तथा आठवें मण्डल में सीमा के देवताओं की मूर्तियाँ बनी रहती हैं। दाता इस चक्र को आवाहन करके दान देता है।

१३. महाकल्पलता- इस दान का उल्लेख भी मत्स्यपुराण में मिलता है।[१२५] इस दान में विभिन्न पुष्पों और फलों की आकृतियों के साथ सोने की दस कल्पलतायें बनाना चाहिए, जिन पर विद्याधरों की जोड़ियाँ, लोकपालों से मिलते हुए देवताओं एवं ब्राह्मी, अनन्त शक्ति, आग्नेयी, वारुणी तथा अन्य शक्तियों की आकृतियाँ होनी चाहिए, सबके ऊपर एक बितान की आकृति होनी चाहिए। वेदी पर खिंचे हुए एक वृत्त के मध्य में दो कल्पलताएं तथा वेदी की आठो दिशाओं में अन्य आठ कल्पलतायें रख दी जाती हैं। इनके साथ दस गायें और मंगलघट भी रखे जाते हैं। इनमें दो कल्पलताएं गुरु को तथा अन्य आठ कल्पलतायें पुरोहितों को दान में दी जानी चाहिए।

१४. सप्तसागरक- इस दान का भी उल्लेख मत्स्यपुराण में मिलता है।[१२६] इस दान में दाता अपने सामर्थ्य के अनुसार ७रत्ती से लेकर १०००रत्ती तक के साढ़े दस अंगुल चौड़े, २१ अंगुल लम्बे, त्रिभुजाकार, ७ कुण्ड बनाये, इन कुण्डों में नमक, दूध, घृत, गन्ने का रस, दही, चीनी एवं पवित्र जल भरे। इन कुण्डों में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, इन्द्र, लक्ष्मी एवं पार्वती की आकृतियाँ डुबो देनी चाहिए। उनमें सभी प्रकार के रत्न डाले जाने चाहिए तथा उसके चारो ओर सभी प्रकार के अनाज रखना चाहिए। वरुण का होम करके सातो समुद्रों का (कुण्डों के प्रतीक रूप में) आवाहन करना चाहिए और इसके उपरान्त इनका दान करना चाहिए।

१५. रत्नधेनु- इस दान में बहुमूल्य रत्नों से गाय की एक आकृति बनायी जाती है। उस आकृति के मुँह के समीप ८१ कमल के फूल के पत्ते तथा नाक की पोर के ऊपर १०० कमल के पत्ते, मस्तक पर स्वर्णिम तिलक, आँखों में १०० मोती, भौंहों पर १०० सीपियाँ, कान के स्थान पर सीपी के दो टुकड़े, सोने के सींग, सिर पर १०० हीरे, गर्दन पर १०० हीरे, पीठ पर १०० नीलमणि, पैरों में १०० वैदूर्य मणियाँ, पेट पर स्फटिक पत्थर, कमर में १०० सौगन्धिक पत्थर, सोने के खुर तथा साने की पूँछ का निर्माण किया जाता है। इसकी जीभ शक्कर की, मूत्र घृत का तथा गोबर गुड़ का बनाया जाता है। बाद में गाय एवं बछड़े को दान में दे दिया जाता है।

१६. महाभूतघट- इस दान का उल्लेख मत्स्यपुराण में मिलता है।[१२७] इस दान में साढ़े दस अंगुल से लेकर १०० अंगुल के त्रिभुज पर बहुमूल्य रत्नों को बिखेर दिया जाता है तथा उसके ऊपर स्वर्णघट रखा जाता है। इस घट को दूध और घी से भरा जाता है। घट में ब्रह्मा, विष्णु, महेश की आकृतियाँ बनायी जाती हैं। कूर्म द्वारा उठायी गई पृथ्वी, मकर के साथ वरुण, भेड़े के साथ अग्नि, मृग के साथ वायु, चूहे के साथ गणेश, अतिरिक्त उपमाला के साथ ऋग्वेद, कमल के साथ यजुर्वेद, बाँसुरी के साथ सामवेद और करछुलों के साथ अथर्ववेद तथा जयमाला एवं जलपूर्ण कलश के साथ पुराणों की आकृतियाँ घट में रखी जाती हैं। इसके पश्चात् स्वर्णघट दान में दे दिया जाता है।

३. गोदान– वैदिक ग्रन्थो और स्मृतियों में गोदान की बहुल अधिक प्रसंशा की गई है। मनुस्मृति के अनुसार गोदान देने वाला व्यक्ति सूर्यलोक में जाता है। यथा–

''वासोदश्चन्द्र सालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः। अनडुहः श्रिय पुष्टां गोदो व्रघ्नस्य विष्टपम्।।''[१२८]

अर्थात् वस्त्रदाता चन्द्रलोक, घोड़ादान करने वाला अश्विनी कुमार लोक, वृषभ का दाता लक्ष्मीलोक, गोदान करने वाला सूर्यलोक प्राप्त करता है।

मनु स्मृति के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य स्मृति[१२६] और अग्निपुराण[१३०] में भी इसका उल्लेख मिलता है। शास्त्रों के अनुसार दान में दी जाने वाली गाय के सींग तथा खुर सोने और चाँदी से जड़े होने चाहिए। गाय के साथ गाय के गले की घंटी, दूध दुहने का पात्र तथा गाय के ऊपर के वस्त्र दान में देना चाहिए। गाय सीधी होना चाहिए, मरकही नहीं होनी चाहिए। गोदान के साथ दक्षिणा देना अनिवार्य है। महाभारत के अनुशासन पर्व में इस बात का उल्लेख मिलता है कि गाय, यज्ञ का मूलभूत साधन है। वह हमें दूध देती है उसकी सन्तानें (बैल) कृषि कार्य में सहयोग देते हैं।[१३१] गोदान में कपिला गौ के दान का महत्व सर्वाधिक है। कपिला गाय का दाता अपने साथ अपनी सात पीढ़ियों को तार देता है।[१३२] वाराह पुराण में गोदान की विधि का वर्णन किया गया है, तद्नुसार ''कपिला गाय को बछड़े के साथ पूर्व की ओर मुँह करके, स्नान करके तथा शिखा बाँधकर गाय की पूजा करनी चाहिए। दाता को गाय की पूँछ के पास बैठना चाहिए, प्रतिग्रहीता उत्तर की ओर मुँह करके बैठता है, दाता अपने हाथ में घृतपूर्ण पात्र लेता है जिसमें एक सोने का टुकड़ा रख देता है। गाय की पूँछ को मक्खन में डुबोकर प्रतिग्रहीता के दाहिने हाथ में पकड़ा देता है, उस समय गाय की पूँछ वाला भाग पूर्व दिशा की ओर रखा जाता है। इस समय प्रतिग्रहीता के हाथ में जल, तिल एवं कुश रख दिये जाते हैं। दाता अपने हाथ में जलपात्र लेकर पौराणिक मन्त्रों के साथ जल छिड़कता है, दक्षिणा देता है। जब गाय प्रतिग्रहीता के साथ चलने लगती है तो वह कुछ कदम आगे बढ़कर गाय की स्तुति करता है।[१३३]

अग्निपुराण में उल्लिखित है कि ''मरणासन्न व्यक्ति काली गाय का दान करे क्योंकि वह यमलोक की नदी पार करने के लिये वैतरणी का काम देती है। याज्ञवल्क्य स्मृति, अग्निपुराण, विष्णुधर्मसूत्र, महाभारत, अत्रिसंहिता तथा वाराहपुराण में तुरन्त बछड़ा देने वाली गाय का दान उत्तम माना गया है।[१३४] ऋग्वेद में भी गोदान का उल्लेख मिलता है, तद्नुसार दानदाता को यज्ञ में ८४ आहुतियाँ देनी चाहिए, ब्राह्मणों को भोजन दान देकर उनसे आशीर्वाद लेना चाहिए। गाय के साथ सोना, चाँदी, खेत, अनाज, वस्त्र, नमक, चन्दन आदि भी दान में देना चाहिए।[१३५]

४. धेनुदान– गोदान की नकल करके एक अन्य दान का प्रतिपादन धेनुदान के नाम से किया गया। इस दान के सन्दर्भ में विस्तृत जानकारी हमें मत्स्यपुराण से मिलती है।[१३६] दस प्रकार की वस्तुओं को धेनुदान के नाम से पुकारा गया है ये वस्तुएं हैं- गुड़, घृत, तिल, जल, क्षीर, मधु, शर्करा, दधि, रस एवं गाय। गोदान और धेनुदान की विधि एक ही है, इसके अलावा दो पदार्थ स्वर्ण और नवनीत धेनुदान में और शामिल किये गये। धेनुदान के अतिरिक्त अन्य धेनुओं के नाम भी

मिलते हैं, यथा- सुवर्णधेनु, नवनीत धेनु (मक्खन की गाय) एवं रत्नधेनु। अग्निपुराण में भी दस धेनुओं के नाम मिलते हैं।[१३७] धेनुदान का उल्लेख महाभारत, वाराहपुराण में भी मिलता है।[१३८]

हेमाद्रि कृत दानखण्ड तथा दानमयूख आदि ग्रन्थों में धेनुदान देने की विधि का वर्णन मिलता है, तद्नुसार[१३९] ४ हाथ लम्बा काला मृगचर्म, गोबर से लिपी भूमि पर बिछा दिया जाता है, उस मृगचर्म के ऊपर कुशा बिछायी जाती है, इन्हें गाय का स्वरूप माना जाता है तथा एक छोटे मृगचर्म को बछड़े का रूप माना जाता है गाय की माप के अनुसार २ या ४ पारी गुड़ और इसका चौथाई भाग बछड़े के भाग का गुड़ रखा जाता है इसके साथ शंख, ईख के टुकड़े, मोती, छाता, सीपी आदि रखे जाते हैं। इनकी पूजा धूप, दीप आदि से की जाती है उसके पश्चात यह सामान दान में दिया जाता है।

५. पर्वत दान- विविध पुराणों में पर्वत दान का उल्लेख मिलता है। मत्स्य पुराण के अनुसार अनाज, नमक, गुड़, सोना, तिल, कपास, घृत, रत्न, रजत एवं शक्कर का दान पर्वत दान कहलाता है।[१४०] अग्नि पुराण में भी इस दान का विवरण उपलब्ध होता है।[१४१] किन्तु हेमाद्रि कृत दानखण्ड में कालोत्तर शैव धर्म का उदाहरण देते हुए पर्वत दान के लिये १२ वस्तुओं के नाम गिनायें गयें हैं। इन्हें पर्वतदान इसलिये कहा जाता है क्योंकि दान में देने वाले पदार्थ पहाड़ों की भाँति रखकर दान में दिये जाते हैं।[१४२]

शास्त्रानुसार पर्वतदान देने की विधि भी अन्य दानों के समान है। इसमें एक ऐसा वर्गाकार स्थान चुना जाता है जिसका झुकाव उत्तर-पूर्व अथवा पूर्व की ओर हो। उस स्थान पर गोवर का लेपन किया जाता है तत्पश्चात वहाँ कुशा विछा दिया जाता है। दान देने वाली वस्तुओं की एक राशि मध्य में तथा अन्य राशियाँ उसके अगल-बगल पर्वतों की भाँति बना दी जाती हैं। इन राशियों के मध्य में सोने के तीन वृक्ष तथा चारो दिशाओं में क्रम से मोती, गोमेद, पुष्पराग, मरकत एवं नीलमणि के वैदूर्य व कमलवत् पौधे बनाने चाहिए। मत्स्य पुराण में ८१ देवाकृतियों का उल्लेख मिलता है, ये आकृतियाँ स्वर्ण और रजत की होती हैं, इस दान यज्ञ में एक गुरु तथा चार पुरोहित यज्ञ करते हैं, इसमें १३-१३ आहुतियाँ प्रत्येक देवता के नाम की दी जाती हैं। नमक दान में एक से लेकर १६ द्रोण नमक, स्वर्ण दान में १ रत्ती से लेकर १००० रत्ती तक, तिलदान में ३ द्रोण से १० द्रोण तक, कपास दान में ५ भार से लेकर २० भार तक, घृतदान में २ घट से लेकर २० घट तक, रत्नदान में २०० मोती से लेकर १००० मोती तक का दान दिया जाता है। बहुमूल्य रत्नों वाली पहाड़ियों में मोतियों का १/४ भाग तथा कपास दान में २० पल, शर्करा दान में १०००० पल, इसी प्रकार से आधे-आधे ८ भारों का प्रयोग होता है।

६. पशुओं, वस्त्रों, मृगचर्म तथा प्रपा आदि का दान- स्मृतियों, पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों में हाथियों, घोड़ों, भैसों, वस्त्रों, मृगचर्म, छाता, जूता आदि के दान का उल्लेख मिलता है। इस दान में जलदान का भी उल्लेख मिलता है। चैत्रमास में यात्रियों को जल पिलाने के लिये एक मण्डप निर्माण अथवा पौशाले निर्माण का उल्लेख मिलता है। इस पौशाले का निर्माण

नगर के मध्य भाग में अथवा ऐसे स्थान में जहाँ जल उपलब्ध न हो अथवा किसी मन्दिर के पास इसका निर्माण कराया जाता था। इसमें पानी पिलाने के लिये एक ब्राह्मण नियुक्त किया जाता था, यह पौशाला गर्मी में चार महीने तक चलता था।[१४३]

७. पुस्तक दान- धार्मिक ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों का दान पुस्तक दान कहलाता है। इस दान का उल्लेख अपरार्क एवं हेमाद्रि ने अपने दानखण्ड में किया है।[१४४] पुस्तक दान की प्रसंशा भविष्योत्तर पुराण, मत्स्य पुराण एवं अन्य पुराणों में की गई है। इस दान में रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्रों एवं पुराणों की हस्तलिखित प्रतियों का दान किया जाता था। भविष्य पुराण में पुस्तक दान के सन्दर्भ में कहा गया है कि जो व्यक्ति विष्णु, शिव या सूर्य के मन्दिरों में लोगों के प्रयोग के लिये पुस्तकों का प्रवन्ध करते हैं, वे गोदान, भूमिदान एवं स्वर्णदान का फल पाते हैं।[१४५] पुस्तक दान का उल्लेख कुछ शिलालेखों में भी मिलता है।[१४६] अग्निपुराण में सिद्धान्त नामक ग्रन्थों के पठन की व्यवस्था करने वाले दाताओं के दानों की प्रशस्ति गायी गई है।[१४७] इस दान को ज्ञानदान का एक अंग माना जा सकता है।

८. ग्रहशान्ति के लिये दान- भारतवर्ष के लोग सामुद्रिक शास्त्र, ज्योतिष विज्ञान तथा कुण्डली शास्त्र में विश्वास करते हैं। इसलिये जब कोई व्यक्ति किसी समस्या, पीड़ा अथवा बाधा से तृस्त होता है तो वह गृहशान्ति के लिये यज्ञ करता है और दान देता है। इस दान का उल्लेख गौतम धर्मसूत्र तथा आश्वलायन गृहसूत्र में मिलता है।[१४८] धर्मग्रन्थों में राजा को यह निर्देश दिया गया है कि वह ज्योतिषियों द्वारा बताये गये कृत्य का अनुसरण करे। इन ग्रन्थों में कहा गया है कि पुरोहित राजा कों यह सलाह दे कि वह सूर्य ग्रह से लेकर शुक्र ग्रह के क्षेत्र तक युद्ध करे। उसे आर्थिक समृद्धि, विपत्ति का नाश तथा शत्रु नाश के लिये ग्रह यज्ञ करना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इसका उल्लेख मिलता है, तदनुसार [१४९] सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शनि, राहु, केतु और उनकी आकृतियाँ वनाने के लिये निम्न पदार्थों का उल्लेख है- ताम्रस्फटिक, लाल चन्दन (बुध और बृहस्पति दोनों के लिये) चाँदी, लोहा, सीसा और काँसा। ये आकृतियाँ धातु के अभाव में रंगों से भी कपड़ों में बनायी जाती हैं। पृथ्वी पर वृत्ताकार रंग युक्त ग्रह-नक्षत्रों का निर्माण किया जाता है, इन्हें पुष्प, वस्त्र चढ़ाये जाते हैं, इसके पश्चात सुगन्धित पदार्थ धूप, गुग्गुल आदि चढ़ाये जाते हैं। इसका उल्लेख ऋग्वेद, वासनेयी संहिता में मिलता है। इन ग्रन्थों में उन मंत्रों का उल्लेख है जिनका पाठ इस यज्ञ में किया जाता है।[१५०] आहुतियों में पके भोजन का प्रयोग किया जाता है तथा यज्ञ की समिधा के लिये अर्क, पलाश, खदिर, अपामार्ग, पिप्पल, उदुम्बर, शमी, दूर्बा कुश, घृत, मधु, दही, दूध सिंची हुई १०८ या २८ लकड़ियाँ हवन की वेदी में डाली जाती हैं तथा यज्ञ के पश्चात ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। यह भोजन गुड़ मिश्रित चावल, दूध में पकाया गया चावल, हविष्य भोजन (जिस पर सन्यासी जीते हैं) साठी चावल (जो दूध में पकाया गया हो), दही-भात, दूध मिश्रित चावल, पिसे हुए तिल मिश्रित चावल, चावल मिश्रित दाल तथा कई रंगों के चावल आदि से तैयार किया जाता है। यज्ञ के पश्चात दक्षिणा में निम्न वस्तुएं दान में दी जाती

हैं- दुधारू गाय, शंख, वच्छी बल, सोना, वस्त्र, श्वेत अश्व, काली गाय, लोहे का अस्त्र आदि। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार राजाओं का उत्थान और पंतन संसार के उत्थान और पतन से जुड़ा हुआ है इसलिये उसे धार्मिक प्रवृत्ति का होना चाहिए और नेष्ट ग्रहों की शान्ति करानी चाहिए।[१५१] भारतीय दर्शन शास्त्र भी ज्योतिष विज्ञान शास्त्र पर विश्वास करता है तथा शुभ ग्रहों में कार्य प्रारम्भ करने का निर्देश देता है तथा नेष्ट ग्रहों से बचने की भी सलाह देता है।

९. स्वास्थ्य रक्षा के लिये दान- अनेक धर्मग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि व्यक्ति का जीवन १०० वर्ष का है, इसलिये उसे निरोग रखने के लिये ऐसी संस्थाओं को दान दिया जाय जो व्यक्ति की स्वास्थ्य रक्षा कर सकें। इस दान का उल्लेख अपरार्क और याज्ञवल्क्य स्मृति में मिलता है।[१५२] इन ग्रन्थों में आरोग्यशाला (औषधालय) खोलने के लिये दान देने का निर्देश है। इन आरोग्यशालाओं में औषधि का निःशुल्क वितरण किया जाता था। यह दान धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- चारो पुरुषार्थों से जुड़ा हुआ है। इसलिये स्वास्थ्य रक्षा के लिये सभी प्रकार की वस्तुएं दान देने का विधान था। इसके अतिरिक्त आरोग्यशालाओं में अच्छे वैद्य की नियुक्ति करने का विधान था। हेमाद्रि के दानखण्ड तथा स्कन्दपुराण में आरोग्यशाला की स्थापना के महत्व पर प्रकाश डाला गया है।[१५३]

१०. अप्रमाणिक दान- गौतम धर्मसूत्र में इस दान के सन्दर्भ में उल्लेख मिलता है।[१५५] इस ग्रन्थ में लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति भावावेश में आकर या क्रोध के वशीभूत होकर या बहुत अधिक प्रसन्न होकर या भयभीत होकर या बीमार अवस्था में या लोभ के वशीभूत होकर या बाल्यावस्था में (१६ वर्ष से कम) या अत्यधिक बुढ़ापे में या मूर्खतावश या पागलपन के कारण या नशे में होने के कारण कोई दान देता है जो उसे अप्रमाणिक दान मानना चाहिए। गौतम ऋषि ने प्रसन्नता और लोभजनित दानों को छोड़ दिया है, इनके अनुसार घूस में, परिहास में, बिना किसी को पहिचाने दिया गया दान छलदान की कोटि में आता है और इसे अप्रमाणिक दान माना जाता है, यथा-

"क्रुद्ध हृष्टभीतार्तलुब्धबालस्थविरमूढ़मत्तोन्मत्त वाक्यान्यनृतान्य पातकानि।"[१५६]

"अदत्तं तु भयक्रोधशोकवेगसमन्वितेः। तथोत्क्रोचपरीहास व्यत्यासच्छल योगतः।।
बालमूढ़ास्वतन्त्रार्तमत्तोन्मत्तापवर्जितैः। कर्त्ता ममायं कर्मेति प्रतिलाभेच्छया च यत्।।
अपात्रे पात्रमित्युक्ते कार्ये वा धर्मसंज्ञिते। यद्दतं स्यादविज्ञानाददत्तमिति तत्स्मृतम्।।"[१५७]

कात्यायन ने अपने ग्रन्थ में एक और चीज शामिल की है कि यदि प्राणभय के कारण कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति देने को तैयार होता है तो वह पलट भी सकता है।[१५७] मनुस्मृति में इस बात का उल्लेख मिलता है कि यदि कोई व्यक्ति ग्रहीता के रूप में छल से सम्पत्ति और द्रव्य दान में ले लेता है तो राजा को यह अधिकार है कि वह दान के निर्णय को पलट दे, यथा-

"योगाधमन विक्रीतं योगदान प्रतिग्रहम्। यत्र वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत।।"[१५८]

अर्थात् छल से कोई चीज बन्धक रखी जाय या बेंची जाय, दान दी जाय या ली जाय

अथवा कपट से कोई व्यवहार किया हो, तो उन सभी व्यवहारों को राजा रद्द कर दे।

कात्यायन ने भी इस सन्दर्भ में लिखा है कि 'यदि किसी का पिता दान देने का वचन देने के पश्चात स्वर्गगामी हो जाता है तो पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र द्वारा उस वचन की पूर्ति की जानी चाहिए किन्तु वह दान धार्मिक उपयोग के लिये किया गया हो।[१५६]

११. ज्ञानदान– अति प्राचीन काल से ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जो आचार्य अथवा गुरु स्वानुभूत तथा परानुभूत ज्ञान के माध्यम से अपने शिष्यों को ज्ञान देता है, वह महान दाता है तथा शिष्य कभी भी गुरु द्वारा दिये गये ज्ञान दान की तुलना धन से नहीं कर सकता। वेदों का मुख्य शब्द और तत्व "ॐ" है जिसका एक अर्थ विवेक और विद्या भी है। ज्ञान से व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होती है। विद्या व्यक्ति को अमरता प्रदान करती है। यथा– "विद्ययामृतमश्नुते।" यह निम्न प्रकार की बतायी गई है– १.उद्गीथ विद्या, २. संवर्ग विद्या, ३. मधु विद्या, ४. पंचाग्नि विद्या, ५. उपकोसल की आत्मविद्या, ६. शाण्डिल्य विद्या, ७. दहर विद्या, ८. भूमा विद्या, ९. दीर्घायुष्य विद्या, १०. मन्थ विद्या।

इन सभी विद्याओं का दाता आचार्य अथवा गुरु होता है इसलिये ज्ञानदान में गुरु के प्रति श्रद्धा ही उनके प्रति कृतज्ञता है। उनके लिये सदैव इस प्रकार कृतज्ञता ज्ञापित की जा सकती है।

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुदेवो महेश्वराः। गुरुः साक्षात् परमूब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।।"

जो व्यक्ति गुरुकुलों, पाठशालाओं के निर्माण के लिये धन देता है उसका वह दान भी विद्यादान की कोटि में आता है।

१२. अन्नदान– मनुष्य जीवन को संचालित करने के लिये अन्न अथवा भोजन का सर्वाधिक महत्व है। यदि उसे अन्न उपलब्ध न हो तो उसका शरीर क्षुधा के कारण जीर्ण-शीर्ण हो जायेगा, इसलिये लम्बी अवधि तक जीवित रहने के लिये उसे अन्न की आवश्यकता होती है। दाता का यह कर्तव्य है कि वह दुर्भिक्ष तथा अन्य प्रतिकूल परिस्थतियों में जब व्यक्तियों को भोजन सामग्री उपलब्ध न हो रही हो उस समय वह विकलांगों, आर्थिक दृष्टि से कमजोरों, अनाथों, विधवाओं तथा वृद्धों के लिये भोजन की व्यवस्था करे। वह आवासीय विद्यालयों में, गुरुकुलों में तथा अन्य शिक्षण संस्थाओं में छात्रों और गुरुओं के लिये अन्न का दान करे तथा अन्य भोज्य पदार्थों का दान करे, यथा–

"शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं ग्रहमेधिना। संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः।।"[१६०]

अर्थात् जो सन्यासी या ब्रह्मचारी स्वयं भोजन न बना सके उन्हें गृहस्थ यथाशक्ति अन्न दें। कुटुम्ब के लोगों को तथा अन्य प्राणियों को भी कष्ट दिये बिना ही यथाशक्ति अन्न-जल का भाग देना चाहिए।

प्राचीन भारत में एक ऐसा वर्ग था जो दूसरों पर सदैव आश्रित रहता था। इस वर्ग को अनाज तथा अन्य वस्तुएं देने का रिवाज था।[१६१] अन्न के अतिरिक्त ब्राह्मणों को भूमि, दास-दासी

आदि भी प्रदान किये जाते थे। वाल्मीकि रामायण में भी अन्न दान का विवरण उपलब्ध होता है, यथा-

"ब्राह्मणा भुंजते नित्यं नाथवन्तश्च भुंजते। तापसा भुंजते चापि श्रमणाश्चैव भुंजते।।"[१६२]

अर्थात् उस यज्ञ में प्रतिदिन ब्राह्मण भोजन करते थे (क्षत्रिय और वैश्य भी भोजन पाते थे) तथा शूद्रों को भी भोजन उपलब्ध होता था। तापस और श्रमण भी भोजन करते थे।

प्राचीन भारत में ब्राह्मण और भिक्षु वर्ग ऐसा वर्ग था जो दान पर ही आश्रित रहता था किन्तु आपत्ति काल में किसी भी वर्ग एवं जाति की सहायता अन्न दान देकर की जाती थी।

१३. वस्त्र दान- सभ्यता का विकास होने के पश्चात मनुष्य अन्य पशुओं की भाँति नग्न नहीं रह सकता, अतः उसे अपना तन ढकने के लिये वस्त्र की आवश्यकता पड़ती है। जहाँ वस्त्र मनुष्य की नग्नता को ढकते हैं, वहीं वे जाड़ा, गर्मी तथा बरसात से भी उसकी सुरक्षा करते हैं। वस्त्र, आभूषणों और अलंकारों से व्यक्ति के सम्मान की भी रक्षा होती है इसलिये समय-समय पर वस्त्र दान भी ब्राह्मणों, भिक्षुओं तथा निर्बल वर्ग के व्यक्तियों को दिये जाते थे। इस सन्दर्भ में हर्षवर्द्धन द्वारा प्रयाग में दिये गये दान का विवरण महत्वपूर्ण है। हर्षवर्द्धन प्रत्येक पाँचवें वर्ष प्रयाग में धार्मिक सम्मेलन करता था। यहाँ पहले दिन बुद्ध की, दूसरे दिन शिव की और तीसरे दिन सूर्य की पूजा की जाती थी और हर्ष प्रत्येक दिन काफी धन दान करता था। चौथे दिन वह अपने वस्त्र और आभूषण तक दान कर दिया करता था और अपनी बहिन राज्यश्री से माँगकर वस्त्र पहनता था।[१६३]

१४. द्रव्य दान- मनुष्य के लिये धन एक आवश्यक सम्पत्ति है जिसके माध्यम से वह भौतिक सुखों को प्राप्त कर सकता है। व्यावहारिक जीवन में जब वस्तुओं का आदान-प्रदान शुरू हुआ उसी समय से मुद्रा का प्रचलन भी हुआ। मुद्रा के अतिरिक्त कीमती धातु, कीमती रत्नों को भी मुद्रा के रूप में ग्रहण किया गया, इनको देकर व्यक्ति इच्छित वस्तुएं प्राप्त कर सकता है। इसलिये व्यक्ति को मुद्रादान समय-समय पर सामर्थ्यवान् व्यक्तियों से प्राप्त होने लगा और यहीं से द्रव्यदान की नींव पड़ी। व्यक्ति जब किसी को इच्छित वस्तु का दान नहीं दे पाता था उस समय वह उसे मुद्रा दान देता था, यह मुद्रा दान धार्मिक और सामाजिक अवसरों के अतिरिक्त आपत्तिकाल में भी दिया जाता था। इसे पौराणिक ग्रन्थों में महादानों की श्रेणी में रखा गया। मनुस्मृति में रजत द्रव्य दान की प्रसंशा करते हुए कहा गया है-

"भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः। गृहयोऽग्रयाणि वेश्मानि रुप्यदो रुपमुत्तमम्।।"[१६४]

अर्थात् भूमि देने वाला उत्तम भवन और चाँदी दान करने वाला सुन्दर रूप पाता है।

१५. सर्वस्व दान- जब व्यक्ति अधिक ज्ञानवान हो जाता है उस समय वह संसार को नश्वर समझने लगता है और सम्पत्ति को लोभ और मोह का कारण मानता है। बन्धु-बान्धव तथा नजदीकी रिश्तेदार उसे मोह के बन्धनों में बाँधकर निश्चित उद्देश्य की पूर्ति नहीं करने देते। वह तप के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा रखता है तथा पुरुषार्थ के सिद्धान्तों से प्रेरित होकर

जनकल्याण की बात सोंचता है इसलिये जब वह ५० वर्ष की अवस्था पूरी कर लेता है तो वह पारिवारिक जनों का परित्याग करके, समस्त सम्पत्ति दान देकर वानप्रस्थ के रूप में निकल जाता है। इसका उल्लेख मनुस्मृति में इस प्रकार मिलता है।

''गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत।।''[१६५]

अर्थात गृहस्थ जब देखे कि अपने शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, केश श्वेत हो गये हैं और अपने पुत्र के भी पुत्र हो चुके हैं। तब वन के आश्रय के लिये प्रस्थान करे।

सर्वस्व दान में घर द्वार सम्पत्ति का दान उत्तराधिकारियों को कर दिया जाता है यहाँ तक कि अपने वस्त्र और आभूषण भी दान कर दिये जाते हैं। वन में जो फल तथा अन्न आदि मिल सकें उन्हीं पर अपना जीवन-यापन करे। जब व्यक्ति बिल्कुल शिथिल हो जाय और सन्यास आश्रम में प्रवेश ले ले तो उसे सब कुछ त्यागकर एकमात्र मोक्ष की ही इच्छा करनी चाहिए। सन्यास का अर्थ सर्वस्व त्याग से है यथा-

''सम्यक् न्यासः प्रतिग्रहाणां सन्यासः।''[१६६]

व्यक्ति सर्वस्व दान के माध्यम से ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता था।

१६. प्राणदान- जब व्यक्ति सत्य, अहिंसा, प्रेम तथा करुणा की भावना से द्रवीभूत हो जाता है उस समय समस्त जीवों के प्रति उसके हृदय में दया की भावना उत्पन्न होती है इसलिये जब वह किसी जीव को संकट में देखता है उस समय वह उसको संकट से उबारने का प्रयास करता है भले ही ऐसा करते समय उसके प्राण भी चले जायँ उसकी वह परवाह नहीं करता। यदि वह उस प्राणी की रक्षा नहीं कर पाता तो उसके प्रति गहरा दुःख प्रकट करता है। जटायु ने रावण द्वारा हरी गई सीता को छुड़ाने के लिये अपने प्राणों की आहुति दी। उसका यह त्याग प्राणदान की श्रेणी में आता है। यथा-

''सौमित्रे हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम्। गृध्रराजं दिधक्ष्यामि मत्कृते निधनं गतम्।।''[१६७]

अर्थात् सुमित्रानन्दन! तुम सूखे काष्ठ ले आओ, मैं मथकर आग निकालूँगा और मेरे लिये मृत्यु को प्राप्त हुए इन गृध्रराज का दाहसंस्कार करूँगा।

इसी प्रकार राष्ट्रहित में सैनिकों का युद्ध करते हुए बलिदान भी प्राणदान की कोटि में आता है।

१७. क्षमादान (अभयदान)- कभी-कभी व्यक्ति अज्ञानतावश भीषण अपराध कर डालता है और ज्ञानी व्यक्ति तथा सहनशील व्यक्ति उस पर क्रोध नहीं करता। वह उसे एक मौका प्रदान करता है कि जो भी उसने किया उसका वह पश्चाताप करे, इसलिये वह उसके अपराध को क्षमा करता है। इससे क्षमाकर्ता की महानता बढ़ती है तथा उद्दण्डता करने वाले व्यक्ति की सर्वत्र निन्दा होती है। बाल्मीकि रामायण में क्षमा को दान, धर्म, यश तथा प्राणियों का विशिष्ट गुण माना गया है। यथा-

''क्षमा दानं क्षमा सत्यं क्षमा यज्ञाश्च पुत्रिकाः। क्षमा यशः क्षमा धर्मः क्षमायां विष्ठितं जगत।''[१६८]

अर्थात् क्षमा दान है, क्षमा सत्य है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश है और क्षमा धर्म है। क्षमा पर ही यह सम्पूर्ण जगत टिका हुआ है।

मानव धर्म के अनुसार व्यक्ति के अन्दर सहनशीलता ही एक विशेष गुण होता है तथा इसका मूल्यांकन क्षमा से होता है।

१८. मनोरथ दान– व्यक्ति पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों का स्वामी है। इन इन्द्रियों पर बुद्धि अथवा मन का नियन्त्रण है और बुद्धि अथवा मन पर आत्मा का नियन्त्रण है। समस्त प्राणियों की आत्मा का नियन्त्रक परमात्मा है। जब हमारी बुद्धि आत्मा और परमात्मा के नियन्त्रण से बाहर हो जाती है, उस समय भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिये हमारे हृदय में नाना प्रकार के मनोरथ उत्पन्न होते हैं। इन मनोरथों को कामेच्छा के नाम से पुकारा जाता है, जब इनकी इच्छा पूर्ति नहीं होती तो क्रोध का जन्म होता है और यदि इच्छा पूरी हो जाती है तो वह व्यक्ति मद से ग्रस्त हो जाता है तथा उसके हृदय में और पाने की इच्छा उत्पन्न होती है, इसे लोभ कहते हैं। जब दूसरा व्यक्ति इससे अलग पाता है तो उसके हृदय में ईर्ष्या पैदा होती है इससे स्वार्थ वश वह परनिन्दा में उतर आता है परनिन्दा के कारण उसके शत्रुओं की संख्या बढ़ जाती है और वह असुरक्षित हो जाता है। इसलिये यदि व्यक्ति अपने मनोरथों का परित्याग कर दे, यथास्थिति समझता हुआ सदभाव को जन्म दे तथा मनोरथ का दान कर दे तो वह श्रेष्ठ दानी कहलाता है तथा उसके हृदय में समर्पण की भावना अपने आप उत्पन्न होगी तथा सम्पत्ति के प्रति उसकी कोई अभिरूचि न होगी।

दान के अंग– यदि सम्पूर्ण दान का विश्लेषण किया जाय तो दान के छः अंग दृष्टिगोचर होते हैं। ये छः अंग है- दाता, प्रतिग्रहीता, श्रद्धा, दान देने का औचित्य तथा दान देने का स्थान एवं समय, यथा-

"दाता प्रतिग्रहीता च शुद्धिदेयं च धर्मयुक्। देश कालौ च दानानामडान्येतानि षड विदुः।।"[१६९]

देवल ने भी दान के छः अंग माने हैं लेकिन मनु ने दान के प्रथम चार अंगों का ही उल्लेख किया है।[१७०] रामायण और महाभारत में भी दान के उपर्युक्त छः अंगो का उल्लेख प्राप्त होता हैं। मुक्ष्य रूप से दान के तीन प्रत्यक्ष अंग हैं और तीन गौण अंग। दान के तीन प्रत्यक्ष अंग दाता, प्रतिग्रहीता और दान में दी जाने वाली वस्तु है तथा गौण अंगों में दान देने का स्थान, समय एवं श्रद्धा है। दान में उपर्युक्त छः अंगों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनका विवरण निम्नवत है-

दानदाता– दान में दानदाता का महत्वपूर्ण स्थान है। स्कन्दपुराण में दानदाताओं के गुणों का उल्लेख किया गया है, इसके अनुसार दानदाता सदाचारी होना चाहिए, उसे आचरणभ्रष्ट नहीं होना चाहिए तथा उसे सत्य और प्रिय वचन बोलने वाला होना चाहिए। यदि उसने दान देने की प्रतिज्ञा की है तो उसका अनुपालन करना चाहिए तथा अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसे दान देना चाहिए। दानदाता वह व्यक्ति होना चाहिए जिसकी उत्तम कीर्ति हो, समाज में उस व्यक्ति की कोई बुराई करने वाला न हो। वह धर्म को अच्छी प्रकार से समझता हो और उसका अनुसरण करता हो।

उसका सम्पूर्ण जीवन परोपकार की भावना से भरा हो तथा उसके द्वारा उपार्जित धन खुद का हो। यदि उसे किसी से प्रेम हो तो धर्म से, चिंता हो तो शास्त्र अध्ययन की, व्यसन हो तो दान देने का। यदि किसी दानदाता में ये गुण हैं, तो वही उत्तम दानदाता है-

"दानं वृत्तं व्रतं वाचः कीर्तिर्धर्मस्तथायुषः। परोपकरणं कायादसारात् सारमुद्धरेत।।
धर्मे रागः श्रुतौ चिन्ता दाने व्यसनमुत्तमम्। इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं सम्प्राप्तं जन्मनः फलम्।।"[१७१]

उपरोक्त श्लोक के आधार पर दाता के निम्न गुण निर्धारित किये गये हैं-१.धर्मावलम्बी, २. दृढ़प्रतिज्ञ, ३. उत्तम चरित्र वाला, ४. परोपकारी, ५. स्वतः धन उपार्जित करने वाला, ६. शास्त्रों पर आस्था रखने वाला और ७. दान की निःस्वार्थ भाव से इच्छा रखने वाला।

यह समझा जाता है कि मनुष्य योनि बड़े सौभाग्य से प्राप्त होती है, इसलिये यह प्रयत्न करना चाहिए कि दाता पुरुषार्थ की भावना से कार्य और दूसरों का दुख दान देकर कम करे तथा दानदाता आदर के साथ दान दे। दाता को चाहिए कि वह याचक को बिना माँगे दान दे। विश्व के प्रमुख दानियों में राजा शिवि, जिन्होंने ब्राह्मण की रक्षा के लिये अपना शरीर दान दिया, विदेह नरेश निमि ने अपना सम्पूर्ण राज्य दान में दिया, परशुराम ने सारी पृथ्वी दान में दी, राजा गय ने नगरों सहित पूरी पृथ्वी ब्राह्मणों को दान कर दी, वशिष्ठ ने अनावृष्टि में प्राणियों की रक्षा की। पंचाल नरेश ब्रह्मदत्त ने ब्राह्मणों को शंख निधि दान में दी, आदि प्रसिद्ध है। शास्त्रों में कहा गया है कि संसार में महादानी बहुत कम उत्पन्न होते हैं, यथा-

"शतेषु जायंते शूरः सहस्त्रेषु च पण्डितः। वक्ता शतसहस्त्रेषु दाता जायते वा न वा।।"[१७२]

अर्थात् सौ में एक शूर, सहस्त्रों में एक विद्वान, शत सहस्त्रों में एक वक्ता मिलता है, दाता तो शायद ही मिल सकता है और नहीं भी।

दाता का यह कर्तव्य है कि वह बहुत ही प्रसन्नतापूर्वक तथा याचक की इच्छानुसार वस्तु का दान करें। दाता के हृदय में याचक के प्रति श्रद्धा की भावना होनी चाहिए तथा दाता को उतना ही दान देना चाहिए जितनी उसकी सामर्थ्य हो। दाता धर्म, अर्थ, काम, लज्जा, हर्ष और भय आदि से प्रेरित होकर दान करता है किन्तु वह दाता सर्वश्रेष्ठ माना गया है जो धर्म दान करता है। किसी उद्देश्य सिद्धि के लिये दान नहीं देना चाहिए।

दाता के मानसिक सन्तुलन के सन्दर्भ में भी धर्मग्रन्थों में विचार किया गया है। इसमें दाता के छः गुण बतलाये गये हैं- १. स्वास्थ्य (निरोगिता), २. धर्मात्मा, ३. देनेकी इच्छा रखने वाला, ४. व्यसन रहित, ५. पवित्र, ६. अनिन्दनीय कर्म से आजीविका चलाने वाला, यथा-

"अपरोगी च धर्मात्मा दित्सुरव्यसनः शुचिः। अनिन्द्याजीवकर्मा च षड्भिर्दाता प्रशस्यते।।"[१७३]

यदि दाता भावुक है या क्रोधी है या बहुत अधिक प्रसन्नता के कारण मानसिक सन्तुलन खो चुका है या सठिया चुका है या मूर्ख है तो वह दान देने का अधिकारी नहीं है। इसी प्रकार यदि दाता दुराचारी है और अनुचित साधनों से धन कमाता है या उसके हृदय में रजोगुण या तमोगुण विद्यमान है तो वह दान देने योग्य नहीं माना जायेगा।

प्रतिग्रहीता (याचक)– प्रतिग्रहीता अथवा याचक वह व्यक्ति होता है जिसे दाता अथवा दानदाता दान देने का पात्र समझता है। इसलिये दाता याचक को देश, काल और परिस्थिति के अनुसार दान देता है। याचक की पहिचान दानदाता द्वारा की जाती है और वह दानदाता के सामने 'देहि' वचन कहकर दान माँगता है इसलिये दान लेने वाला छोटा तथा दान देने वाला बड़ा माना गया है। धार्मिक ग्रन्थों में उत्तम गुणों से युक्त याचक को अच्छा माना गया है। प्रतिग्रह ब्राह्मण को अच्छा याचक नहीं माना जाता क्योंकि वह यह सोंचता है कि कौन से भाग में मैं दान माँगकर अधिकार कर लूँ, इसी प्रकार लोभी ब्राह्मण भी दान देने के उचित पात्र नहीं होते।

प्रतिग्रंहीता को शुद्ध धर्म का अनुसरणकर्ता तथा देश, काल परिस्थिति के अनुसार दान ग्रहण करने वाला होना चाहिए। याचक को भी धन उसी से माँगना चाहिए जो देने योग्य हो। यदि ब्राह्मण दुराचारी है और वह किसी का उद्धार नहीं कर सकता तो वह दान का पात्र नहीं है। इसी प्रकार जिस ब्राह्मण ने शास्त्र का अध्ययन नहीं किया तो वह दुराचारी है। यदि ब्राह्मण विद्याहीन है तो वह भूमि, गाय, स्वर्ण तथा अन्य वस्तुएं दान लेने योग्य नहीं है। मूर्ख ब्राह्मण भी दान लेने का पात्र नहीं है। दान का पात्र वह है जो स्वाध्याय करता है, तपस्वी है, शान्त चित्त वाला है, उत्तम देश में रहने वाला है। ऐसे व्यक्तियों को दिया गया दान धर्मदान कहलाता है। दान का उत्तम पात्र वह ब्राह्मण कहलाता है जिसका कुल उत्तम हो, विद्वान हो, उसका आचरण और चरित्र अच्छा हो, जीवन निर्वाह की वृत्ति अच्छी हो और वह सात्विक गुणों वाला हो। साथ में वह याचक दया की भावना रखने वाला हो, जितेन्द्रिय हो, योनिदोष से मुक्त हो, वह ब्राह्मण दान का उत्तम पात्र कहा गया है। यथा–

"त्रिशुल्कः शुल्कवृत्तिश्च घृणालुः संयतेन्द्रियः। विमुक्तो योनिदोषेभ्यो ब्राह्मण पात्रमुच्यते।।"[१७४]

अग्निपुराण में कहा गया है कि वह व्यक्ति दान का वास्तविक पात्र है जो ज्ञानशील और सद्‌गुणों से सम्पन्न है एवं दूसरों को कभी पीड़ा नहीं पहुँचाता।[१७५] अज्ञानी मनुष्य दान का समुचित पात्र नहीं होता। अग्निपुराण में माता-पिता, भाई तथा पुत्री भी दान के पात्र हैं। वेदों के अभिप्राय का बोध कराने वाला आचार्य दान का सर्वोत्तम पात्र है। इसी प्रकार धनहीन ब्राह्मण, यज्ञकर्ता ब्राह्मण भी दान के उत्तम पात्र हैं। अग्निपुराण में पशुओं, वर्ण संकरों, शूद्रों, क्षत्रियों तथा वैश्यों को भी दान का पात्र माना गया है।[१७६]इससे यह सिद्ध होता है कि आपत्तिकाल में अथवा आवश्यकता पड़ने पर किसी भी वर्ण या जाति के व्यक्तियों को दान का पात्र माना जा सकता है।[१७७]

दान में देय वस्तु– दानकर्ता द्वारा जिन वस्तुओं का दान प्रतिग्रहीता को दिया जाता है उन्हें देय वस्तु कहते हैं। वैसे तो कोई भी वस्तु सामर्थ्य के अनुसार दान में दी जा सकती है। दानवीरों ने भूमि, पृथ्वी तथा अपने प्राण तक दान में दिये हैं। दान में सर्वोत्तम वस्तु भूमि को माना गया है जो किसी कार्य के लिये ब्राह्मण को दी जाय। दान में दी जाने वाली वस्तु की मात्रा निश्चित नहीं की गई। कुटुम्ब के भरण-पोषण से जो अधिक हो वही दान देने के योग्य है। इसी प्रकार ऐसी वस्तु को दान देने के लिये मना किया गया है जो दूसरों के यहाँ बन्धक हो अथवा धरोहर के रूप में

रखी हो। इसी प्रकार सार्वजनिक वस्तुओं को भी दान देने का विधान नहीं है। किसी भी प्रकार की धातु या धन जनकल्याण के लिये दान में दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त आठ वस्तुओं का दान उत्तम कोटि का दान माना गया है, ये वस्तुयें गृह, मंदिर, महल, विद्या, भूमि, गौ, कूप, प्राण और स्वर्ण है। अन्न, बगीचा, वस्त्र तथा अश्व को मध्यम श्रेणी का वस्तुदान माना गया है। इसी प्रकार जूता, छाता, बर्तन, दही, मधु, आसन, दीपक, काष्ठ और पत्थर आदि वस्तुओं का दान निम्न कोटि का दान कहलाता है।

दान में वही वस्तु देय है जिसे दाता ने बिना किसी को सताये, चिन्ता एवं दुःख दिये स्वयं प्राप्त किया हो, वही वस्तु मूल्यवान है। देय वस्तु की छोटी-बड़ी मात्रा या कम-ज्यादा मात्रा दाता की सामर्थ्य पर निर्भर करती है। श्रद्धा से जो कुछ सुपात्र को दिया जाय वही सफल देय है। घर, शैया, वस्त्र, आसन, वाहन, जल, सान्त्वना, दीपक, गन्ध-पुष्प, माला, कन्या, दास-दासी, आभूषण, फल-फूल, सोने की सींगों से मढ़ी हुई गाय, बैल, सवारी, वृक्ष, अन्न, भूमि, प्राण आदि वस्तुओं का दान दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भोजन, मधु, दही, भूमि, स्वर्ण, अश्व, हाथी, घरेलू उपकरण, औषधि, झूले, गाड़ियाँ, बर्तन आदि दान में दी जाती थीं। इन वस्तुओं के दान में गाय, भूमि और विद्या के दान को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उपरोक्त वस्तुओं के दान से यह पता चलता है कि प्राणियों को अपने जीवन निर्वाह के लिये जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती थी उन्हीं वस्तुओं को दानदाता द्वारा याचक को अपनी सामर्थ्य के अनुसार दिया जाता था तथा दान दी गई वस्तुओं को वापस लेने का कोई प्राविधान नहीं था।

दान के प्रकार– दान के मुख्य रूप से तीन प्रकार हैं- नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। जो प्रतिदिन दिया जाय (यथा वैश्वदेव आदि के उपरान्त भोजन) उसे नित्य, जो किन्हीं विशिष्ट अवसरों (यथा ग्रहण) पर दिया जाय उसे नैमित्तिक तथा जो सन्तानोत्पत्ति, विजय, समृद्धि, स्वर्ग या पत्नी के लिये दिया जाय उसे काम्य कहते हैं। वाटिका, कूप आदि का समर्पण ध्रुवदान कहा जाता है। कूर्मपुराण में दान के इन तीनों प्रकारों में एक और प्रकार जोड़ दिया गया है यथा विमल (पवित्र), जो ब्रह्मज्ञानी को श्रद्धा सहित भगत्प्राप्ति के लिये दिया जाता है। भगवद्गीता में दान को सात्विक, राजस एवं तामस नामक श्रेणियों में बाँटा गया है और कहा गया है कि "जब देश, काल एवं पात्र के अनुसार अपना कर्तव्य समझकर दान दिया जाता है और लेने वाला अस्वीकार नहीं करता तो ऐसे दान को सात्विक दान कहा जाता है। जब दान किसी इच्छा की पूर्ति के लिये या अनुत्साह से दिया जाय तो उसे राजस दान तथा जो दान अनुचित काल, स्थान एवं पात्र को बिना श्रद्धा तथा घृणा के साथ दिया जाय उसे तामस दान कहते हैं।"[१७८] याज्ञवल्क्य का कथन है कि गुप्तदान, बिना अहंकार का ज्ञान तथा बिना अन्य लोगों के दिखाये जप करना अनन्त फल देने वाला होता है।

दान के काल– दान करने के उचित कालों के विषय में बहुत से नियम बने हुए हैं। प्रतिदिन के दानकर्म के अतिरिक्त अन्य विशिष्ट अवसरों के दान की व्यवस्था करते हुए धर्मशास्त्रकारों ने लिखा है कि प्रतिदिन के दानकर्म से विशिष्ट अवसरों के दानकर्म अधिक सफल एवं पुण्यप्रद माने

जाते हैं।[१७९] लघु शातातप का कथन है कि "अयनों (सूर्य के उत्तरायण एवं दक्षिणायन) के प्रथम दिन में, षडशीति के प्रारम्भ में, सूर्य-चन्द्र ग्रहणों के समय दान, अवश्य देना चाहिए, क्योंकि इन अवसरों के दान अक्षय फलों के दाता माने जाते हैं। यथा-

"अयने विषुवे चैव षडर्शातिमुखेषु च। चन्द्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते।।

अयनादौ सदा दघाद् द्रव्यमिष्टं गृहे वसन्। षडशीतिमुखे चैव विमुक्ते चन्द्रसूर्ययोः।।[१८०]

महाभारत के वनपर्व में कहा गया है कि अमावस्या के दिन, तिथिक्षय में, विषुव के दिन (जब रात-दिन बराबर हों) एवं व्यतिपात के दिन का दान क्रम से सौ गुना, सहस्त्र गुना, लाख गुना एवं अक्षयफल देने वाला है।[१८१] संवर्त का कहना है कि अयन, विषुव, व्यतिपात, दिनक्षय, द्वादशी, संक्रान्ति को दिया हुआ दान अक्षय फल देने वाला होता है, इसी प्रकार उपर्युक्त दिनों तिथियों के अतिरिक्त रविवार का दिन स्नान, जप, होम, ब्राह्मण-भोजनं, उपवास एवं दान के लिये उपयुक्त है।[१८२] विष्णु धर्मसूत्र में वर्ष की पूर्णिमाओं के दिन विभिन्न प्रकार के पदार्थों के दान करने से उत्तम फलों की चर्चा की गई है।[१८३] दान के सन्दर्भ में एक सामान्य नियम यह था कि रात्रि में दान नहीं दिया जाना चाहिए। किन्तु इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं। अत्रि ने लिखा है कि ग्रहणों, विवाहों, संक्रान्तियों एवं पुत्ररत्न लाभ के अवसर पर रात्रि में दान दिये-लिये जा सकते हैं।[१८४]

दान के उपर्युक्त अवसरों एवं नियमों का दिग्दर्शन शिलालेखों में भी हो जाता है। सूर्य ग्रहण के अवसर पर भूमि एवं ग्रामों के दान की चर्चा ताम्रपत्रों एवं शिलालेखों में हुई है यथा राष्ट्रकूट नन्नराज का तिवरखेड पत्र,[१८५] चालुक्य कीर्तिवर्मा द्वितीय के समय का लेख।[१८६] इसी प्रकार चन्द्रग्रहण के अवसर पर प्रदत्त दानों का उल्लेख भी विभिन्न ताम्रपत्रों एवं शिलालेखों में मिलता है।[१८७] अयनों (उत्तरायण एवं दक्षिणायन) के अवसर पर दिये गये दानों का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[१८८] संक्रान्तियों के अवसर पर भी दान दिये जाने की चर्चा मिलती है।[१८९] इसी प्रकार अन्य तिथियों एवं अवसरों पर दिये जाने वाले दानों का उल्लेख ताम्रपत्रों एवं शिलालेखों में मिलता है।[१९०]

दान के स्थल- विभिन्न स्मृतियों, पुराणों एवं निबन्धों में दान के स्थलों के विषय में प्रभूत चर्चाएं हुई हैं। दानमयूख में कहा गया है कि 'घर में दियां गया दान दस गुना, गौशाला में सौ गुना, तीर्थों में सहस्त्रगुना तथा शिव की मूर्ति (लिंग) के समक्ष का दान अनन्त फल देने वाला होता है।'[१९१] हेमाद्रि ने स्कन्दपुराण को उद्धृत करते हुए कहा है कि वाराणसी, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, पुष्कर (अजमेर), गंगा एवं समुद्र के तट, नैमिषारण्य, अमरकण्टक, श्रीपर्वत, महाकाल (उज्जयिनी), गोकर्ण, वेद पर्वत तथा इन्हीं के समान अन्य स्थल पवित्र हैं, जहाँ देवता एवं सिद्ध रहते हैं, सभी पर्वत, सभी नदियाँ एवं समुद्र पवित्र हैं, गोशाला, सिद्ध एवं ऋषि लागों के वासस्थल पवित्र हैं इन स्थानों में जो कुछ दान दिया जाता है, वह अनन्त फल देने वाला होता है। यथा-

"वाराणसी कुरुक्षेत्रं प्रयागः पुष्कराणि च। गंगा समुद्रतीरं च नैमिषामरकण्टकम।।

श्रीपर्वत महाकालं गोकर्ण वेदपर्वतम्। इत्याद्याः कीर्तिता देशाः सुरसिद्धनिषेवितः।।

सर्वे शिलोच्चयाः पुण्याः सर्वा नद्यः ससागराः। गोसिद्ध मुनिवासाश्च देशाः पुण्याः प्रकीर्तिताः।।
एषु तीर्थेषु यद्दत्तं फलस्यानन्त्यकृद् भवेत्।''[१६२]

दान की दक्षिणा– धर्मशास्त्रकारों ने दान के बाद दक्षिणा देने का प्राविधान किया है। धर्मग्रन्थों में कहा गया है कि किसी भी वस्तु का दान करते समय दान देने वाले के हाथ पर जल गिराना चाहिए। आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार 'केवल वैदिक यज्ञों को छोड़कर, सभी प्रकार के दानों में जल-प्रयोग होता है। सभी प्रकार के दानों में दक्षिणा देना भी अनिवार्य था। किन्तु अग्निपुराण में सोने, चाँदी, ताम्र, चावल, अन्न के दान में तथा आह्विक श्राद्ध एवं आह्विक देवपूजा के समय दक्षिणा देना अनिवार्य नहीं माना गया है।[१६३] दक्षिणा सोने के रूप में ही दी जाती थी, किन्तु सोने के दान में चाँदी की दक्षिणा दी जा सकती थी। बहुमूल्य वस्तु के दान में यथा तुलापुरुष दान में दक्षिणा एक सौ या पचास या पचीस या दस निष्कों की या दान की हुयी वस्तु का एक दसवाँ भाग या सामर्थ्य के अनुसार हो सकती है।

दान के देवता– हेमाद्रिकृत दानखण्ड तथा दानमयूख में विष्णुधर्मोत्तर पुराण को उद्धृत कर कहा गया है कि बहुत से पदार्थों के देवता होते हैं। इन ग्रन्थों में दान-पदार्थ के देवताओं के नाम गिनाये गये हैं, यथा सोने के देवता हैं अग्नि, दास के प्रजापति, गायों के रुद्र आदि।[१६४] जब किसी पदार्थ के कोई विशिष्ट देवता नहीं होते तो विष्णु को ही देवता मान लिया जाता है। इसी मात्र की पुष्टि ब्राह्मण ग्रन्थों एवं श्रौत सूत्रों में भी की गई है तथा कहा गया है कि रुद्र, सोम, प्रजापति आदि क्रम से गायों, परिधानों, मानवों आदि के देवता हैं।[१६५]

दान देने की विधि– दान देने की विधि का उल्लेख भी धर्मग्रन्थों में उपलब्ध होता है। देश, काल, परिस्थिति एवं याचक के गुण के अनुसार दान देने का विधान है। तदनुसार दाता एवं प्रतिग्रहीता को स्नान करके दो पवित्र धवल वस्त्र धारण कर लेने चाहिए, दाता को पवित्री पहनकर आचमन करना चाहिए, पूर्वाभिमुख होकर उपवीत ढंग से यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए, स्वयं पवित्र आसन (कुशासन) पर बैठकर प्रतिग्रहीता (दान लेने वाले) को उत्तराभिमुख बैठाकर दान के पदार्थ का नाम, उसके देवता का नाम तथा दान देने का उद्देश्य उच्चारित करना चाहिए और कहना चाहिए- ''मैं इस पदार्थ का दान आपको कर रहा हूँ,'' तब प्रतिग्रहीता के हाथ पर जल गिराना चाहिए। जब प्रतिग्रहीता कहे ''दीजिये'' तब दाता को देय पदार्थ पर जल छिड़कना चाहिए और प्रतिग्रहीता के हाथ पर रख देना चाहिए, तब प्रतिग्रहीता ''ओम'' कहकर ''स्वस्ति'' का उच्चारण करता है। इसके उपरान्त प्रतिग्रहीता को दक्षिणा दी जाती है। अग्निपुराण में निम्नलिखित उद्देश्यों के लिये दान की चर्चा की गई है- पुत्र, पौत्र, गृहैश्वर्य, पत्नी, धर्मार्थ, कीर्ति, विद्या, सौभाग्य, आरोग्य, सर्वपापोपशान्ति, स्वर्गार्थ, भुक्तिमुक्ति।[१६६] समय एवं पदार्थों के अनुसार दान की विधि में परिवर्तन किया जा सकता है यथा भूमि का दान हाथ से नहीं लिया जा सकता, वैसी स्थिति में दान की हुयी भूमि की प्रदक्षिणा या उसमें प्रवेश मात्र पर्याप्त है।

दान की परिसीमायें– दान देने और लेने की कुछ सीमायें भी धर्मग्रन्थों में निर्धारित की

गई हैं। उन्हीं सीमाओं के अनुसार दान दिया और लिया ज़ाता है। मनुस्मृति में इस बात का उल्लेख है कि लकड़ी, पानी, फल, मूल, अन्न, मधु आदि बिना माँगे कोई दे तो ग्रहण कर लेना चाहिए किन्तु यह सामग्री नपुंसक, वेश्याओं, पतितों द्वारा दी जा रही हों तो अस्वीकार कर देना चाहिए।

कुछ ऐसी वस्तुएं होती हैं जिन्हें दान नहीं दिया जा सकता। उदाहरणार्थ- जिन वस्तुओं पर अपना अधिकार न हो उन्हें दान नहीं दिया जा सकता। कोई भी अपने सम्बन्धियों, माता-पिता एवं पुत्रों का दान नहीं कर सकता, इसी प्रकार कोई भी राजा अपने सम्पूर्ण राज्य का दान नहीं कर सकता। जिस यज्ञ में वेदों का पाठ नहीं होता, उसमें अश्व दान में नहीं दिये जा सकते। नाऊ को दान में नहीं दिया जा सकता। दानदाता वही वस्तु दान में दे सकता है जिस पर उसका अधिकार एवं स्वामित्व हो। आठ वस्तुओं का दान धर्मशास्त्रों के अनुसार वर्जित माना गया है, यथा-[१९७]

१. ऋण चुकाने के लिये ऋणी द्वारा ऋणदाता को देने के लिये तीसरे व्यक्ति को दिया गया धन।

२. प्रयोग में लाने के लिये उधार ली गई सामग्री (यथा उत्सव के अवसर पर उधार लिया गया आभूषण)।

३. न्यास (ट्रस्ट)

४. संयुक्त या कई लोगों की साझे वाली सम्पत्ति।

५. निक्षेप अर्थात् किसी का जमा किया हुआ धन।

६. पुत्र एवं पत्नी।

७. सन्तानों के रहते हुये अपनी पूरी सम्पत्ति।

८. दूसरे को पहले से ही दिया हुआ पदार्थ।

दक्ष ने अपने ग्रन्थ में इस सूची में दो बातें और शामिल कर दी हैं- १. मित्र का धन और २. भय से दिया गया दान।[१९८]

कोई भी दानदाता ऐसा दान न दे कि उसके परिवार के सम्मुख ही जीवन निर्वाह का संकट खड़ा हो जाय। इस कथन का समर्थन अग्निपुराण, आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा बौधायन धर्मसूत्र में किया गया है।[१९९]

दान लेने में कुछ प्रतिबन्ध भी हैं जो निम्नवत् हैं-

१. दो दन्तपंक्तियों वाले पशु याचक को दान में ग्रहण नहीं करना चाहिए।[२००]

२. ब्राह्मणों के लिये यह निर्देश दिया गया है कि वे अस्त्र-शस्त्र और विषैले पदार्थ दान में न लें।[२०१]

३. अविद्वान ब्राह्मण को स्वर्ण, भूमि, अश्व, गाय, भोजन, वस्त्र एवं घृत का दान नहीं लेना चाहिए यथा-

"हिरण्यं भूमिअश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम्। प्रतिगृह्मन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत्।।[२०२]

अर्थात् सोना, भूमि, घोड़ा, गात, अन्न, वस्त्र, तिल और घृत, इन वस्तुओं का दान लेने

वाला मूर्ख ब्राह्मण लकड़ी की तरह भस्म हो जाता है।

४. ब्राह्मण को चाहिए कि वह भेड़ों, अश्वों, बहुमूल्य रत्नों, तिल, हाथी और लोहे का दान न ले, मृगचर्म ग्रहण न करे।[२०३]

५. जो ब्राह्मण मरे हुए व्यक्ति की शय्या, आभूषण एवं परिधान ग्रहण करता है, वह नरकगामी होता है।

६. दानदाता को यह निर्देश दिया गया है कि वह दान में दुर्बल गाय न दे, ऐसी गाय भी दान न दें जो केवल खाने-पीने वाली हो और दूध न दे। यदि कोई गाय बाँझ है, रोगी है तो उसे भी दान में नहीं देना चाहिए, यथा-

> ''न कृशां नापवत्सां वा बन्ध्यां रोगान्वितां तथा।
> न व्यंगां न परिश्रान्तां दद्याद् गां ब्राह्मणाय वै।।''[२०४]

अर्थात् जो दुबली हो, जिसका बछड़ा मर गया हो तथा जो ठाँठ, रोगिणी, किसी अंग से हीन और थकी हुई (बूढ़ी) हो ऐसी गौ, ब्राह्मण को नहीं देना चाहिए।

व्यक्ति जहाँ दान देता है और लेता है वहाँ उसे यह निर्देश दिया जाता है कि दान देश, काल और परिस्थिति के अनुसार दिया और लिया जाय तथा यह दान योग्य ग्रहीता को धर्मशास्त्र में अनुमोदित वस्तुओं के रूप में दिया जाय।

इष्टापूर्त- इष्टापूर्त शव्द का अर्थ है 'यज्ञ कर्मों तथा दानकर्मों से उत्पन्न पुण्य।'' इष्टापूर्त शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में भी हुआ है। इसमें हाल में (तुरन्त) मरे हुए एक आत्मा के विषय में कहा गया है- ''तुम पितरों से मिल सको, तुम यम से मिल सको तथा मिल सको स्वर्ग में अपने इष्टापूर्त से।''[२०५] इष्ट का अर्थ है 'जो यज्ञ के लिये दिया गया है' और पूर्त का अर्थ है 'जो भर गया है।' अथर्ववेद में भी इष्टापूर्त का उल्लेख मिलता है, इसमें इस सन्दर्भ में कहा गया है कि ''हमारे पूर्वजों के इष्टापूर्त शत्रुओं से हमारी रक्षा करें।''[२०६] इसी प्रकार इष्टापूर्त के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, वाजसनेयी संहिता, कठोपनिषद एवं माण्डूक्योपनिषद आदि ग्रन्थों में मिलता है।[२०७] कठोपनिषद में कहा गया है कि जो अतिथि को बिना भोजन कराये घर में ठहराता है वह अपने इष्टापूर्त का, सन्तानों एवं पशुओं का नाश करता है। माण्डूक्योपनिषद में उन लोगों की भर्त्सना की गई है जो इष्टापूर्त को सर्वोच्च महत्ता देते हैं और उसके ऊपर किसी अनय को मानते ही नहीं। इस उपनिषद ने तर्क उपस्थित किया है कि इष्टापूर्त व्यक्ति को अन्तिम आनन्द नहीं दे सकता उससे तो व्यक्ति को केवल स्वर्गानन्द मिलता है जिसे भोगकर व्यक्ति पुनः इस संसार में या इससे भी नीचे के लोक में उतर जाता है।

अपरार्क ने 'इष्ट' एवं 'पूर्त' के अर्थों को स्पष्ट करने के लिये महाभारत का हवाला दिया है तदनुसार ''जो कुछ एक अग्नि (गृह अग्नि) में डाला जाता है तथा जो कुछ तीन श्रौत अग्नियों मे डाला जाता है एंव वेदी (श्रौत यज्ञों) मे दान किया जाता है उसे 'इष्ट' कहते हैं किन्तु गहरे कूपों, आयताकार कूपों, तड़ागों, देवतायतनों, का समर्पण, अन्नदान एवं आराम (जन-वाटिका)

का प्रबन्ध 'पूर्त' कहलाता है।''[२०८] अपरार्क ने नारद को उद्धृत कर लिखा है- ''आतिथ्य तथा वैश्वदेव कर्म इष्ट हैं किन्तु तालाबों, कूपों मन्दिरों, आरामों का लोकहितार्थ समर्पण पूर्त है, इसी प्रकार चन्द्र एवं सूर्य के ग्रहणों के समय का दान भी पूर्त है।''[२०९] रोगियों की सेवा भी पूर्त है।[२१०] मनु ने भी इष्ट एवं पूर्त करने की बात कही है उनके अनुसार इष्ट एवं पूर्त सदैव करते जाना चाहिये, क्योंकि श्रद्धा एवं उचित ढंग से प्राप्त धन से किये गये इष्ट एवं पूर्त अक्षय होते हैं।[२११]

सभी लोग, यहाँ तक स्त्रियाँ एवं शुद्र भी, दान दे सकते हैं। दानधर्म की बड़ी महत्ता बतायी गयी है। अपरार्क ने एक पद्य उद्धृत किया है- ''दो प्रकार के व्यक्तियों के गले में शिला बाँधकर डुबो देना चाहिये, अदानी धनवान एवं अतपस्वी दरिद्र।'' यथा-

''द्वावेवाप्सु प्रवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा महाशिलाम। धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्।।[२१२]

सभी द्विजातियों के लिये इष्ट एवं पूर्व करना धर्म माना जाता था। शूद्रलोग पूर्त धर्म कर सकते थे किन्तु वैदिक धर्म नहीं। देवल के अनुसार दाता को पापरोग से हीन, धार्मिक, दित्सु (श्रद्वालु), दुर्गुणहीन, शुचि (पवित्र), निन्दित व्यवसाय से रहित होना चाहिये।

दान का मूल्यांकन- दान दाता और प्रतिग्रहीता दोनो ही दान देने और ग्रहण करने में उसका मूल्यांकन अपने-अपने ढंग से करते हैं। दानदाता यह सोंचता है कि उसके द्वारा दिया गया दान एक ऐसा धन है, जिसे दिये जाने से उसे कोई पीड़ा अनुभव नहीं होगी और न ही उसका परिवार किसी धर्मसंकट में पड़ेगा, वह अपनी इच्छा शक्ति के अनुसार याचक पर श्रद्धा करता हुआ दान देता है। धर्मशास्त्रों के अनुसार यदि दान-दाता याचना करने वाले की अपेक्षा याचना न करने वालों को दान देता है तो वह श्रेष्ठ दान होता है तथा ऐसे व्यक्ति को दिया गया दान होता है जो धैर्य धारण करता है। जो दान दाता द्वारा विद्वान ब्राह्मण, धैर्य और संतोष धारण करने वाले को दिया जाता है उससे देवता प्रसन्न रहते है। यज्ञ करने वाले ब्राह्मणो को जो दान दिया जाता है उसका फल उत्तम होता है। व्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्राह्मणों को दिया गया दान तीनों प्रकार की अग्नि को शान्त करने वाला होता है। दोपहर के समय ब्राह्मणों को भोजन कराकर स्वर्ण और वस्त्र दान देना उत्तम है, इससे इन्द्र देव प्रसन्न होता है। तीसरेपहर दिया गया दान विश्वदेवों को सन्तुष्ट करता है। सब प्राणियों पर अहिंसा का भाव रखना, यथा योग्य सबको दान देना, त्याग, धैर्य और सत्य आदि गुणों को धारण करके दिया हुआ दान अवभृथ स्नान का फल देते हैं। दान यज्ञों से बढ़कर है इसलिये यज्ञ चालू रखना चाहिये और दान देते रहना चाहिये।

मनुस्मृति के अनुसार यज्ञ और धार्मिक अवसरों पर श्रद्धापूर्वक दान देने से दान दाता का उद्धार होता है। भोजन और पानी दान देने वाला व्यक्ति अक्षय सुख को प्राप्त करता है। तिलदान करने वाला अभिलाषित सन्तान को, दीपदान करने वाला उत्तम नेत्र को, भूमिदान करने वाला उत्तम भवन को और चाँदी दान करने वाला सुन्दर रूप को प्राप्त करता है। वस्त्रदाता चन्द्रलोक, घोड़ादान करने वाला अश्विनी कुमार लोक, वृषभ दाता लक्ष्मीलोक, गोदान करने वाला सूर्यलोक को प्राप्त करता है। रथ और पतंगदाता स्त्री को, अभयदाता ऐश्वर्य को, अन्नदाता चिरस्थायी सुख और

वेदशिक्षा देने वाला ब्रह्मतुल्य गति को प्राप्त करता है, यथा-

''वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः। तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपश्चक्षुरूत्तमम्।।
भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः। गृहदोऽग्रयाणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम्।।
वासोदश्चन्द्र सालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः। अनडुहः श्रिय पुष्टां गोदो ब्रघ्नस्यं विष्टपम्।।
यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः। धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम।।''[२१३]

दानदाता और ग्रहीता दोनो के लिये यह कहा गया है कि जो दान दाता, प्रतिग्रहीता को आदरपूर्वक दान देता है और प्रतिग्रहीता आदर से उस दान को ग्रहण करता है वे दोनों स्वर्ग जाते हैं, यथा-

''योऽर्चितं प्रतिगृह्णयाति ददात्यर्चितमेव च। तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये।।''[२१४]

इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय समाज और धर्म में दान का स्थान बहुत उच्च कोटि का था, इससे दानदाता समाज में एक विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त करता था, उसे धर्माचरण करने वाला त्यागी, तपस्वी तथा यशस्वी पुरूष के रूप में ग्रहण किया जाता था। वह अपनी क्षमता, दया, करूणा, श्रद्धा और सहयोग के साथ याचक और उसकी परिस्थितियों से संवेदना रखता था और उसे भरपूर सहयोग देना अपना कर्तव्य समझता था।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में दान- भारतीय इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। मानव विकास के साथ इतिहास अपनी भूमिका निभाने लगता है। यदि वेदों और पुराणों पर विश्वास किया जाय तो भारतीय सभ्यता का इतिहास कई लाख पुराना है। सम्पूर्ण कालचक्र को चार भागों में विभक्त किया गया है इन्हें सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के नाम से जाना जाता है। इन चारो ही युगों का कालनिर्धारण मनुस्मृति में इस प्रकार किया गया है।[२१५]

दोनो संख्याओं सहित	दिव्य वर्षों में	सौरवर्षों में
सत्ययुग का मान	४८००	१७२८०००
त्रेतायुग का मान	३६००	१२९६०००
द्वापर युग का मान	२४००	८६४०००
कलियुग का मान	१२००	४३२०००

किन्तु उपरोक्त काल गणना पर वैज्ञानिक इतिहासकार विश्वास नहीं करते। वह सभ्यता के विकास को अत्यन्त मंथर गति से होने वाला विकास मानते हैं और प्रारम्भिक युग को प्रस्तर युग तथा नवप्रस्तर युग के नाम से संबोधित करते हैं। Will Durant के अनुसार-

"In one sense all human history hinges upon two revolutions, the neolithic passage from hunting to agriculture, and the modern passage from agriculture to industry."

पाषाण युग में दान की स्थिति- भारतवर्ष में पाषाण युग ईसा से ५००००० से

३००० वर्ष पहले था। इस युग के उपलब्ध शैल चित्रों तथा शैलाश्रयों को देखने से यह पता लगता है कि व्यक्ति इस युग में भी समूह में रहने का आदी था तथा वह एक दूसरे को सहयोग प्रदान करता था। यहाँ तक कि जब समूह का कोई व्यक्ति शिकार करके लाता था तो उसे मिल बाँटकर आनन्द के साथ खाया जाता था इसलिये इस युग में सहयोग को ही दान माना जा सकता है। व्यक्ति आवश्यकतानुसार नयी-नयी खोजें करता था। कालान्तर में उसने धातुओं की खोज की, अर्द्धविकसित भाषा का निर्माण किया और वह आखेट तथा भ्रमण को बन्दकर एक स्थान पर रहने लगा। उसने अपने-अपने जीवन को कृषि और पशुपालन में लगा दिया तथा आवश्यकतानुसार ध ातु युग को जन्म दिया। जब वह अनाज अथवा कृषि पदार्थ उत्पन्न करने के पश्चात् धातु का प्रयोग वस्तु विनिमय के रूप में करने लगा उसी समय से दान की भावना का उदय हुआ तथा धर्म का उदय भी इसी समय हुआ। व्यक्ति को यह आभास हुआ कि कोई महाशक्ति हमारी सृजेता है, वही हमारा विकास करती है और यही हमारा संघार भी करती है, उसी को परमात्मा, शक्ति तथा देवता के रूप में माना जाने लगा तथा यह अनुभव किया जाने लगा कि जो व्यक्ति विद्या, यज्ञ, तथा संस्कारिक कार्यों को देखते हैं उन व्यक्तियों के भरण पोषण की जिम्मेदारी समाज की है इसलिये समाज के लोग इन्हें भूमि, पशु और धन दान के रूप में देने लगे, किन्तु इस युग में न तो कोई धार्मिक ग्रन्थ थे और न सामाजिक व्यवस्था के कोई नियम। केवल मानवीय भावनाओं के आधार पर दान दिया और लिया जाता था।

सिन्धु घाटी की सभ्यता में दान– इतिहासकारों के अनुसार भारत की सबसे प्राचीनतम सभ्यता सिन्धु घाटी की सभ्यता है इस सभ्यता की खोज सन् १९२२ के लगभग हुयी। अन्वेषकों का मानना है कि यह सभ्यता हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो के अतिरिक्त अफगानिस्तान और बलूचिस्तान तक फैली हुयी थी। उत्खनन से जो अवशेष प्राप्त हुये है उनसे यह पता चलता है कि यह सभ्यता ३५०० ई०पू० से लेकर १७०० ई०पू० तक फलीफूली और उसके बाद उसका ह्रास शुरू हुआ। इस सभ्यता का सम्बन्ध काकेशियन मंगोलियन्न आदि सभ्यताओं से भी था। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु घाटी सभ्यता के लोग भवन निर्माण और नगर निर्माण से भली-भाँति परिचित थे तथा सुन्दर स्नानागारों का निर्माण करते थे। इनसे यह अंदाज लगाया जा सकता है कि ये लोग भी एक दूसरे के सहयोगी थे और धार्मिक भावनाओं से ओत प्रोत थे ये लोग मातृ देवी तथा शिव की उपासना करते थे। प्रकृति की पूजा के साथ-साथ उनके यहाँ पशुपूजा भी होती थी यद्यपि दान देने की प्रथा सिन्धु सभ्यता में भी किन्तु दान का स्वरूप क्या था इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इनकी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत, पुजारी, ज्योतिषी, जादूगर वैद्य आदि उच्च जाति के माने जाते थे। इससे यह अंदाज लगाया जा सकता है कि पुजारियों और ज्योतिषियों को दान देने की प्रथा सिन्धु सभ्यता में रही होगी।

वैदिक सभ्यता में दान– भारतवर्ष में जिस सभ्यता से सम्बन्धित प्राचीनतम ग्रन्थ उपलब्ध होतें है, वह वैदिक सभ्यता है। वैदिक काल की सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभ्यता का

उल्लेख ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में मिलता है, यद्यपि इनका रचनाकाल सुनिश्चित नहीं है फिर भी इन्हें १५०० ई० पू० से लेकर ६०० ई० पू० तक का माना जा सकता है इस काल को दो भागों में विभाजित किया जाता है पूर्ववैदिक काल और उत्तरवैदिक काल। जहाँ पूर्व वैदिक काल में ऋग्वदों की रचना हुयी है वहीं उत्तरवैदिक काल में यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, लौकिक साहित्य, आदि लिखे गये। इन ग्रन्थों में दान का व्यापक उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में दान की चर्चा कई स्थानों पर मिलती है।[२१६] इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग में दान को धर्म का अंग माना जाता था तथा दान दाता बड़ी ही श्रद्धा के साथ दान देता था। उत्तरवैदिक काल एवं पौराणिक युग में भी दान को धर्म का अंग माना जाता था इसका उल्लेख हमें शतपथ ब्राह्मण, व्रहदारणयक उपनिषद के अतिरिक्त महाभारत के अनुशासन पर्व में भी उपलब्ध होते हैं।

यदि वेदों, पुराणों, उपनिषदों, धर्मसूत्र ग्रन्थों का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि इनमें सर्वत्र दान को सर्वश्रेष्ठ माना गया है तथा दानफल को मोक्ष और प्रतिष्ठा दिलाने वाला कहा गया है।

छठी शताब्दी ई० पू० से लेकर चौथी शताब्दी ई० पू० तक दान की स्थिति– प्राचीन काल में बौद्ध युग में दान के सन्दर्भ में यह धारणा थी कि जिस व्यक्ति के पास धन एकत्रित हो गया है उन लोगों से धन दान के रूप में लेकर उसका पुनः वितरण करा दिया जाता था। दान के सन्दर्भ में अनेक प्राचीन अभिलेख उपलब्ध हुए हैं। जिनमें यह उल्लेख है कि दानदाताओं ने दान देकर याचकों की मदद की है। ज्यादातर इस युग में भी दान ब्राह्मणों तथा बौद्धभिक्षुओं को ही दिया जाता था। पाली जातकों में इस बात का उल्लेख है कि जब राजा लोग राजसूय अथवा अन्य यज्ञ करते थे उस समय वे लोग पुरोहित तथा ब्राह्मणों को दान देते थे। ४००ई.पू. के जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं उनमें दान का उल्लेख है, यह अभिलेख संस्कृत और पाली भाषा में हैं। इस काल में जो लोग धार्मिक तथा अन्य पवित्र कार्य करते थे उन्हें विशेष सहयोग प्रदान किया जाता था। इसका उल्लेख तद्‌युगीन ग्रन्थ निरूक्त और अष्टाध्यायी में भी है। अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना ६०० ई० पू० से ३०० ई० पू० तक हुयी, इनमें दान का उल्लेख है। इस युग में जो पाली भाषा में ग्रन्थ लिखे गये है उनमें भी दान का उल्लेख है इन ग्रन्थों में सुत्तपिटक का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त मज्झिम निकाय, अंगुत्तर निकाय, विनय पिटक, पतिमोक्खा, महावग्ग, चुल्लवग्ग आदि बौद्ध ग्रन्थों में दान मे उल्लेख प्राप्त होते हैं।[२१७]

मौर्यकाल में दान की स्थिति– चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में उसके प्रधानमंत्री कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की रचना की, इसके कुछ श्लोक मौर्य काल के महान सम्राट अशोक ने अपने अभिलेखों, स्तम्भलेखों, शिलालेखों तथा दीवारों में अंकित कराये। इन अभिलेखों का निर्माण तथा लेखन कार्य २७४ ई० पू० से २३० ई० पू० तक हुआ। इसं लिये इस काल में दान की महत्ता के संदर्भ में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इस अर्थशास्त्र में लेखक का नाम अंकित है तथा

इसकी रचना ३०० ई०पू० की है।[२१८] इस ग्रन्थ में यह उल्लेख मिलता है कि राज्य की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था का आधार क्या होना चाहिये तथा दान क्यों दिया जाना चाहिये। कौटिल्य ने ब्राह्मणों के लिये निःशुल्क भूमि के दान की बात कही है। मेगस्थनीज ने भी अर्थशास्त्र के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये है इसके अतिरिक्त सुत्तपिटक पालि जातक में भी दान से सम्बन्धित अनेक कथायें दी गयी है।[२१९] मौर्य शासक अशोक के शासनकाल में दान की अवधारणा का पर्याप्त विकास हुआ। अशोक ने बौद्ध विहारों, भिक्षुओं, परिव्राजकों आदि को मुक्त हस्त से दान दिये, उसके द्वारा अनेक गुहाविहारों का दान भी किया गया। अशोक के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने दान की इस परम्परा का बखूबी निर्वाह किया।

इसी समय जैन धर्म का भी पुनरुत्थान हुआ तथा जैनसूत्रों की रचना हुयी। उनमे भी दान का उल्लेख है। उत्तर मौर्यकाल में हमारी ऐतिहासिक गतिविधियाँ शुंग काल पर चलने लगीं। इस युग के अनेक अभिलेख उपलब्ध होते हैं, ये अभिलेख राजप्रशस्ति के रूप में लिखे गये हैं। ये अभिलेख दान से सम्बन्धित हैं, ये अभिलेख हमे मूर्तियों, स्तम्भों और तोरणद्वार आदि स्थानों पर उपलब्ध होते हैं इनका सम्बन्ध भूमि दान से है इनमें कहीं-कहीं दान में दी जाने वाली वस्तुओं का उल्लेख है इन अभिलेखों में मुख्य रूप से मथुरा, साँची, कार्ले तथा कुदा के अभिलेखों में दान का उल्लेख मिलता है। जो अभिलेख मिलते है उनमें शासक के वंश का परिचय तथा राजा का परिचय, दान देने वाले व्यक्ति का वंश, वैदिक शाखा और गोत्र का वर्णन, दान दी गयी भूमि की पैमाइश (सीमा), कर की सूची, राज्य कर्मचारियों की सूची, दान का अवसर (विजय, तीर्थ, ग्रहण और धार्मिक कार्य) आदि का उल्लेख है। इसमें दान दाता के उत्तराधिकारियों को यह निर्देश भी रहता था कि वह दान ली हुयी भूमि वापस न लें।

मौर्य काल के बाद दान की स्थिति- मौर्यकाल के बाद भी अनेक शासकों ने समय-समय पर दान दिये। चेदि राजाओं ने भी अनेक अवसरों पर दान दिये। चेदि राजा खारवेल,[२२०] शक,[२२१] कुषाण[२२२] तथा सातवाहन[२२३] राजाओं के अभिलेख भी दान के सन्दर्भ में उपलब्ध होते हैं। दान देने से उनका राजनीतिक महत्व बढ़ जाता था। दान देने की जो परम्परा प्राचीनकाल में प्रारम्भ हुयी थी उसकी गति मन्द नहीं हुयी। मिलिन्द के शासनकाल में सन् १५० ई० में दान से सम्बन्धित ऐतिहासिक अभिलेख उपलब्ध होते है।[२२४] नहपान के दामाद उषवदात (प्रथम शताब्दी ई०) के शिलालेख से पता चलता है कि वह प्रतिवर्ष तीन लाख गायें एवं १६ ग्राम ब्राह्मणों एवं देवताओं को दान देता था, प्रतिवर्ष एक लाख ब्राह्मणों को भोजन देता था, उसने प्रभास (सौराष्ट्र) में अपने व्यय से आठ ब्राह्मणों के विवाह कराये, उसने बर्णासा नदी के किनारे सीढ़ियाँ बनवायीं, भरुकच्छ (आधुनिक भड़ौंच), दशपुर (मालवा), गोवर्धन (नासिक), एवं शूर्पारक (सोपारा) में चतुः शालायें, गृह एवं प्रतिश्रय (ठहरने के स्थान) बनवाये। कूप एवं तालाब बनवाये, दूबा, पारदा, दमणा, तापी, करबेणा, दाहानुका (ये सभी थाना एवं सूरत के बीच में हैं) नामक नदियों पर निःशुल्क नावे चलवायी, जल वितरण के लिये आश्रय स्थल एवं सभागृह बनवाये।

शूर्पारक में रामतीर्थ एवं अन्य तीन स्थानों के चरक शाखा के ब्राह्मणों की सभा में ननगोला (आधुनिक नर्गोल) में ३२००० नारियल दिये। उषवदात ने यह भी लिखा है कि उसने एक ब्राह्मण से ४००० कार्षापण देकर भूमि खरीदी और उसे अपने द्वारा निर्मित गुफा में चारों ओर से आने वाले भिक्षुओं को दे दिया। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि भूमिदान का सबसे प्राचीन पुरालेखीय प्रमाण ई० पू० पहली शताब्दी का एक सातवाहन अभिलेख में मिलता है जिसमें अश्वमेध यज्ञ में एक गाँव दान करने की चर्चा है। दूसरी शताब्दी में सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि ने बौद्ध भिक्षुओं को गाँव दान कर इस परम्परा को आगे बढ़ाया और यहीं से भूमिदान की परम्परा प्रचलित हो गयी।

गुप्तकाल में दान की स्थिति- गुप्तकाल में विशेषकर दान के सन्दर्भ में एक विशेष परिवर्तन हुआ और राज्य व्यवस्था सामंतवादी ढाँचे में ढलने लगी। इनमें सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति ब्राह्मणों को भूमिदान देने की थी। पाँचवी शताब्दी में भूमिदान की प्रवृत्ति खूब बढ़ी। इनकी दो महत्वपूर्ण विशेषतायें थीं- एक तो राजस्व के समस्त साधनो का ग्रहीता के नाम हस्तान्तरण और दूसरी दान लेने वाले पर आंतरिक सुरक्षा और प्रशासनिक दायित्वों का बोझ डाल देना। गुप्तकाल में दाता राजस्व के परिवार के साथ-साथ दान किये गये गाँवों के निवासियों पर शासन करने का अधिकार भी ग्रहीता को दे देता था। गुप्तकाल में मध्य भारत के बड़े-बड़े सामन्त राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को दान स्वरूप बसे-बसाये गाँव देने के ऐसे कम से कम आधे दर्जन उदाहरण प्राप्त होते हैं। इन अनुदानों में सामंत राजाओं ने सम्बन्धित गाँवों के निवासियों को स्पष्ट निर्देश दिया है कि वे ग्रहीताओं को केवल प्रचलित कर ही नहीं दें बल्कि उनके आदेशों का भी पालन करें।[२२५] इस प्रकार गुप्तकाल और उसके बाद दान के माध्यम से एक नयी विचारधारा का जन्म हुआ जिसे सामंतवाद के नाम से जाना जाता है।

गुप्तकाल में याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन, बृहस्पति आदि स्मृतियों तथा हितोपदेश एवं पंचतंत्र आदि ग्रन्थों की रचना हुयी। गुप्तकाल में ही सन् ४१२ ई० में फाहियान भारत आया उसने भी गुप्तकाल के विषय में अपना विवरण लिखा है। इन सभी ग्रन्थों में दान के सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा की गयी है। साथ ही इस काल के अभिलेखों में भी दान के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।

वर्द्धनकाल में दान की स्थिति- वर्द्धन राजाओं विशेषकर हर्षवर्द्धन के शासनकाल तक आते-आते सामन्तवादी व्यवस्था को निश्चित आधार प्राप्त हो चुका था। हर्षवर्द्धन के समय में ब्राह्मणों के साथ-साथ राज्य कर्मचारियों को भी राज्य की सेवा के बदले भूमि दी जाती थी। हर्ष के अभिलेखों के अनुसार इन बड़े अधिकारियों में हम दौस्सा, धसा, धनिकों, प्रमातारों, राजस्थानियों, उपरिकों तथा विषयपतियों को शामिल कर सकते हैं।[२२६] हर्षवर्द्धन जहाँ एक विजेता, शासक तथा शान्ति निर्माता के रूप में प्रसिद्ध है वहीं वह महान दानी के रूप में भी विख्यात है। ह्वेनसांग की जीवनी से ज्ञात होता है कि हर्ष प्रत्येक पाँचवें वर्ष प्रयाग में एक महान दानोत्सव (महामोक्षपरिषद) किया करता था।[२२७] स्वयं ह्वेनसाँग इसके छठे उत्सव में सम्मिलित हुआ था। इस उत्सव में हर्ष

द्वारा पाँच लाख श्रमण, निर्ग्रन्थ, ब्राह्मण, निर्धन, अनाथ और दीनों को मुक्त हस्त से सोना, चाँदी, मोती, रेशमी और सूती वस्त्र दान में दिये गये थे। यह उत्सव पचहत्तर दिनों तक चलता था। इस उत्सव का प्रारम्भ एक अत्यन्त भव्य सैनिक जुलूस से हुआ। प्रथम दिन बालुका पर बनी हुयी एक अस्थायी वेदिका पर स्थापित बुद्ध की मूर्ति की पूजाकर हर्ष ने भरपूर बहुमूल्य वस्तुयें और वस्त्र दान किया। दूसरे दिन आदित्य और तीसरे दिन शिव की पूजा के साथ वैसी ही वस्तुयें दान की गयी। चौथे दिन से उस विशाल कोष का दान उन बौद्ध भिक्षुओं, ब्राह्मणों, जैनों और अन्य ध र्मावलम्बियों को प्रारम्भ हुआ जो वहाँ इकट्ठे थे। गरीबों अनाथों और अपाहिजों को भी लगभग एक माह तक दान बँटते रहे। पिछले पाँच वर्षों तक राजकोष में जो भी शासन के व्ययों के अतिरिक्त बचत थी, वह भी दान कर दी गयी। पुनः हर्ष ने अपने सारे निजी आभूषण और वस्त्र दान में दे डाले और स्वयं अपनी बहन राज्यश्री से कपड़े माँगकर पहने। उपस्थित राजाओं ने उसे जो भेंट दी, उसे भी उसने दान कर दिया। हर्षवर्द्धन तथा उसके अन्य मंत्रियों एवं राज्याधिकारियों द्वारा दिये गये दानों का उल्लेख भी हर्षचरित, कादम्बरी, ह्वेनसांग के यात्रा वृतान्त तथा शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों में मिलता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि दान का महत्व इतनी तेजी से क्यों बढ़ा। कौन सी ऐसी परिस्थितियाँ थी जिन्होने सम्राटों, सामन्तों और राजाओं को प्रेरित किया कि वे दान दें। कुछ सम्भ्रान्त व्यक्ति पुरुषार्थ की भावना से प्रेरित होकर दान देने में दिलचस्पी दिखाते रहे। दान की इस भावना से समाज में एक बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। जिन व्यक्तियों के पास अतिरिक्त धन संचित होजाता था, वे दान देकर धन को हस्तान्तरित कर देते थे। दान के साथ एक सबसे बड़ी शर्त दक्षिणा की भी थी जो आध्यात्मिक तर्क के हिसाब से सही बैठती थी किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिन व्यक्तियों और संस्थाओं को दान मिलता था क्या वे इसका सही उपयोग करते थे। इस समय जो अन्धविश्वास फैला हुआ था उसने दान के स्वरूप को विकृत भी किया। एक याचक दान के धन से करोड़पति बनने के पश्चात् भी प्रलोभन से दान लेना नहीं चूकता था।

दान की इस भावना ने अन्धविश्वास तथा अनेक कुरीतियों को भी जन्म दिया। दान में पाये धन को ब्राह्मण, महन्त तथा अन्य ग्रहीता वर्ग व्यर्थ में खर्च करने लगे तथा धर्म को तोड़ मरोड़कर प्रस्तुत करने लगे। इस युग में भौतिकवादी संस्कृति का विकास हुआ और लोग प्राचीन परम्परा पर विश्वास करते हुये दान देते रहे। दान की इस भावना ने दान लेने वालों तथा दान देने वालों दोनो को प्रभावित किया। विशिष्ट संकेत और निर्देशन से दान लिया और दिया जाता रहा। मुख्य रूप से तीर्थस्थल, धार्मिक स्थल, नदी, सरोवर, तीज-त्योहार तथा अन्य धार्मिक उत्सवों में दान लेने देने की प्रथा प्रचलित हुयी।

राजपूत काल में दान की स्थिति– आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी का समय राजपूत काल के नाम से विख्यात है। इस युग में व्यक्ति व शासक आत्मप्रशंसा सुनने के आदी थे। राज्याश्रित कवियों ने राजपूतों के सन्दर्भ में अनेक रासो ग्रन्थों की रचना की, इन ग्रन्थों

में चन्द्रवरदायी कृत पृथ्वीराज रासो तथा अन्य ग्रन्थों में हम्मीर महाकाव्य, वीसल देवरासो आदि ग्रन्थ लिखे गये। इन राजवंशों में गुर्जर प्रतिहार, गहड़वाल वंश, चौहान वंश, परमार वंश, चन्देल वंश, कल्चुरि वंश, सोलंकी वंश तथा बघेलवंश आदि के शासकों ने राज्य किया। इन शासकों ने आपस में लड़कर देश को कमजोर किया, जिससे विदेशी शासको को भारतवर्ष में आक्रमण करने का अवसर मिला। महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी, आदि ने राजपूतों के शासन काल में ही समय-समय पर आक्रमण किये। ये शासक नारियों के लिये, आत्मवर्चस्व के लिये तथा राज्य की सम्पत्ति के व्यक्तिगत लाभ के लिये युद्ध करते थे फिर भी ये शासक दानवीर और धार्मिक थे। इन्होने अनेक स्थलों पर मन्दिरों का निर्माण कराया व दान दिया। उदाहरणार्थ- चन्देल नरेश मदनवर्मा ने अपने शासनकाल में वि०सं० ११८६ अर्थात् ११२६ में कालिंजर में उसके महाप्रतिहार तथा महानचनी पद्मावती को इस क्षेत्र में भूमि दान में दी।[२२८] इसी प्रकार ननयोरा से देववर्मा का ताम्रपत्र अभिलेख प्राप्त हुआ है यह वि०सं० ११०७ अर्थात् १०५० ई० का है। देववर्मन ने अपनी माता रानी भुवनदेवी के श्राद्ध दिवस पर एक गाँव दान में दिया था।[२२९] इसी नरेश का एक ताम्रपत्र चरखारी में भी मिला है यह वि०सं० ११०८ अर्थात् १०५१ ई० का है इस ताम्रपत्र के ऊपर सम्बद्ध मुद्रा पर गजलक्ष्मी की आकृति के साथ ''श्रीमद्देववर्मन देवः स्वहस्तः विरद' अंकित है।[२३०] दानपत्रों में बंगाल के राजा देवपाल तथा गाहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र के ताम्रपत्र सर्वाधिक मिलते हैं। कभी राजा विजय के अवसर पर याददाश्त के रूप में दानपत्र लिखकर ब्राह्मणों को दे दिया करते थे।[२३१]

इस प्रकार हम देखते है कि जहाँ राजपूत संघर्षशील जाति थी वहीं यह दानशील और जनता के प्रति उदार भी थी। उनकी उदारता के अनेक उदाहरण तद्युगीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते है। इसकाल में सामन्तवादी प्रवृत्तियाँ अपने चरमोत्कर्ष पर थी।

इस प्रकार हम देखते है कि दान का प्रादुर्भाव मानव की सभ्यता के साथ हुआ तथा प्राचीन काल के प्रत्येक युग में इसका अस्तिव रहा। प्राचीन काल के अनेक राजाओं ने विभिन्न प्रकार के दान समय-समय पर दिये। दान का स्वरूप भी प्रत्येक काल में बदलता रहा, किसी काल में गोदान की महत्ता थी तो किसी काल में भूमिदान की। विशेषकर गुप्तकाल तथा गुप्तकाल के बाद दान के स्वरूप में परिवर्तन आया और इस काल के राजाओं द्वारा भूमिदान देने तथा दान की गयी भूमि के समस्त राजस्व सम्बन्धी तथा प्रशासन सम्बन्धी अधिकार ग्रहीताओं को सौंप देने के कारण सामन्तवादी व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। जिसके अनेक दूरगामी परिणाम हुये।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. मनुस्मृति, १, ८६, १५।

२. पद्मपुराण, १, १८, ४४०।

३. पाराशर स्मृति, १, २३।

४. लिंग पुराण, १, ३६, ७।

४. भविष्य पुराण, १, २, ११६।

६. स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड- कुमारिकाखण्ड, ३, ३६-४०।

७. ऋग्वेद, १०, ११७, १।

८. वही, १०, ११७, २।

६. वही, १०, ११७, ३।

१०. ऋग्वेद, १०, ११७,४।

११. चन्द्र, अविनाश, हाइमन्स फ्राम दि वेदाज्, पृष्ठ-६६।

१२. ऋग्वेद, १०, ११७, ५।

१३. चन्द्र, अविनाश, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-१६६।

१४. द्वारा उद्धृत, मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पंचम संस्करण, दिल्ली, १६६२, पृष्ठ-८१०।

१५. अशोकाज् कलिंग्स एडिक्ट, न.-२।

१६. भगवद्गीता, ४, ७-८।

१७. रामायण, वालकाण्ड, २१, २४- २५।

१८. वही, २२, ३।

१६. महाभारत, सभापर्व, १३१, ५६-५८।

२०. वही, १२, १५-१७।

२१. स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड-कुमारिकाखण्ड, पृष्ठ-७६।

२२. बाम्बे यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी बुद्धिस्ट इमेज इन्सकृप्सन ऑफ दि टाइम ऑफ हुविस्क, न. ४३।

२३. बोधगया बुद्धिस्ट कापिंग इन्सकृप्सन न. ६५२।

२४. स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड-कुमारिकाखण्ड, ३, ३६-४०।

२५. बौधायन धर्मसूत्र, २, ३, ५; १७, १८।

२६. मनुस्मृति, ४, ३२।

२७. गिफ्ट्स विस-ए-विस इवोल्यूसन ऑफ पैड्रिआर्चल फैमिली एंण्ड प्रापर्टी राइट, पृष्ठ५२।

२८. स्कन्दपुराण; माहेश्वरखण्ड-कुमारिकाखण्ड, पृष्ठ- ८१।

२६. वही।

३०. वही।

३१. वही, पृष्ठ, ८१-८२।

३२. वही, २, ६५-६६।

३३. वही।

३४. वही।

३५. वही, ३, ४२-४६।

३६. वही।

३७. वही।

३८. वही।

३६. वही।

४०. वही।

४१. वही, २, ६५-६६।

४२. वही।

४३. वही।

४४. ऋग्वेद, ५, ७६, २।

४५. जैमिनि पूर्वमीमांसासूत्र, ३, १, ३ पर शबर की टीका।

४६. रामायण, बालकाण्ड, १८, २०, ६८।

४७. वही, पृष्ठ-६६।

४८. अल्वरूनी, ग्यारहवीं सदीं का भारत, पृष्ठ-२२४।

४६. संस्कार प्रकाश, पृष्ठ-२५८; संस्काररत्नमाला, पृष्ठ-८७३; संस्कारकोस्तुभ पृष्ठ-३७०।

५०. आश्वलायन गृहसूत्र १, १८।

५१. ऋग्वेद, १, १५२, १।

५२. वही, २, ३६, २।

५३. मनुस्मृति, ३, ५१।

५४. रामायण, ७२, २२, पृष्ठ-१७०।

५५. वही, ७३, २६, पृष्ठ-१७२।

५६. वही, ७४, ३-४,पृष्ठ-१७३।

५७. वही, ७४, ५,पृष्ठ-१७३।

५८. मत्स्य पुराण, ३६, १७।

५६. विष्णु पुराण, ३; १३, २०।

६०.गिडिंग्स,प्रिंसिपल्स ऑफ सोसियोलाजी, पृष्ठ-२७।

६१. स्कन्द पुराण, माहेश्वरखण्ड-कुमारिकाखण्ड, २, ६५-६६।

६२. वाजसनेयी संहिता, २, ३; ५, २७।

६३. गौतम धर्मसूत्र, १६.१, के व्याख्याता हरदत्त तथा मनुस्मृति, २.२५, के व्याख्याता गोविन्दराज ने भी धर्म के ये ही पाँच प्रकार बतायें हैं।

६४. मनुस्मृति, २, ६।

६५. ऋग्वेद, ७, १०४, १२।

६६. तैत्तिरीय उपनिषद, १, ११, १।

६७. महाभारत, १६२, ७।

६८. मत्स्य पुराण, ५२, ८-१०; वायु पुराण, ५६, ४०-४६; मार्कण्डेय पुराण, ६१, ६६; विष्णु पुराण, ३, ८३५-३७।

६९. कल्याण, देवतांक, पृष्ठ ४६।

७०. स्कन्द पुराण, माहेश्वरखण्ड-कुमारिकाखण्ड, २, ४७-४८।

७१. वसिष्ठ धर्मसूत्र, २६, १६; बृहस्पति स्मृति, ७; विष्णु धर्मोत्तर; मत्स्य पुराण (अपरार्क, पृष्ठ ३६६-७० में उद्घृत)।

७२. महाभारत, अनुशासनपर्व, ६२, १६।

७३. अपरार्क, पृष्ठ ३६८-७०।

७४. महाभारत, वनपर्व, ८३, ७८-७६।

७५. याज्ञवल्क्य स्मृति, १, ३१८-२०।

७६. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये, गुप्त इंस्कृप्संस, संख्या ८, पृष्ठ ३६ जहाँ केवल इतना ही आया है 'जो भी कोई इस दातव्य को समाप्त करेगा वह पंच महापापों का भागी होगा', इसी प्रकार संख्या ५ पृष्ठ ३२ में आया है 'जो इस दातव्य को समाप्त करेगा वह ब्रह्महत्या, गोहत्या एवं पंच महापापों का अपराधी होगा।

७७. एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द-६, पृष्ठ-१४।

७८. वही, पृष्ठ-१००।

७९. पराशर स्मृति, १२, ५१।

८०. गुप्त इंस्कृप्संस, संख्या २३, पृष्ठ-१०७।

८१. एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द-२२, पृष्ठ-१२६।

८२. वही, जिल्द-१७, पृष्ठ-३४५।

८३. वही, जिल्द८, पृष्ठ६५; जिल्द ६, पृष्ठ ८७; गुप्त इंस्कृप्संस, संख्या ५५, पृष्ठ २३५।

८४. वही, जिल्द ६, पृष्ठ ८७।

८५. वही, जिल्द १३, पृष्ठ ३४; इण्डियन ऐंण्टिक्वेरी, जिल्द १६, पृष्ठ २४४।

८६. जैमिनी, ६, ७,३।

८७. व्यवहारमयूख, पृष्ठ ६१।

८८. याज्ञवल्क्य स्मृति, १, ३१८ पर मिताक्षरा की टीका।

८९. एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द ७, पृष्ठ १५५।

९०. मनुस्मृति, ९, २३२।

९१. वही, ७, १३०-३२।

९२. वही, १०, ११८।

९३. वही, ९, ४४।

९४. वही, ८, ३९।

९५. वही, ८, २४३।

९६. वही, ७, ११५, ११९।

९७. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, २, १।

९८. महाभारत, वनपर्व, ६८, ४; आश्रमवासिक पर्व, २, २; १०, ४१; १३, ११; १४,१४; २५, ५; एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द १, पृष्ठ ८८; मधुवन ताम्रपत्र; वही, जिल्द १, पृष्ठ ७३, जिल्द ७, पृष्ठ १५८।

९९. अग्निपुराण, २०९, २३-२४।

१००. लिंग पुराण, अध्याय-२८।

१०१. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, ३, ३१; १३, १५।

१०२. एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २०, पृष्ठ ७९।

१०३. बाणभट्ट, हर्षचरित, ३।

१०४. एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ७, पृष्ठ ५७; जिल्द ८, पृष्ठ ७८।

१०५. वही, जिल्द ७, पृष्ठ २९; जिल्द १०, पृष्ठ ११२; जिल्द ९, पृष्ठ २४; जिल्द ११, पृष्ठ २०; जिल्द १४, पृष्ठ १९७।

१०६. वही, जिल्द १२, पृष्ठ १०।

१०७. वही, जिल्द १८, पृष्ठ २३५-३८।

१०८. मत्स्य पुराण, २७४, ११-१२।

१०९. वही, अध्याय २७४-८९; हेमाद्रि, दानखण्ड, पृष्ठ १९६-३४५; दानमयूख, ८६-१५१।

११०. अपरार्क, पृष्ठ ३२०; हेमाद्रि, दानखण्ड, पृष्ठ २१४।

१११. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये-चण्डेश्वर कृत विवादरत्नाकर।

११२. मत्स्यपुराण, २७५; लिंगपुराण, २, २९।

११३. वही, २७६।

११४. मत्स्यपुराण, २२७; लिंगपुराण २, ३३।

११५. अपरार्क, पृष्ठ ३२९।

११६. मत्स्यपुराण, २७८; लिंगपुराण, २,३८।

११७. वही, २७६; वही, २, ३५।

११८. वही, २८०।

११६. हेमाद्रि, दानखण्ड, पृष्ठ २७८।

१२०. मत्स्यपुराण २८१।

१२१. वही, २८२।

१२२. वही, २८४।

१२३. वही।

१२४. वही, २८५।

१२५. वही, २८६।

१२६. वही, २८७।

१२७. वही, २८६।

१२८. मनुस्मृति, ४, २३१।

१२६. याज्ञवल्क्य स्मृति, १, २०४-५।

१३०. अग्निपुराण, २१०, ३०।

१३१. महाभारत, अनुशासनपर्व, ५१, २६-३४; ८३, १७।

१३२. याज्ञवल्क्य स्मृति, १, २०५।

१३३. वाराह पुराण, १११।

१३४. याज्ञवल्क्य स्मृति, १, २०६-७; अग्निपुराण, २१०, ३३; विष्णु धर्मसूत्र, ८८, १-४; महाभारत, वनपर्व, २००, ६६-७१; अत्रिसंहिता, ३३३; वाराह पुराण ११२।

१३५. ऋग्वेद, १, १३६, ११; १०, १६, १२; १०, ७५, ५; ६, ७५, ४; ३, ८, ११; ७, ४६, १; ६, ७५, १४; १, ६०, ६; १, ११२, १; १, २२, १३; १, १८५, ७; १, १६४, ४१।

१३६. मत्स्य पुराण, ८२, १७-२२।

१३७. अग्नि पुराण, २१०, ११-१२।

१३८. महाभारत, अनुशासनपर्व, ७१, ३६-४१; वाराह पुराण, ६६-११०।

१३६. हेमाद्रि, दानखण्ड, पृष्ठ ४०१; दानमयूख, पृष्ठ १७२-८४।

१४०. मत्स्य पुराण ८३, ६२।

१४१. अग्नि पुराण, २१०, ६-१०।

१४२. हेमाद्रि, दानखण्ड, पृष्ठ ३४६-६६।

१४३. काणे, पाण्डुरंग वामन, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, तृतीय संस्करण, लखनऊ १६८०, पृष्ठ ४६८।

१४४. अपरार्क, पृष्ठ ३८६-४०३; हेमाद्रि, दानखण्ड, पृष्ठ ५२६-४०।

१४५. काणे, पाण्डुरंग वामन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ४६८।

१४६. एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १८, पृष्ठ ३४०।

१४७. अग्नि पुराण, २११, ६१।

१४८. गौतम धर्मसूत्र, ११, १५; आंश्वलायन गृह्यसूत्र, ३, १२, १६।

१४९. याज्ञवल्क्य स्मृति, १, २९५-३०८।

१५०. ऋग्वेद, १, ३५, २; ८, ४४, १६; २, २३, १५; १०, ६, ४; १, ६, ३; वाजसनेयी संहिता, ६, ४०; १५, ५४; १६, ७५; १३,२०।

१५१. याज्ञवल्क्य स्मृति, १, ३०८।

१५२. अपरार्क, पृष्ठ ३६५-६६; याज्ञवल्क्य स्मृति, १, २०६।

१५३. हेमाद्रि, दानखण्ड, पृष्ठ ८६३-६५।

१५४. गौतम धर्मसूत्र, ५, २२-२३।

१५५. वही, ५, २।

१५६. नारद स्मृति (दत्ताप्रदानिक, ६-१०)।

१५७. कात्यायन (अपरार्क, पृष्ठ ७८१)।

१५८. मनुस्मृति, ८, १६५।

१५९. कात्यायन (अपरार्क पृष्ठ ७८२)।

१६०. मनुस्मृति ४, ३२।

१६१. दूत जातक, भाग दो, २६०; ब्रह्मदत्त जातक, भाग तीन, ३२३।

१६२. रामायण, बालकाण्ड, अध्याय-१४; अयोध्याकाण्ड, अध्याय-७७।

१६३. हेनसाँग की जीवनी, पृष्ठ १८३-८७।

१६४. मनुस्मृति ४, २३०।

१६५. वही, ६, २।

१६६. बौधायन धर्मसूत्र, १०, १।

१६७. रामायण, अरण्यकाण्ड, ६८, ६५१।

१६८. वही, बालकाण्ड, ३३, ६७।

१६९. काणे, पाण्डुरंग वामन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ४४६।

१७०. मनुस्मृति, ४, २२६-७।

१७१. स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड-कुमारिकाखण्ड,२, ४७-४८।

१७२. वही, २, ७०।

१७३. वही, ३, ५१।

१७४. वही, ३, ५३।

१७५. अग्नि पुराण, २०६, १६-३६।

१७६. वही।

१७७. वही।

१७८. भगवद्गीता, १७, २०-२२।

१७९. याज्ञवल्क्य स्मृति, १, २०३।

१८०. लघुशातातप : अपरार्क, पृष्ठ २९१ में शातातप नाम से उद्धृत; महाभारत, वनपर्व, २००, १२५।

१८१. महाभारत, वनपर्व, २००, १२५।

१८२. संवर्त, २०८-०९।

१८३. विष्णु धर्मसूत्र, अध्याय ८९।

१८४. अत्रि स्मृति, ३२७।

१८५. एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द ११, पृष्ठ २८६; इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ६, पृष्ठ ७३।

१८६. वही, जिल्द ३, पृष्ठ १००।

१८७. जे०बी०ओ०आर०एस०, जिल्द २०, पृष्ठ १३५; एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द १, पृष्ठ ३४१; जिल्द १६, पृष्ठ ४१।

१८८. इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १२, पृष्ठ १६३।

१८९. एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द ८, पृष्ठ १८२; जिल्द १२, पृष्ठ १४२; जिल्द ८, पृष्ठ १५६।

१९०. वही, जिल्द ७, पृष्ठ ६३ व ६८; जिल्द १४, पृष्ठ ११८ व ३२४।

१९१. दानमयूख, पृष्ठ ८।

१९२. स्कन्द पुराण (हेमाद्रि, दानखण्ड, पृष्ठ ८३ में उद्धृत)।

१९३. अग्नि पुराण, २११, ३१।

१९४. हेमाद्रि, दानखण्ड, पृष्ठ ६६-६७; दानमयूख, पृष्ठ ११-१२।

१९५. तैत्तिरीय ब्राह्मण, २, २, ५; आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १४, ११, ३।

१९६. अग्नि पुराण, २०९, ५९-६१।

१९७. नारद स्मृति (दत्ताप्रदानिक, ४-५)।

१९८. दक्ष स्मृति, ३, १९-२०।

१९९. व्यास स्मृति, ४, १६; १८; २४; २६; ३०-३१; अग्नि पुराण, २०९, ३२-३३; आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २, ४, ९, १०-१२; बौधायन धर्मसूत्र, २, ३, १९।

२००. जैमिनि, ६, ७, ४ पर शबर की व्याख्या।

२०१. वसिष्ठ धर्मसूत्र, १३, ५५।

२०२. मनुस्मृति, ४, १८८।

२०३. हेमाद्रि, दानखण्ड, पृष्ठ ५७।

२०४. महाभारत, अनुशासनपर्व, ६६, ५३।

२०५. ऋग्वेद, १०, १४, ८।

२०६. अथर्ववेद, २, १२, ४।

२०७. वही, ३, २६, १; तैत्तिरीय संहिता, ५, ७, ७, १-३; तैत्तिरीय ब्राह्मण २, ५, ५७; ३, ६, १४; वाजसनेयी संहिता, १५, ५४; कठोपनिषद, १, १, ८; माण्डूक्य उपनिषद, १, २, १०।

२०८. अपरार्क, पृष्ठ २६०।

२०६. वही।

२१०. हेमाद्रि, दानखण्ड, पृष्ठ २०।

२११. मनुस्मृति, ४, २२६।

२१२. अपरार्क, पृष्ठ १६६।

२१३. मनुस्मुति, ४, २२६-३२।

२१४. वही, ४, २३५।

२१५. वही, १, ७१-७२।

२१६. ऋग्वेद, १, १२५-२६; ५, ६१; ६, ४७, २२-२५; ७, १८, २२-२५; ८, ५, ३७-३६; ८, ६, ४६-४८; ८, ४६, २१-२४; ८, ६८, १४-१६; १०, १०७, २७।

२१७. लॉ, बी०सी०, ए हिस्ट्री ऑफ पॉली लिटरेचर, भाग १, पृष्ठ २७४; मिश्रा, जी०एस०पी०,दि एज ऑफ विनय, पृष्ठ ३४।

२१८. थापर, रोमिला, अशोक एंण्ड दि डेकलिन ऑफ दि मौर्याज्, पृष्ठ २१८-२५।

२१६. विण्टरनिट्ज, एम०, भाग २, पृष्ठ ७६।

२२०. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, दिल्ली, पृष्ठ २६-२८।

२२१. वही, पृष्ठ ४१-४६।

२२२. वही, पृष्ठ ३८-४१।

२२३. वही, पृष्ठ २६-३४।

२२४. पुरी, बी०एन०, इंडिया इन दि टाइम ऑफ पतंजलि, पृष्ठ ६-१५।

२२५. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, १६६८, पृष्ठ १३।

२२६. एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द २, न० २६, पंक्ति ६।

२२७. ह्वेनसाँग की जीवनी, पृष्ठ १८३-८७।

२२८. आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स ऑफ इंडिया (कनिंघम), जिल्द २१, पृष्ठ ३४ ए, प्लेट न० १० ए।

२२६. कीलहार्न, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १६, पृष्ठ २०२, २०४, २०७।

२३०. हीरालाल, एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द २०, पृष्ठ १२५-२८।

२३१. उपाध्याय, वासुदेव, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ २२।

तृतीय अध्याय

महाकाव्यों में वर्णित दान के विविध रूप

संसार का वह प्राणी जिसकी बुद्धि प्रखर है, वह अपनी जीवन की अनुभूतियों को प्रकट करने के लिये कोई न कोई भाषा का माध्यम अपनाता रहा है। प्रकृतिजन्य मानव की भाषा क्या रही होगी इसके सन्दर्भ में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाती किन्तु यह सत्य है कि प्रकृतिजन्य भाषा से ही भाषा, लिपि, साहित्यिक भाषा और लेखनशैली का विकास हुआ। प्ररम्भ में जब भाषा विकसित हुई उस समय उसका विभाजन काव्य अथवा गद्य, नाटक अथवा कहानी के रूप में नहीं हो सकता था, वह मात्र हमारे जीवन की अनुभूतियों का संकलन मात्र थी किन्तु जब लेखन शैली का उदय हुआ तो सर्वप्रथम चित्रलिपि का आविष्कार हुआ। अनेक इतिहास के विद्वान शैलाश्रयों में उपलब्ध शैलचित्रों को मात्र चित्र ही नहीं मानते अपितु उसे चित्रलिपि मानते हैं।, उनका मानना है कि व्यक्ति की आंगिक चेष्टाओं को चित्रांकित करके उस युग में उनकी भावनाओं को समझा जाता था। चित्रलिपि के पश्चात संकेत लिपि विकसित हुई तथा इसके साथ ही साथ लेखन सामग्री, स्याही, भोजपत्र, ताड़पत्र आदि की खोज की गई। मनीषियों ने अपनी स्मृति को इन भोजपत्रों, ताड़पत्रों में अंकित किया, इन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य के लिये उपयोगी माना गया। यदि ये पांडुलिपियाँ उस युग में न लिखी गई होतीं तो प्राचीनतम् ग्रन्थ हमें दृष्टिगोचर भी नहीं होते। कालान्तर में मनीषियों ने साहित्य का विभाजन किया तथा काव्य, महाकाव्य, और आख्यायिकाओं को अलग-अलग ढंग से लिखने की विधि ढूढ़ी गई। चूँकि हमें संस्कृत भाषा का ही साहित्य सर्वप्रथम उपलब्ध हुआ है, इसलिये हम संस्कृत को ही भारत की प्राचीनतम भाषा मानते हैं। इस भाषा में रचित सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। जिनमें ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन है इसमें देवताओं के स्वरूप तथा उनके गुणों का वर्णन है। यजुर्वेद में यज्ञों की कोटियों के सन्दर्भ में विस्तृत वर्णन प्रप्त होता है तथा यज्ञ करने की विधियों का सविस्तार वर्णन है। सामवेद में छन्द, विधान, गायन विधि का विस्तार से वर्णन है। अथर्ववेद में मनुष्य के जीवन को सुखी और स्वस्थ रखने के लिये सोमरस बनाने की विधि तथा जीवनोपयोगी औषधियों का वर्णन है। ये ग्रन्थ उस ज्ञान को आलोकित करते हैं जो व्यक्ति को विशिष्ट दिशा की ओर ले जाते हैं तथा व्यक्ति को स्वाध्यायी एवं ज्ञानवान बनाते हैं। वेदों की रचना के बाद आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद आदि ग्रन्थों की रचना हुयी तथा साहित्य का विकास द्रुत गति से प्रारम्भ हुआ। साहित्य की विधाओं के अन्तर्गत गद्य एवं पद्य शैलियों का विकास हुआ। रामायण और महाभारत की रचना (पद्य) काव्य शैली में हुयी।

काव्य क्या है- काव्य वह रचना है जिसमें व्यक्ति सुख और दुख की अभिव्यक्ति सुन्दर और ज्ञेय शब्दों में करता है। सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान मम्मट का कथन है कि काव्य रचना कवि द्वारा यश के लिये, धन अर्जन के लिये, लोक व्यवहार के ज्ञान के लिये अमंगल के नाश के लिये, संद्यः परमानन्द की प्राप्ति के लिये और कान्ता-सम्मित (प्रिया के सदृश) होने से उपदेश के लिये की जाती है। यथा-

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे।।"[1]

काव्य आनन्दमूलक होता है। रस के द्वारा ही काव्य की आनन्दमयता निष्पन्न होती है। अग्निपुराण में काव्य का प्रयोजन चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्रप्ति का साधन बताया गया है। आचार्य भामह का कथन है कि -सत्काव्य के निर्माण से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा सम्पूर्ण कलाओं में निपुणता, कीर्तिलाम (यश-प्रप्ति) और प्रीति (आनन्द) की प्राप्ति होती है, यथा-

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्य निबन्धनम्।।"[2]

पाश्चात्य विद्वान भी रसानुभाव को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन मानते हैं। उनके अनुसार आनन्द ही काव्य का परम प्रयोजन है। आचार्य मम्मट ने शक्ति, निपुणता, और अभ्यास के समुदित रूप को काव्य का हेतु माना है। उनके विचार से न केवल शक्ति ही हेतु है, न केवल निपुणता और न केवल अभ्यास ही हेतु है, बल्कि तीनों का सम्मिलित रूप ही काव्य का हेतु है। यथा-

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याध वेक्षणात्। काव्यज्ञ शिक्षाभ्यास इति हेतु स्वदुभ्दवे।।"[3]

काव्य के दो मुख्य भेद हैं- १. दृश्य और २. श्रव्य।

दृश्य काव्य का अभिनय किया जाता है वह नेत्रों के द्वारा हृदय को आहलादित करता है। दृश्य काव्य के अन्तर्गत रूपक आते हैं रूपक के दस भेद निम्नलिखित हैं-

"नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः। व्यायोग समवकारौ वीथ्यंगकेहामृगा इति।।"

श्रव्यकाव्य के दो भेद हैं- १. रूपात्मक और २. वास्तवात्मक

रूपात्मक भेद के अन्तर्गत गद्य-पद्य और चम्पू आते हैं। वास्तवात्मक भेद के अन्तर्गत महाकाव्य तथा मुक्तक आते हैं।

पाश्चात्य समीक्षा में काव्य के दो विभाग किये गये हैं-

१. विषयीगत (सबजैक्टिव) और २. विषयगत (आबजैक्टिव)

विषयीगत काव्य को प्रगीत काव्य 'लिरिक' अथवा भाव प्रधान कहा गया है और विषयगत काव्य को महाकाव्य 'एपिक' के नाम से संबोधित किया गया है। प्रगीत काव्य को वैणिक गीत और दूसरे प्रकार को अनुकृत (महाकाव्य जिसका प्रतिनिधि रूप है) या प्रकथनात्मक (नैरेटिव) कहा गया है। एपिक या महाकाव्य के दो प्रकार हैं-

१. एपिक आफ ग्रोथ (विकसनशील महाकाव्य) और

२. एपिक आफ आर्ट (अलंकृत महाकाव्य)

प्रथमवर्ग के अन्तर्गत होमर के इलियड और ओडिसी तथा रामायण और महाभारत आदि आतें है तथा द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत वर्जिल का एनीड, शिशुपालवध तथा रघुवंश आदि आते हैं।

महाकाव्य के प्रमुख लक्षण- दण्डी ने अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में तथा विश्वनाथ कविराज ने अपने ग्रन्थ (साहित्य दपर्ण) में महाकाव्य के निम्नलिखित शास्त्रीय लक्षण बताये हैं-

१. महाकाव्य सर्गबद्ध होता है।

२. महाकाव्य में एक ही नायक होता है, जो देवता होता है अथवा धीरोदात्य गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है। उसमें एक वंश के वहुत से राजा भी हो सकते हैं जैसे रघुवंश में।

३. श्रंगार, वीर और शान्त रसों में से कोई भी एक रस मुख्य (अंगी) होता है अन्य रस गौण रूप में रखे जाते हैं। इसमें नाटक की सब संधियाँ होती हैं।

४. उसका वृतान्त कवि-कल्पना-प्रसूत न होकर किसी प्राचीन आख्यान अथवा ऐतिहासिक वृत्त के आधार पर होता है अथवा किसी सज्जन का चरित्र वर्णित होता है।

५. प्रत्येक सर्ग की एक ही प्रकार के वृत्त में रचना की जाती है किन्तु सर्ग के अन्त में वह बदल दिया जाता है। प्रवाह के लिये छन्द की एकता वांछनीय है। सर्ग के अन्त में अगले सर्ग की सूचना रहती है। कम से कम आठ सर्ग होने आवश्यक हैं। सर्ग न तो बहुत बड़े होने चाहिये और छोटे।

६. उसमें सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्यान्ह, आखेट, पर्वत, ऋतु, नगर, वन, समुद्र, युद्ध, यात्रा, अभ्युदय, विजंय, जलक्रीड़ा, उद्यान-विहार, विवाह आदि विषयों का उपयुक्त स्थलों पर वर्णन होना चाहिये।

७. उसका मुख्य उद्देश्य धर्म तथा न्याय की विजय एवं अधर्म व अन्याय का विनाश होना चाहिये। उसमें कहीं-कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों का गुणगान रहता है जैसे कि बाल्मीकीय रामायण में।

८. उसमें मंगलाचरण आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक अथवा वस्तु निर्देशात्मक होना चाहिये।

यहां पर यह दृष्टव्य है कि ये उपर्युक्त महाकाव्य के लक्षण सामान्य लक्षणमात्र हैं, जिनका अक्षरशः पालन सभी महाकाव्यों में कदापि सम्भव नहीं है। इन लक्षणों का विधान उस समय किया गया जबकि संस्कृत में अनेक महाकाव्यों की रचना हो चुकी थी।

महाकाव्य के रूप का जहां तक सम्बन्ध है भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में विशेष अन्तर नहीं है, हां उसके प्रकारों में भिन्नता अवश्य है।

भारतीय महाकाव्यों का संक्षिप्त परिचय- भारतीय महाकाव्यों के अन्तर्गत वाल्मीकि कृत रामायण तथा महर्षि वेदव्यासकृत महाभारत नामक महाकाव्य आते हैं। रामायण और महाभारत भारतवर्ष के अति प्राचीन महाकाव्य हैं। भारतीय लोकजीवन में इन दोनों ही ग्रन्थों का अत्यन्त आदरपूर्ण स्थान है। इन महाकाव्यों ने मानवीय जीवन के लिये जिन उदात्त सिद्धान्तों और दृष्टान्तों को प्रस्तुत किया है उनके कारण ये भारतीय जीवन के प्रकाश स्तम्भ बन गये हैं। ऐतिहासिक ग्रन्थ होनें के साथ-साथ ये भारतवर्ष के धार्मिक ग्रन्थ भी हैं। इनका पृथक-पृथक विवरण निम्नवत् है-

वाल्मीकि रामायण : एक सामान्य परिचय- आदि कवि वाल्मीकि के सम्बन्ध में

कथा प्रसिद्ध है कि जब व्याध के बाणों से बिंधे हुए क्रोंच के लिये विलाप करने वाली क्रोंची का करुण शब्द ऋषि ने सुना तो उनके मुँह से अकस्मात यह श्लोक निकल पड़ा-

''मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।''[४]

जिसका आशय यह है कि हे निषाद! तुमने काम से मोहित इस क्रोंच पक्षी को मारा है अतः तुम सदा के लिये प्रतिष्ठा प्राप्त न करो। महर्षि की कल्याणमयी वाणी सुनकर स्वयं ब्रह्मा उपस्थित हुए और उन्होंने रामचरित लिखने के लिये उनसे कहा। रामायण की रचना इसी प्रेरणा का फल है। वाल्मीकि अनुष्टुप् छन्द के आविष्कारक माने जाते हैं। ऐसा माना जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण को छन्द विधान तथा रचना शैली सामवेद से उपलब्ध हुयी होगी। रामायण काल में साधन सामग्री की न्यूनता के कारण रचनाकार गुरु (आचार्य) अपनी रचना को मौखिक रूप से या लिखकर या पढ़कर सुनाता था और शिष्य उसे सुनकर कंठस्थ करते थे तथा लिपिबद्ध भी करते थे।

वाल्मीकि कृत रामायण में मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम के चरित्र का वर्णन है इसकी वर्तमान प्रति में सात काण्ड बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड हैं जिनमें कुल २४००० श्लोक हैं, इसीलिये इस आदि काव्य को 'चतुर्विंशति साहस्त्रीसंहिता' कहते हैं। किन्तु अपने मूल स्वरूप में रामायण में ६००० श्लोक थे जो बाद में बढ़कर १२००० हो गये। गुप्तकाल तक ग्रन्थ का आकार और बढ़ गया और इसमें २४००० श्लोक हो गये। रामायण के कई संस्करण पाये जाते हैं जिनमें अनेक पाठभेद हैं, इनमें से चार मुख्य हैं-

१. दाक्षिणात्य संस्करण, जिसमें बम्बई और मद्रास से प्रचलित एवं प्रकाशित रामायणें आती हैं।
२. कलकत्ता से प्रकाशित बंगीय या गौडीय रामायण।
३. होशियारपुर से प्रकाशित पश्मिोत्तरीय संस्करण और
४. गीताप्रेस, गोरखपुर का संस्करण।

इनमें से दक्षिणी संस्करण प्राचीन और मौलिक माना जाता है। संस्करणों में भेद होने का कारण है प्रारम्भ में इनके लिखित रूपों में वैभिन्न या विचित्रता का होना, जो कि स्वाभाविक था। इन समस्त विभिन्न पाठों की तुलना करके बड़ौदा से रामायण का विमर्शात्मक संस्करण प्रस्तुत किया गया है जो बाल्मीकि की मूल रचना का प्रामाणिक रूप उपस्थित करने वाला माना गया है।[५]

प्रक्षिप्त अंश- रामायण के कतिपय बेमेल अंशों के आधार पर जर्मन विद्वान जेकोबी ने अयोध्या काण्ड से युद्ध काण्ड तक केवल पाँच काण्डों को ही वाल्मीकि कृत माना है। रामायण के बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड में ऋष्यश्रंग, विश्वामित्र, हनुमान, अहिल्या, रावण, गंगावतरण आदि की कथायें प्रक्षिप्त हैं, प्रधान कथा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः उत्तरकाण्ड और बालकाण्ड की शैली से अन्य पाँच काण्डों की शैली में किंचित भिन्नता है। बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड में

पुनरुक्ति दोष आदि विरोधी बातें अधिक हैं। रामायण के विषय में महाभारत में जो रामोपाख्यान है तथा अन्य संस्कृतियों में जो रामकथायें प्रचलित हैं उनमें उत्तर काण्ड की कथा नहीं है। इन दोनों काण्डों में वर्णित घटनायें भी अन्य पाँच काण्डों की भाँति सुसंबद्ध रूप में नहीं प्राप्त होती हैं। पुनश्च बालकाण्ड के प्रथम और तृतीय सर्ग में जो विषयसूची दी गई है उसमें उत्तरकाण्ड का उल्लेख नहीं है। साथ ही युद्धकाण्ड के अन्त में ग्रन्थ के अन्त होने की सूचना सी प्रतीत होती है। इसलिये उत्तरकाण्ड को बाद में जोड़ा गया माना जाता है। इस प्रकार रामायण के बालकाण्ड के कुछ अंश तथा उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्तांश ठहरते हैं। यदि रामायण की तुलना महाभारत से की जाय तो रामायण में कपोलकल्पित कथायें कम हैं, जबकि महाभारत में अधिक हैं।

रचनाकाल– भारतीय परम्परा और रामायण के अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना राम के राज्यकाल में ही पूर्ण कर ली थी। पार्जीटर का कथन है कि राम सोलह सौ ईसा पूर्व में हुए थे।[६] जबकि आधुनिक अनुसंधान शास्त्रियों ने महाभारत के द्रोण पर्व तथा शान्ति पर्व व अन्य श्रोतों के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि वाल्मीकि रामायण के पूर्व भी रामकथा आख्यान रूप में प्रचलित थी, उसी के आधार पर वाल्मीकि ने रामायण की रचना की। उनका कथन है कि प्रारम्भ में रामायण का कलेवर छोटा था, जिसमें समय की गति के साथ कुछ क्षेपक भी जुड़ते गये, इस कार्य में कई शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं।

इस सन्दर्भ में मुख्यतः रामायण के दो रूपों पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है। एक तो मौलिक रामायण जो प्रक्षेप रहित वाल्मीकि की प्रामाणिक रचना है तथा दूसरी आज की प्रचलित रामायण जिसमें प्रक्षिप्त अंश भी निहित हैं। इन दोनों के रचनाकाल में भी अन्तर है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि रामायण का प्रचलित रूप द्वितीय शताब्दी ईसा के पूर्व ही बन चुका था।[७] जहाँ तक मूल रामायण की रचना का सम्बन्ध है, तो यह बात स्मरण रखने योग्य है कि वाल्मीकि की प्रमाणिक रचना में बौद्ध धर्म का कोई संकेत नहीं मिलता। अतः यह रचना बुद्ध से पहले की है, जो ई.पू. पाँचवीं शताब्दी में अवश्य बन चुकी होगी। डा० जेकोबी मूल रामायण की रचना का समय ८००-६०० ई.पू. मानते हैं क्योंकि इस समय के निकट परवर्ती लेखक पाणिनि, कौटिल्य, भास और पतंजलि रामायण के प्रधान कथानक से पूर्णतया परिचित से लगते हैं। मूल रामायण में ऐसे अनेक आर्ष प्रयोग मिलते हैं जो पाणिनि के व्याकरण से मेल नहीं खाते। साथ ही पाणिनि ने रामायण में आये हुए अनेक नामों की व्युत्पति भी बतायी है।

वर्तमान महाभारत रामकथा से ही परिचित नहीं है अपितु वह वाल्मीकि के रामायण से भी भली-भाँति अवगत है। रामायण में महाभारत के पात्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु महाभारत के वनपर्व का रामोपाख्यान वाल्मीकि में दी हुयी कथा का संक्षिप्त संस्करण है।[८] राम से सम्बद्ध स्थान महाभारत में तीर्थरूप से माने गये हैं, उदाहरणार्थ श्रंगवेरपुर[९] (सिंगरौर, जिला प्रयाग) तथा गोप्रतार[१०] (फैजाबाद में गुप्तार घाट) आदि वनपर्व में तीर्थ माने गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने से पहले ही रामायण प्राचीन ग्रन्थ माना जाता था।

चूँकि महाभारत का वर्तमान रूप ईस्वी सन् के प्रारम्भ का माना जाता है अतः रामायण की रचना इससे भी पहले ही अवश्य की गयी होगी।

रामायण में केवल एक स्थल पर गौतम बुद्ध का उल्लेख आया है यथा-

"यथा हि चोरस्तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।"[११]

परन्तु यह क्षेपक होने के कारण कदापि मान्य नहीं है। वेबर महोदय का मत है कि रामायण की रचना बुद्धकाल के पश्चात् हुयी थी और वह बौद्ध परम्परा के ऊपर आधारित है।[१२] परन्तु वेबर महोदय का यह मत नितान्त असंगत है क्योंकि समूची रामायण में बौद्ध-प्रभाव ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सकता। हाँ बौद्ध धर्म पर रामायण का स्पष्ट प्रभाव सर्वथा प्रमाणित होता है। राम वैदिक, बौद्ध तथा जैन धर्मों में समभाव से मर्यादा पुरुष माने जाते हैं। बौद्ध साहित्य में तथा जैन साहित्य में रामकथा का निर्देश स्पष्टतया किया गया है। बौद्ध कवि कुमारलात (१००ई.) की 'कल्पना-मण्डतिका' में रामायण का सर्वसाधारण में वाचन का उल्लेख है। जैन कवि विमलसूरि ने 'रामकथा' को 'पउम-चरिअ' नामक प्राकृत भाषा के महाकाव्य में निबद्ध किया है। विमलसूरि ने इस काव्य की रचना महावीर की मृत्यु से ५३० वर्ष के अन्तर (लगभग ६२ ई.) में की। यह काव्य वाल्मीकीय रामायण को आदर्श मानकर जैनधर्मावलम्बियों को इस मर्यादापुरुष के चरित्र से परिचय प्राप्त कराने के लिये लिखा गया। महाकवि अश्वघोष (७८ ई.) ने अपने 'बुद्धचरित' में सुन्दरकाण्ड की अनेक रमणीय उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को निबद्ध किया। बौद्धों के अनेक जातकों में रामकथा का स्पष्ट निर्देश है। 'दशरथ जातक' तो रामायण का पूरा आख्यान ही है जिसमें रामपण्डित बुद्ध के ही पूर्वकालीन प्रतिनिधि माने गये हैं। चूँकि जातकों का समय तृतीय शताब्दी ई.पू. के लगभग स्वीकार किया जाता है, अतः इन प्रमाणों के आधार पर रामायण तृतीय शताब्दी ई.पू. से भी पहले की रचना सिद्ध होती है।

रामायण का अनुशीलन उसकी रचना के समय को भली-भाँति प्रकट करता है। रामायण के समय की राजनीतिक अवस्था का परिचय इस महाकाव्य के अध्ययन से भली-भाँति मिलता है-

१. पाटलिपुत्र नगर की स्थापना ५००ई.पूर्व में मगध नरेश अजातशत्रु ने की। पहले यह एक साधारण गाँव था जिसका नाम बौद्ध ग्रन्थों में 'पाटालग्राम' मिलता है। अजातशत्रु ने शत्रुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के निमित्त गंगा-सोन के संगम पर इस ग्राम में किला बनवाया।[१३] इसके पहले मगध की राजधानी राजगृह या गिरिव्रज थी। रामायण में राम शोण और गंगा के संगम से होकर जाते हैं पर पाटलिपुत्र का उल्लेख यहाँ नहीं मिलता।[१४] इससे स्पष्ट है कि रामायण ५०० ई.पू. से पहले लिखा गया।

२. कोशल जनपद की राजधानी रामायण में अयोध्या बतलायी गई है-

"अयोध्या नाम नगरी तत्रासीत् लोकविश्रुता।"[१५]

परन्तु जैन और बौद्ध ग्रन्थों में अयोध्या के स्थान पर वह साकेत के नाम से ही प्रख्यात

है। लव ने अपनी राजधानी श्रावस्ती बनायी।

"श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य च।।"[१६]

अस्तु रामायण की रचना तब की गई होगी जब अयोध्या को छोड़कर श्रावस्ती में राजधानी नहीं लायी गई थी। बुद्ध के समय में कोशल के राजा प्रसेनजित श्रावस्ती में ही राज्य करते थे। अतः रामायण की रचना बुद्ध से पूर्वकाल में हुयी।

३. गंगा पार करने पर राम 'विशाला' में पहुँचे। इसके तत्कालीन राजा का नाम 'सुगति' था। इक्ष्वाकु की 'अलम्बुसा' नामक रानी से उत्पन्न 'विशाल' नामक पुत्र ने इस नगरी को बसाया था। इसीलिये यह 'विशाला' के नाम से विख्यात थी। रामायण में विशाला[१७] और मिथिला[१८] दो स्वतन्त्र राजतन्त्र थे। बुद्ध के समय में ये दोनों राज्य पृथक और स्वतन्त्र न होकर वैशाली राज्य के रूप में सम्मिलित कर दिये गये थे और शासन पद्धति भी गणतन्त्र राज्य के समान थी। अतः इस मत से भी रामायण बुद्ध से प्राचीन ठहरती है।

४. बालकाण्ड की सूचना के अनुसार उत्तरी भारत कोशल, अंग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था। यह राजनीतिक अवस्था बुद्ध पूर्व भारत में ही दृष्टिगोचर होती है।

५. सम्पूर्ण रामायण के केवल दो पद्यों में ही यवनों का नाम आता है। इसी सामान्य आधार पर जर्मन विद्वान वेबर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि रामायण पर यूनानी सभ्यता का प्रभाव पड़ा है परन्तु डा० जेकोबी ने इन्हें रामायण का प्रक्षिप्त अंश सिद्ध किया है। अतः यह माना जा सकता है कि यूनानी आक्रमण के अनन्तर ये पद्य रामायण में मिला दिये गये होंगे।

इन प्रमाणों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण की रचना बुद्ध के जन्म से पहले ही हुई अर्थात् रामायण को ६०० ई.पू. से पहले की रचना मानना न्यायसंगत है। विंटर्निज का मत है कि रामायण का वर्तमान रूप निश्चित रूप से २०० ई. तक बन गया था।[१६]

ग्रन्थ परिचय- वाल्मीकि और उनकी रामायण के सन्दर्भ में यह कथन सत्य है कि यह एक आभिजात्य ग्रन्थ था तथा संस्कृत साहित्य की प्रथम भेंट थी। वाल्मीकि रामायण में जिस रचना शैली का अनुसरण किया गया है वह चुटकुला मात्र नहीं बल्कि सृजनात्मक प्रक्रिया की एक गंभीर नीतिकथा है, उंनकी कथा का प्रेरणाश्रोत वह क्रौंच पक्षी थी जिसे शिकारी ने मार दिया था। आघात और गंभीर वेदना ने उनके काव्य को जन्म दिया तथा शैली को गम्भीर बना दिया।

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत् कौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।[२०]

"निषाद! तुझे नित्य-निरन्तर-कभी भी शान्ति न मिले, क्योंकि तूने इस क्रौंच के जोड़े में से एक की, जो काम से मोहित हो रहा था बिना किसी अपराध के ही हत्या कर डाली।

"पादवद्धोऽक्षर समस्तन्त्रीलयसमन्वितः। शेकार्तस्य प्रवृत्तो में श्लोको भवतु नान्यथा।।[२१]

अर्थात् शोक से पीड़ित हुए मेरे मुख से जो वाक्य निकल पड़ा है, यह चार चरणों में

आबद्ध है। इसके प्रत्येक चरण में बराबर-बराबर (यानी आठ-आठ) अक्षर हैं तथा इसे वीणा के लय पर गाया भी जा सकता है अतः मेरा यह वचन श्लोक रूप (अर्थात् श्लोक नामक छन्द में आबद्ध काव्यरूप या यशःस्वरूप) होना चाहिए, अन्यथा नहीं।

वाल्मीकि रामायण में केवल करुणा विषाद ही नहीं है, अपितु आनन्द की अनुभूति भी है, यह अनुभूति भावात्मक लयपूर्ण अभिव्यक्ति के रूप में सामने आयी है यही वाल्मीकि रामायण का मौलिक आधार है।[२२] वाल्मीकि रामायण काव्य के रूप में आनन्दवर्द्धन भी करती है तथा जटिल समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करती है। वह एक आदर्श व्यक्ति का वर्णन करती है तथा उस आदर्श को मनुष्य के सन्निकट पहुँचाना चाहती है उसमें यह भी उल्लेख है कि इन्द्रियजनित काम भावनाओं को सन्तुष्टि के लिये अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। यहाँ दुःख की अनुभूति उस समय होती है जब राजा दशरथ राम का अपने उत्तराधिकारी के रूप में चयन करना चाहते हैं वहीं वृद्ध मन्थरा कैकेई को सलाह देती है कि भरत को उत्तराधिकारी नामित किया जाय और राम को १४ वर्ष का वनवास दिया जाय। वचन पालन के लिये राम को वनवास दिया जाता है किन्तु जब सुमन्त रथ हाँकने लगता है ता दशरथ दुःख से पीड़ित होकर कहते हैं- रुको, रुको! उस समय राम भी गंभीर हो जाते हैं।

राम, सीता और लक्ष्मण निर्जन वन, पहाड़ों के सौन्दर्य देखकर आनन्दित होते हैं यहाँ पर उन्हें जटायु को पीड़ित देखकर अत्यन्त दुःख होता है, इसके पश्चात् वन से वापस आने पर प्रजा के कहने पर उन्हें रावण के गृह में रही सीता का परित्याग करना पड़ता है, उस समय भी सीता का विलाप हृदय विदारक है। वाल्मीकि रामायण में व्यक्त वेदना महाकाव्य का मुख्य आकर्षण है, यहाँ पर भाई भरत की वेदना का भी निरूपण देखने को मिलता है, वे अपने भाई के वियोग में दुःखी थे, साथ ही दशरथ की मृत्यु से शोकमग्न थे। इस काव्य में लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला का दुःख प्रकट होता है। दुःख में फंसा हुआ मानव किस प्रकार से दुःख का सामना करता है। इसमें मनुष्य के साहस को दर्शाया गया है साथ ही दृढ़ विश्वास भी दर्शाया है कि व्यक्ति दुःख का मुकाबला साहस से कर सकता है। यथा-

"न पश्यति रजोऽप्यस्य यदा रामस्य भूमिपः। तदार्तश्च निषण्णश्च पपात धरणीतले।।"[२३]

अर्थात जब राजा को श्रीराम क रथ की धूल भी नहीं दिखाई देने लगी तब वे अत्यन्त आर्त और विषाद ग्रस्त हो पृथ्वी पर गिर पड़े।

जिस व्यक्ति के पास संसाधन या धन होता है वह सीमा से अधिक घमंडी हो जाता है तथा वह किसी का कहना नहीं मानता। एक ओर रावण भौतिक भव्यता के कारण किसी का कहना नहीं मानता। दूसरी ओर राम का व्यवहार था जो जन भावनाओं को व्यक्तिगत इच्छा से अधिक महत्व देते थे। महाकाव्य की अन्तिम धारा में राम सीता का परित्याग इसलिये करते हैं कि रावण के घर में रही हुयी सीता को जनता सहन नहीं कर पा रही थी रावण चापलूसों से घिरा रहता था जबकि राम को चापलूसी कतई पसन्द नहीं थी। जहाँ तक रावण की योग्यता का प्रश्न है वह

ज्ञानवान तथा सौन्दर्य के प्रति सजग तथा शक्ति सृजेता भी था किन्तु उसमें कमी यह थी कि वह किसी दूसरे व्यक्ति को अपने से श्रेष्ठ नहीं मानता था। जब व्यक्ति की मृत्यु आ जाती है तो वह रानी और नौकरानी में भेद नहीं देखता। यदि व्यक्ति स्वार्थमयी इच्छा का परित्याग करे तो वह विजयी हो सकता है किन्तु जो व्यक्ति दूसरे के अस्तित्व को नहीं मानता वह अधोगति को प्राप्त होता है जैसे विभीषण की राय न मानने पर रावण अधोगति को प्राप्त हुआ।

लूट-खसोट और शोषण की प्रवृत्ति भौतिक सुख संसाधनों की वृद्धि अवश्य करती है परन्तु ऐसे व्यक्ति सामाजिक सम्मान को नहीं प्राप्त कर सकते। जो व्यक्ति नैतिकता का अनुसरण करते हैं उन्ही का समर्थन वाल्मीकि रामायण करती है। इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का अनुसरण करते हुये वाल्मीकि ने अपने पात्रों का चयन किया है। वाल्मीकि रामायण में दैत्यों का उपहास किया गया है और ऐसे दैत्यों का अंत भी दिखलाया गया है। कुम्भकर्ण इसी प्रकार का पात्र था। चूँकि वह रावण के अधीन था इसलिये वह अपनी राजभक्ति दर्शाने में मारा जाता है। राक्षसों में विभीषण ज्ञानवान था इसलिये वह रावण की परवाह न करके न्यायोचित मार्ग का सहारा लेता है। मेघनाद एक दुष्ट व्यक्ति था उसकी सर्वत्र निन्दा की गयी है। कवि सम्यक दृष्टि अपनाता हुआ राम के अतिरिक्त रावण के चरित्र की भी विशेषतायें बतलाता है इसलिये राम के साथ-साथ रावण भी प्रसिद्धि पाता है जबकि उच्च आदर्शों को अपनाता हुआ भी विभीषण निन्दा का पात्र है। वाल्मीकि रावण के साहस और शक्ति की प्रशंसा करते है तथा राम भी रावण की मृत्यु के पश्चात् रावण से समस्त वैर भाव भुला देते हैं तथा उसकी अन्त्येष्टि में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालते तथा मृत्यु के उपरान्त प्राणियों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं देखते।[२४]

वाल्मीकि रामायण में अमानवीय घटनाओं का पृथक्करण करके निर्दोषवाद तथा नैतिक निष्ठा की स्थापना की गयी है, इस ग्रन्थ में राम को राजनीतिज्ञ पुरूष माना गया है तथा कहीं-कहीं भगवान राम अपने यश के लिये भी कुछ बातें कहते हैं जो तद्‌युगीन परिस्थितियों के अनूकूल थी। वाल्मीकि रामायण में सीता एक पवित्र नारी के रूप में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक प्रकट होती है तथा इसमें यह भी देखने को मिलता है कि नारी की रक्षा करना पुरुष का कर्तव्य है। वाल्मीकि रामायण में भरत और राम उज्जवल चरित्र वाले व्यक्ति हैं, लक्ष्मण का चरित्र भावुक व्यक्ति का चरित्र है जो कभी-कभी धैर्य खो बैठते हैं। हनुमान का चरित्र स्मरणीय चरित्र है। सुग्रीव तथा विभीषण के चरित्र कथानक के अनुसार प्रभाव डालने वाले हैं। वाल्मीकि रामायण के कथानक में पात्रों के माध्यम से जिन आदर्शो की संरचना की गयी है वे अन्यत्र देखने को नहीं मिलते। कुछ पात्र सीधे-साधे हैं जो सुख-दुख की घटनाओं से जुड़े रहते हैं। इस ग्रन्थ में तद्‌युगीन सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का वर्णन अति विस्तार से है।

यदि रचना शैली, काव्य गुण तथा रस की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण की समीक्षा की जाय तो काव्य के सभी नौ रस इस ग्रन्थ में दिखलायी देते हैं। यहाँ पर करुणा को हास्य के साथ जोड़कर तथा वीर रस को रौद्र रस के साथ जोड़कर कथानक को रूचिकर बनाया गया है।

वाल्मीकि रामायण की वर्णन और छन्द शैली उच्चकोटि की है। प्राकृतिक दृश्यों, नगरीय सौन्दर्य, तथा व्यक्ति की रूपसज्जा को बहुत अच्छे ढंग से दर्शाया गया है। यहाँ पर मनोवृत्तियों को भी अत्यन्त रुचिकर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। घटनाओं के साथ प्रकृति की सुरम्यता का वर्णन तथा हृदय की कोमलता एवं संवेदन शीलता भी इसमें दिखायी देती है। सुख-दुख की कथा कहनेवाली वाल्मीकि रामायण जीवन की कला को प्रस्तुत करती हुयी, संसार को जोड़ने वाले सौन्दर्य वस्तुकला को बड़े सजीव ढंग से प्रस्तुत करती है, इसमें शब्द का चयन तथा छन्द विधान बहुत उच्च कोटि का है। रूढ़िवादी लोग जहाँ इस ग्रन्थ को केवल धार्मिक ग्रन्थ की संज्ञा देते है वहीं काव्य से जुड़े हुये विद्वान यह मानते हैं कि वाल्मीकि रामायण में मनुष्य जीवन तथा भाग्य सम्बन्धी प्रेरणादायी प्रसंग है जो उत्साह जनक कल्पना को जन्म देते हैं। काव्य में स्थूल घटनाओं तथा कल्पनाओं को एक साथ प्रस्तुत किया गया है। यह रचना काव्य कला की दृष्टि से साहित्य की बहुमूल्य धरोहर है इसने राम कथा और वाल्मीकि दोनों को ही अमर कर दिया है।

वाल्मीकि रामायण में मानव मूल्यों का वर्णन अति विस्तार से किया गया है। मानव जीवन में धर्म एक ऐसा अंग है जो सदैव उसे पुरूषार्थ की ओर अग्रसर करता है। यज्ञ, तप, ज्ञान और दान, ये धर्म के अनिवार्य अंग हैं, यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन में महत्वपूर्ण यज्ञ नहीं करता, तप के माध्यम से कष्ट सहन करने की क्षमता नही रखता, यदि वह ज्ञानवान नहीं है तो वह इस संसार में विपरीत परिस्थितियों से छुटकारा भी नहीं पा सकता। यदि वह समृद्धिशाली है सामर्थ्यशाली है तथा परहित करने की इच्छा उसके हृदय में जन्म ले चुकी है तो वह निश्चित ही ऐसे दान से भी प्रभावित होगा जो उसे विशिष्ट फल प्रदान करने वाला है। महाकवि वाल्मीकि ने अपनी रामायण में दान प्रसंगों का वर्णन बहुत ही अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया है यह वर्णन वेदों में वर्णित दान की महिमा से मिलता-जुलता है। कवि का मानना है कि इस नश्वर संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है केवल दान एक ऐसा माध्यम है जो व्यक्ति को चिरस्थायी यश दिला सकता है।

वाल्मीकि रामायण में दान के प्रसंग- वाल्मीकि रामायण में अनेक कथा प्रसंग ऐसे है जिनमें दान का उल्लेख उपलब्ध होता है, ये प्रसंग दान के महत्व तथा दानदाता की उदारता का परिचय देते हैं। धर्मग्रन्थों में वर्णित दान की लगभग समस्त कोटियाँ रामायण में मिल जाती है। वाल्मीकि रामायण में दान के प्रसंग निम्नवत है-

प्रसंग १. प्राचीन भारतीय महाकाव्य रचना शैली की यह विशेषता है कि इसमें एक व्यक्ति कथावाचक के रूप में होता है तथा दूसरा व्यक्ति कथाश्रोता के रूप मे। सर्वप्रथम राम कथा के कथाकार देवर्षि श्री नारद हैं और श्रोता वाल्मीकि ऋषि है।

''एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे। महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम्।।''[२५]

अर्थात् महर्षे! मै यह सुनना चाहता हूँ इसके लिये मुझे बड़ी उत्सुकता है और आप ऐसे पुरूष को जानने में समर्थ हैं।

''श्रुत्वा चैतत्त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः। श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत्।।[२६]

महर्षि वाल्मीकि के इस वचन को सुनकर तीनों लोकों का ज्ञान रखने वाले नारद जी ने उन्हे सम्बोधित करके कहा अच्छा सुनिये।

इस प्रकार तीनों लोको के चर्चित मुनि नारद ने वाल्मीकि को ज्ञान दान के रूप में राम कथा सुनायी।

तत्पश्चात् वाल्मीकि ने राम कथा लिखी तथा सर्वप्रथम उसे सीता के पुत्र लव,कुश को कंठस्थ कराया। लव, कुश साधुओं की सभा में बैठकर रामायण का गान किया करते थे। साधु सन्त इसे सुनकर उनसे अत्यन्त प्रसन्न हुये तथा उन्हे विभिन्न प्रकार की वस्तुयें पुरस्कार के रूप में प्रदान कीं-

''प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां संस्थितः कलशं ददौ।।

प्रसन्नो वल्कलं कश्चिद् ददौताभ्यां महायशाः। अन्यः कृष्णाजिनमदाद् यज्ञसूत्रं तथापरः।।''[२७]

इस कोटि के दान को जो पुरस्कार के रूप में दिया जाता है उसे सम्मान दान के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। उन्हे कथा सुनाने के बदले मुनियों ने कमण्डल, मूँज की मेखला, आसन, कुठार, गेरूये वस्त्र, रस्सी, समिधा, यज्ञ पात्र, पीढ़ा तथा आशीर्वाद प्रदान किये।[२८]

प्रसंग २. अयोध्यानरेश राजा दशरथ के राज्य में प्रजा अत्यन्त सुखी थी, धन धान्य की कोई कमी नहीं थी किन्तु राजा सन्तान सुख से वंचित थे इसलिये ऋषियों ने उन्हें यह परामर्श दिया कि वे अश्वमेध यज्ञ करें, इस यज्ञ में यज्ञवेदियों का निर्माण किया गया तथा शास्त्रविधि से यज्ञ करने के लिये, देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिये, इस यज्ञ में अश्व, कूर्म, तथा जलचर जन्तु लाये गये। पुरोहितों ने उन्हें अलग-अलग खूटों में बाँध दिया। यज्ञ के लिये ३०० पशुओं की व्यवस्था की गयी थी तथा अश्वरत्न भी वहाँ था। पुरोहितों ने यज्ञ पूर्ण कराया इससे ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम, अतिरात्र, अभिजित, विश्वजित आप्तोयार्म यज्ञ किये गये। इस यज्ञ में यज्ञ कराने वाले को पूर्व दिशा का राज्य उद्गाता को उत्तर दिशा का राज्य तथा इसके पश्चात कुल की रक्षा करने वाले राजा दशरथ ने सम्पूर्ण पृथ्वी दान में दे दी किन्तु ब्राह्मणों ने इसे स्वीकार नहीं किया, इस बात को स्वीकार करते हुये राजा ने वेदों के विद्वान ब्राह्मणों को दस लाख गायें, दस करोड़ स्वर्ण मुद्रा तथा चालीस करोड़ रजत मुद्रा दान में दी।

''एवमुक्तो नरपतिर्ब्राह्मणैर्वेद पारगैः। गवां शतसहस्त्राणि दश तेभ्यो ददौ नृपः।।

दशकोटिं सुवर्णस्य रजतस्य चतुर्गुणम।[२९]

अर्थात् वेदों के पारगामी विद्वान ब्राह्मणों के ऐसा कहने पर राजा ने उन्हें दस लाख गायें प्रदान की। दस करोड़ स्वर्ण मुद्रा तथा उससे चौगनी रजतमुद्रा अर्पित की।

यह दान जो इस अवसर पर दिया गया वह महादान की कोटि मे आता है। राजा दशरथ ने दान का सारा धन समस्त ऋषियों, श्रृंगी ऋषि और वशिष्ठ को सौंप दिया। इसके पश्चात् उस धन का न्यायोचित बंटवारा कर दिया गया। उसके पश्चात् अभ्यागत ब्राह्मणों को जम्बूनद स्वर्ण की एक करोड़ मुद्रायें बाँटी गयी। उसके बाद जब राजा के पास कुछ नहीं रहा तो एक दरिद्र ब्राह्मण

ने आकर राजा से धन की याचना किया उस समय राजा दशरथ ने उसे अपने हाथ का उत्तम आभूषण उतार कर दे दिया। इससे उनके त्याग और दान की भावना झलकती है।

प्रसंग ३. साधु सन्तों के प्रयासों और श्रृंगी ऋषि के आशीर्वाद से राजा दशरथ की तीनों रानियाँ गर्भवती हुयीं तथा कुछ दिन बाद तीनो रानियों ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। इस अवसर पर राजमहल में जन्मोत्सव मनाया गया। इस जन्मोत्सव में गंधर्वों ने मधुर गीत गाये, देवताओं ने दुन्दुभियाँ बजायीं तथा नट और नर्तकों ने अपनी कलायें प्रस्तुत कीं, इस अवसर पर राजा दशरथ ने वंदीजनों, ब्राह्मणों को गोधन और धन प्रदान किया।

''प्रदेयांश्च ददौ राजा सूतमागधवन्दिनाम। ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं गोधनानि सहस्त्रशः।।
ब्राह्मणान भोजयामास पौरजानपदानपि। अददद् ब्राह्मणानां च रत्नौधमनलं बहु।।''[३०]

जन्मोत्सव के अन्त मे राजा ने ब्राह्मणों, पुरवासियों, जनपद वासियों को भोजन कराया तथा ब्राह्मणों को उज्जवल रत्न समूह दान किये। यह दान अन्न दान और वस्त्र दान की कोटि में आता है। तथा इसे धन या द्रव्यदान की कोटि में भी रखा जा सकता है।

प्रसंग ४. ताड़का के सन्दर्भ में विश्वामित्र मुनि ने ताड़का के पूर्व जन्म की कथा का वर्णन किया। प्राचीन काल में सुकेत नाम के एक महान यक्ष थे उनके कोई पुत्र नहीं था। ब्रह्मा जी की तपस्या से उन्हे कन्या रत्न की प्राप्ति हुयी। वह कन्या अत्यन्त बलशाली, १००० हाथियों की ताकत रखने वाली थी। युवावस्था में ताड़का के पिता ने जम्भ के पुत्र सुन्द के साथ उसका विवाह कर दिया।

''तां तु बालां विवर्धन्तीं रूपयौवन शालिनीम। जम्भ पुत्राय सुन्दाय ददौ भार्या यशस्विनीम्।।''[३१]

यह दान कन्यादान कोटि का दान है। इसमें दानदाता कन्या का पिता सुकेत और ग्रहीता जम्भ पुत्र सुन्द है।

प्रसंग ५. राजा दशरथ से अपनी यज्ञ रक्षा के लिये विश्वामित्र ने राम लक्ष्मण को प्राप्त कर लिया था उन्होने ताड़का वध पर राम लक्ष्मण का शौर्य देखकर अनेक शस्त्र विद्याओं का ज्ञान दिया उसके पश्चात् विविध प्रकार के दिव्यास्त्र उन्हें दान में दिये।

''परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते राजपुत्र महायशः। प्रीत्या परमया युक्तों ददाम्यस्त्राणि सर्वशः।।''[३२]

इन अस्त्रों के प्रयोग के कारण युद्ध भूमि में तुम्हें कोई परास्त नहीं कर सकेगा। ये अस्त्र दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, इन्द्रचक्र, बज्र, त्रिशूल, ब्रह्मशिर, ऐषीकास्त्र, ब्रह्मास्त्र, गदायें जिनके नाम मोदकी और शिकरी है तथा धर्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, सूखी और गीली अशनि तथा पिनाक, नारायण अस्त्र, आग्नेय अस्त्र, शिखा शस्त्र, वायु अस्त्र, हयशिरा, कौंच अस्त्र (महानशक्तियाँ) कंकाल, घोर मूसल, कपाल तथा किकिंणी खंग, सम्मोहन अस्त्र प्रस्वापन अस्त्र, प्रशमन तथा सौम्य अस्त्र, वर्षण, शोषण, संतापन, विलापन, मादन, मानवास्त्र, मोहनास्त्र, तेजःप्रभ अस्त्र, शिशिर अस्त्र, दारुण अस्त्र, भयंकर अस्त्र शस्त्र तथा शीतेषु अस्त्र उन्हें प्रदान किया। इसके पश्चात् उन्होने उन्हें कुछ अन्य कोटि के अस्त्र भी उन्हें प्रदान किये ये अस्त्र निम्नलिखित हैं-

सत्यवान् सत्यकीर्ति, धृष्ट, रभस, प्रतिहारतर, प्राङ्मुख, आवाङ्मुख, लक्ष्य, अलक्ष्य, दृढ़नाभ, सुनाभ, दशाक्ष, शतवक्त्र, दशशीर्ष, शतोदर, पद्मनाभ, महानाभ, दुन्दुनाभ, स्वनाभ, ज्योतिष, शकुन, नैरास्य, विमल, दैत्यनाशक यौगंधर और विनिद्र, शुचिबाहु, महाबाहु, निष्कलि, विरूच, सार्चिमाली, धृतिमाली, वृत्तिमान, रूचिर, पित्य, सौमनस, विधूत, मकर, परवीर, रति, धन, धान्य, कामरूप, कामरूचि, मोह, आवरण जृम्भक, सर्पनाथ, पन्थान और वरूण।

उपरोक्त सभी शस्त्र रामचन्द्र जी ने बड़ी श्रद्धा के साथ विश्वामित्र से ग्रहण किये।

''बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रहृष्टेनान्तरात्मना। दिव्यभास्वरदेहाश्च मूर्तिमन्तः सुखप्रदाः।।''[३३]

यह दान ज्ञानदान की कोटि का दान है इसमें दाता विश्वामित्र, ग्रहीता राम तथा देयवस्तु अस्त्र-शस्त्र हैं।

प्रसंग ६. विश्वामित्र भगवान श्रीराम से भगवान वामन के सन्दर्भ में बतलाते हैं कि कश्यप ऋषि ने भगवान से यह वरदान माँगा कि वे अदिति के पुत्र के रूप में उत्पन्न हों। कश्यप ऋषि मरीचि के पुत्र थे और देवताओं तथा दैत्यों के पिता। कश्यप ऋषि के इस कथन को मानकर अदिति के गर्भ से भगवान वामन के रूप में पैदा हुये तथा भिक्षा के लिये राजा बलि के पास गये क्योंकि इस समय राजा बलि के पास तीनों लोकों का राज्य था इसलिये उन्होने राजा बलि से तीन डग जमीन की याचना की इस प्रकार भगवान वामन ने भूमिदान ग्रहण किया और स्वर्ग का राज्य पुनः इन्द्र को वापस कर दिया।

''त्रीन पदानथ भिक्षित्वा प्रतिगृह्य च मेदिनीम। आक्रम्य लोकॉल्लोकार्थी सर्वलोकहिते रतः।।
महेन्द्राय पुनः प्रादान्नियम्य बलिमोजसा। त्रैलोक्यं स महातेजाश्चक्रे शक्रवशं पुनः।।[३४]

इसमें दाता राजा बलि, ग्रहीता वामन भगवान (विष्णु), तथा देयवस्तु भूमि है।

प्रसंग ७. पृथ्वी पर हिमपुत्री गंगा का प्रवाह आवश्यक समझकर देवताओं ने उस कन्या का आवाहन किया और उसे अपने हित के लिये माँगा, उन्होने त्रिभुवन की हित करने वाली इच्छा से स्वछन्द पथ पर विचरने वाली अपनी लोकपावनी पुत्री गंगा को धर्मपूर्वक उन्हे दे दिया। तब सभी देव गंगा को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुये और अपने आप को कृतार्थ मानने लगे।

''अथ ज्येष्ठां सुराः सर्वे देवकार्यचिकीर्षया। शैलेन्द्रं वरयामासुर्गंगा त्रिपथगां नदीम्।।
ददौ धर्मेण हिमवांस्तनयां लोकपावनीम्। स्वच्छन्दपथगां गंगाम् त्रैलोक्यहितकाम्यया।।''[३५]

इसमें दाता हिमालयपर्वत, ग्रहीता देवतागण और वस्तु गंगा है यह दान जलदान कोटि का दान है।

प्रसंग ८. शतानन्द के अनुसार विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि की पदवी के लिये पूर्व दिशा में जाकर घोर तप किया, उन्होने सौ वर्ष तक मौन व्रत साधा इसके बीच में वे काष्ठ की भाँति निष्चेष्ट बने रहे, उन्होने १००० वर्ष तक तप किया, जब समय अवधि समाप्त हो गयी तो वे भोजन करने को तैयार हुये, उसी समय इन्द्र ब्राह्मण का वेश धारण करके आया उसने तैयार अन्न की याचना की। तब विश्वामित्र ने निश्चय करके उस ब्राह्मण को भोजन दे दिया और विश्वामित्र भूखे ही गये।

"इन्द्रों द्विजातिर्भूत्वा तं सिद्धमन्नमयाचत।।
तस्मै दत्वा तदासिद्धं संर्व विप्राय निश्चितः। निःशेषिते ऽन्ने भगवान भुक्तवैव महातपाः।।"[३६]

इसमें दाता विश्वामित्र, याचक ब्राह्मण वेश में इन्द्र, देयवस्तु पका पकाया भोजन तथा दान की कोटि अन्नदान है।

प्रसंग ६. राजा जनक ने विश्वमित्र से भगवान शिव के धनुष की विशेषता बतलाते हुये कहा कि यह धनुष मुझे धरोहर के रूप में प्राप्त हुआ है। कहते हैं कि पूर्व युग में राजा दक्ष के यज्ञ को नष्ट करने के लिये शिव ने इस धनुष को ताना किन्तु देवताओं के अनुनय विनय से भगवान शिव का क्रोध शान्त हुआ, भगवान शिव ने प्रसन्न होकर समस्त देवताओं को अपना धनुष अर्पित कर दिया तथा देवताओं ने धरोहर के रूप में यह धनुष मेरे यहाँ रख दिया।

"प्रीतियुक्तस्तु सर्वेषां ददौ तेषां महात्मनाम्। तदेतद् देवदेवस्य धनूरत्नं महात्मनः।।
न्यासभूतं तदा न्यस्तमस्भाक पूर्वजे विभौ।[३७]

इसमें दाता शिव, याचक देवतागण, देयवस्तु शिवधनुष, दान की कोटि आयुध दान।

प्रसंग १०. राजा दशरथ ने अपने पुत्रों के विवाह के पूर्व नन्दी श्राद्ध किया तथा इस अवसर पर धार्मिक नियमों का अनुपालन करते हुये उपस्थित ब्राह्मणों को गोदान किया तथा एक-एक लाख गायें एक-एक पुत्र के मंगल के लिये दान की। प्रत्येक गाय के सींग सोने से मढ़े हुये थे और उनके साथ बछड़े और कांसे के दुग्धपात्र थे। इस प्रकार राजा दशरथ ने चार लाख गायों का दान किया और बहुत सा धन गोदान के उद्देश्य से ब्राह्मणों को दिया।

"सुवर्णश्रृंगयः सम्पन्नाः सवत्साः कांस्यदोहनाः। गवां शतसहस्त्राणि चत्वारि पुरूषर्षभः।।
वित्तमन्यच्च सुवहु द्विजेन्यो रघुनन्दनः। ददौ गोदानमुद्दिश्य पुत्राणां पुत्रवत्सलः।।"[३८]

इस दान में दाता राजा दशरथ, याचक नन्दीश्राद्ध कराने वाले ब्राह्मण, देयवस्तु गायें, दूध दुहने के पात्र एवं धन, दान की कोटि गोदान है।

प्रसंग ११. राजा दशरथ के पुत्रों के विवाह के अवसर पर राजा जनक ने सभी प्रकार के आभूषणों से विभूषित अग्नि के समक्ष सीता को बिठाकर सीता का हाथ राम के हाथ में थमा दिया तथा संकल्प के साथ कन्यादान किया। सीता का दान करकें राजा अत्यन्त प्रसन्न हुये।

"देवदुन्दुभिर्निघोषः पुष्पवर्षो महानभूत्। एवं दत्वा सुतां सीतां मन्त्रोदकपुरस्कृताम्।।
अब्रवीज्जनको राजा हर्षेणाभिपरिप्लुतः। लक्ष्मणा गच्छ भद्रं ते ऊर्मिलामुघतां मया।।"[३६]

कन्यादान के अवसर पर अनेक प्रकार का धन एवं वस्तुयें दहेज के रूप में प्रदान की गयीं। राजा जनक ने अपनी कन्याओं के निमित्त दहेज में बहुत अधिक धन दिया। इसमें कई लाख गाये, कालीनें, करोड़ो की संख्या में रेशमी और सूती वस्त्र, भाँति-भाँति के गहनों से सजे हुये दिव्य हाथी, रथ पैदल सैनिकं भेंट किये। अपनी पुत्रियों के लिये सहेली के रूप में १००-१०० कन्यायें, उत्तम दास-दासियाँ तथा उनके लिये एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा, रजतमुद्रा, मोती और मूँगें भी दिये।

"अथ राजा विदेहानां ददौ कन्याधनं बहु। गवां शतसहस्राणि बहूनि मिथिलेश्वरः।।

कम्बलानां च मुख्यानां क्षौमान् कोट्यम्बराणि च। हस्त्यश्वरथपादातं दिव्यरूपं स्वलंकृतम् ।।

ददौ कन्याशतं तासां दासीदासमनुत्तमम्। हिरण्यस्य सुवर्णस्य मुक्तानां विद्रुमस्य च।।''[४०]

इस दान में दाता राजा जनक, ग्रहीता राजा दशरथ व उनके पुत्र, देय वस्तुओं में कन्या, गौ, आभूषण, वस्त्र, स्वर्णमुद्रा, दास-दासियाँ दान की कोटि मिश्रित दान है।

प्रसंग १२. राम के विवाह के उपरान्त जब परशुराम की मुलाकात भगवान राम से हुयी तो उन्होने वैष्णव धनुष की प्रशंसा करते हुये यह बतलाया कि मैने इस धनुष की शक्ति से ही प्रथ्वी पर विजय प्राप्त की थी और इसके पश्चात् मैने एक यज्ञ किया तथा उस यज्ञ में जीती हुयी पृथ्वी को कश्यप ऋषि को दान में दि दिया।

''पृथिवीं चाखिला प्राप्य कश्यपाय महात्मने। यज्ञस्यान्तेऽददं राम दक्षिणां पुण्यकर्मणे।।''[४१]

इस दान में दाता परशुराम, ग्रहीता कश्यप ऋषि, देय वस्तु पृथ्वी तथा दान की कोटि भूमिदान है।

प्रसंग १३. राजा दशरथ ने अपनी वृद्धावस्था जानकर अपने बड़े पुत्र राम को उत्तराधिकारी बनाने का निश्चय किया। यह बात राजा दशरथ की दूसरी रानी कैकेई की दासी मंथरा को अच्छी नहीं लगी उसने कहा कि राज्य भरत को मिलना चाहिये राजा दशरथ तुम्हारे साथ कपट का व्यवहार कर रहे हैं। इस बात से कैकेई संतुष्ट हुयी और उसने मंथरा को एक दिव्य आभूषण प्रदान किया।

''अतीव सा तु संतुष्टा कैकेयी विस्मयान्विता। दिव्यमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम्।।''[४२]

इस दान में दाता कैकेयी, ग्रहीता मंथरा, देयवस्तु आभूषण, दान की कोटि हर्ष दान है।

प्रसंग १४. कैकेई की कुटिलता तथा गृहकलह से बचने के लिये राजा दशरथ ने वचनों का पालन करते हुये राम को चौदह वर्ष का वनवास दिया। इस अवसर पर रानी कौशल्या ने अपने पुत्र के कल्याण के लिये देवताओं का पूजन किया और पुत्र की हित कामना की। पुष्पमाला, गन्ध तथा अनुरूप स्तुतियों से देवताओं का पूजन किया। श्वेत पुष्प, माला, समिधा आदि वस्तुयें यज्ञ करने हेतु ब्राह्मणों के समीप रखवा दीं तथा वेदी के समीप और बाहर इन राजलोकपालों के लिये बलि अर्पित की और ब्राह्मणों को दही, चावल, घृत दान में दिया। मंगलकामना के लिये स्वस्ति वचनों का पाठ कराया तथा विप्र और पुरोहितों को इच्छा के अनुसार दक्षिणा दी।

''मधुदध्यक्षतघृतैः स्वस्तिवाच्यं द्विजांस्ततः। वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययन क्रियाम्।

ततस्तस्मै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी। दक्षिणां प्रददौ काम्यां राघवं चेदमब्रवीत्।।''[४३]

इस दान में दाता रानी कौशल्या, ग्रहीता ब्राह्मण एवं पुरोहित, देय वस्तु दही, अक्षत, घृत, मधु, धन, दान की कोटि कामदान है।

प्रसंग १५. जब सीता और लक्ष्मण को राम के साथ वन जाने का आदेश प्राप्त हो गया उस समय लक्ष्मण जी वशिष्ठ पुत्र सुयज्ञ को बुलाकर लाये। जब सुयज्ञ का राम के पास आगमन हुआ, तब राम ने सोने के बने हुए अंगदों, सुन्दर कुण्डलों, सुवर्णमयी सूत्र में पिरोयी हुयी मणियों, केयूरों,

बलियों तथा अन्य बहुत से रत्नों द्वारा उनका पूजन किया उसके पश्चात् कहा कि तुम्हारी पत्नी के लिये सीता अपना हार, सुवर्णसूत्र, करधनी प्रदान करना चाहती हैं। उत्तम बिछौने से युक्त नाना प्रकार के रत्नों से विभूषित पलंग सीता तुम्हारे घर भेजना चाहती हैं। विप्रवर! मैं तुम्हें शत्रुन्जय हाथी और एक हजार अशरफियाँ भेंट करता हूँ। राम के कथन को सुनकर वशिष्ठ पुत्र ने उन वस्तुओं को ग्रहण करके उन्हें आशीर्वाद दिया। इसके अतिरिक्त अगस्त्य और विश्वामित्र तथा ब्राह्मणों को आमंत्रित करके दान देने का प्रस्ताव किया तथा सहस्त्रों गायें, स्वर्णमुद्रा, रजत द्रव्य तथा बहुमूल्य मणियाँ दान देने का निर्देश दिया।

"इत्युक्तः स तु रामेण सुयज्ञः प्रतिगृह्य तत्। रामलक्ष्मणसीतानां प्रयुयोजाशिषः शिवाः।।"[४४]

इस दान में दाता राम और सीता, ग्रहीता वशिष्ठ पुत्र सुयज्ञ, अगस्त्य, विश्वामित्र तथा अन्य ब्राह्मण पुरोहित, परिजन आदि, देय वस्तु आभूषण, पलंग, हाथी, स्वर्णरजत मुद्रा, दान की कोटि कामदान।

इसी आवसर पर राम ने त्रिजट ब्राह्मण को गायें दान में दीं, इसके पश्चात् धर्मबल से उपार्जित किये हुए उस महान धन को लोगों को यथायोग्य बाँटा गया। वहाँ कोई भी ब्राह्मण, सुहृद, सेवक, दरिद्र, भिक्षुक ऐसा नहीं था, जो राम से यथा योग्य सम्मान, दान, आदर सत्कार न प्राप्त कर सका हो। बाल्मीकि रामायण में इसका उदाहरण इस प्रकार मिलता है-

"द्विजः सुहृद् भृत्यजनोऽथवा तदा, दरिद्रभिक्षाचरणश्च यो भवेत्।
न तत्र कश्चिन्न वभूव तर्पितो, यथार्ह सम्माननदानसम्भ्रमैः।।"[४५]

इस दान में दानदाता भगवान राम, ग्रहीता ब्राह्मण, सेवक, दरिद्र, भिक्षुक, देयवस्तु गाय, धन, मुद्रा तथा विविध प्रकार की वस्तुएं तथा दान की कोटि कामदान।

प्रसंग १६. राम, लक्ष्मण और सीता के वन चले जाने के उपरान्त राजा दशरथ इस भीषण दुःख को सहन नहीं कर सके और उनका प्राणान्त हो गया। वैदिक रीति से उनका दाह संस्कार शमशान भूमि पर किया गया तथा ग्यारहवें दिन श्राद्ध का अनुष्ठान किया गया, बारहवें दिन सपिण्डी श्राद्ध किया गया। इस अवसर पर भरत ने ब्राह्मणों को धन, रत्न, प्रचुर मात्रा में अन्न, बहुमूल्य वस्त्र, बहुत से बकरे, चाँदी और गायें दान में दीं। इसके अतिरिक्त पारलौकिक हित के लिये बहुत से दास-दासियाँ, सवारियाँ और बड़े-बड़े घर भी ब्राह्मणों को दान में दिये।

"ब्राह्मणेभ्यो धनं रत्नं ददावन्नं च पुष्कलम्।
वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च। बास्तिकं बहु शुक्लं च गाश्चापि बहुशस्तदा।।
दासीर्दासांश्च यानानि वेश्मानि सुमहान्ति च। ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदेहिकम्।।"[४६]

इस दान में दाता भरत, ग्रहीता कर्मकाण्ड कराने वाले ब्राह्मण, देय वस्तुयें धन, रत्न, अन्न, वस्त्र, बकरे और गाय, दान की कोटि अन्त्येष्टि संस्कार दान।

प्रसंग १७. श्रीराम चन्द्र जी के वनगमन के पश्चात् भरत, शत्रुघन अपनी माताओं सहित राम को मनाने चित्रकूट पहुँचे। जब राम को यह समाचार सुनने को मिला कि राजा दशरथ स्वर्गवासी

हो गये हैं तो उस समय पिता को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये उन्होने मंदाकिनी नदी के तट पर जलदान एवं पिण्डदान किया।

''एतत् ते राजाशार्दूल विमलं तोयमक्षयम्। पितृलोक गतस्याध मद्दत्तमुपतिष्ठतु।।
ततो मन्दाकिनीतीरं प्रत्युत्तीर्य स राघवः। पितुश्चकार तेजस्वी निर्वापं भ्रातृभिः सह।।''[४७]

इस दान में दाता राम, ग्रहीता दिवंगत पिता एवं पितर, देयवस्तु जल और पिण्ड दान की कोटि अन्त्येष्टि संस्कार दान।

प्रसंग १८. श्रीराम, सीता और लक्ष्मण चित्रकूट में ही महर्षि अत्रि के आश्रम गये। यहाँ पर अत्रि की पत्नी अनुसुइया ने सीता से उनके स्वंयवर की कथा सुनकर प्रसन्नता प्रकट की तथा उन्हें सदोपदेश दिया तथा उपहारस्वरूप दिव्य हार, वस्त्र, आभूषण, अंगराग, बहुमूल्य अवलेपन उन्हें प्रदान किये। सीता जी ने अत्यन्त आदर के साथ इन वस्तुओं को भेंट स्वरूप ग्रहण किया।

''इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रभाभरणानि च। अंगरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम्।।
मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत्। अनुरूपम संक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति।।
प्रतिग्रह्य च तत् सीता प्रीतिदानं यशस्विनी। शिलष्टांजलिपुटा धीरा समुपास्त तपोधनाम्।।''[४८]

इस दान में दाता अत्रि की पत्नी अनुसुइया, ग्रहीता राम की पत्नी सीता, देय वस्तुएं हार, वस्त्र, आभूषण, अंगराग, अनुलेपन, दान की कोटि धर्मदान।

प्रसंग १९. श्रीराम, सीता और लक्ष्मण सहित अगस्त्य ऋषि के आश्रम में गये। अगस्त्य ऋषि से उनकी भेंट उनके शिष्य के माध्यम से हुयी। राम से मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुये। राम ने उनकी यज्ञशाला का भी निरीक्षण किया तथा देवताओं के स्थान को देखा। इसके पश्चात् उन्होंने यज्ञ में भाग लिया। अतिथि के रूप में उनका स्वागत-सत्कार भी हुआ। अगस्त्य ने इस अवसर पर राम को विश्वकर्मा द्वारा निर्मित धनुष, जो स्वर्ण तथा हीरों से जड़ित था, प्रदान किया तथा भगवान विष्णु के दिये हुए देदीप्यमान अमोघ उत्तम वाण प्रदान किये। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा और इन्द्र के दिये हुए तर्कश उन्हें भेंट स्वरूप दिये।

''एवमुक्त्वा महातेजाः समस्तं पद्वरायुधम्। दत्वा रामाय भगवानगस्त्यः पुनरब्रवीत्।।''[४९]

इस दान में दाता अगस्त्य ऋषि, ग्रहीता राम, देयवस्तु धनुष-बाण, तरकश, तलवार, दान की कोटि आयुध दान व कामदान।

प्रसंग २०. जनस्थान नामक स्थल में बड़ी संख्या में राक्षस निवास करते थे, राम लक्ष्मण ने उन राक्षसों को मार डाला। वहीं के एक राक्षस अकम्पन ने राक्षसों के विनाश की सूचना रावण को लंकापुरी में जाकर दी। रावण इस सूचना से बड़ा क्रोधित हुआ और उसे मार डालने को उद्धत हुआ, इस पर भयभीत होकर उसने रावण से अभयदान की याचना की। रावण ने उसकी याचना स्वीकार करते हुए उसे अभयदान प्रदान किया।

''तथा कुद्धं दशग्रीवं कृतांजलिरकम्पनः। भयात् संदिग्धया वाचा रावणं याचतेऽभयम।।
दशग्रीवोऽभयं तस्मै प्रददौ रक्षसां वरः। स विस्नब्धोऽब्रवीद् वाक्यमसंदिग्धमकम्पनः।।''[५०]

इस दान में दाता रावण, ग्रहीता अकम्पन, देयवस्तु वध न करने का आश्वासन, दान की कोटि अभयदान या प्राणदान।

प्रसंग २१. जब लंकापति रावण सीता का हरण करके उसे आकाशमार्ग से लंका लिये जा रहा था उस समय जटायु ने सीता की रक्षा के लिये अपने प्राणों की आहुति दे दी। राम उसकी मृत्यु से दुःखी हुये। उन्होंने जटायु का दाहसंस्कार किया और पिण्डदान तथा जलदान दिया।

"रामोऽथ सह सौमित्रिर्वनं गत्वा स वीर्यवान्। स्थूलान हत्वा महारोहीननुतस्तार तं द्विजम।।
रोहिमांसानि चोद्धृत्य पेशीकृत्वा महायशाः। शकुनाय ददौ रामो रम्ये हरितशाद्वले।।
शास्त्रद्दष्टेन विधिना जलं गृधाय राघवौ। स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा।।"[५१]

इस दान में दाता राम, ग्रहीता स्वर्गीय जटायु, देयवस्तु पिण्ड और जल, दान की कोटि अन्त्येष्टि संस्कारदान।

प्रसंग २२. सुग्रीव की इच्छापूर्ति के लिये राम ने बाली का वध कर दिया, इस पर बाली की पत्नी तारा को बहुत दुःख हुआ, उसके पुत्र अंगद ने बालि का दाहसंस्कार किया। उसने चिता को मुखाग्नि देकर चिता की प्रदक्षिणा की तथा वहाँ उपस्थित सभी वानरों ने तुंगभद्रा नदी के तट पर बालि को जलान्जलि दी, इसके पश्चात् सुग्रीव और तारा ने अंगद को आगे करके एक साथ जलान्जलि दी।

"ततस्ते सहितास्तत्र ह्यंगदं स्थाप्य चाग्रतः। सुग्रीवतारासहिताः सिषिचुर्वानरा जलम्।।"[५२]

इस दान में दाता अंगद, तारा, सुग्रीव एवं वानर समूह, ग्रहीता दिवंगत बालि, देयवस्तु जलान्जलि, दान की कोटि अन्त्येष्टि संस्कारदान। बालि के वध के पश्चात् राम ने सुग्रीव को किष्किन्धा का राजा बनाया, इसे भी हम एक प्रकार के दान के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

प्रसंग २३. सीता की खोज के लिये जब पवनपुत्र हनुमान उड़कर लंका जाने लगे उस समय देवता तथा सहस्त्र नेत्रधारी इन्द्र मध्यभाग वाले सुवर्णमय मैनाक पर्वत से बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, तुम्हें अभयदान देता हूँ, तुम सुखपूर्वक जहाँ चाहो वहाँ रहो। देवताओं के स्वामी से वरदान प्राप्त कर मैनाक पर्वत जल में स्थिर हो गया और हनुमान जी शुभ मुहूर्त में उस प्रदेश को लाँघ गये।

"हिरण्यनाभ शैलेन्द्र परितुष्टोऽस्मि ते भृशम्। अभयं ते प्रयच्छामि गच्छ सौम्य यथासुखम्।।
स वै दत्तवरः शैलो बभूवावस्थितस्तदा। हनूमांश्च मुहूर्तेन व्यतिचक्राम सागरम्।।"[५३]

इस दान में दाता इन्द्र, ग्रहीता मैनाक पर्वत, देयवस्तु आश्वासन, दान की कोटि अभयदान।

प्रसंग २४. श्री हनुमान जी सीता की खोज के लिये जब लंका पहुँचे तो उन्हें लंका नाम की एक राक्षसी मिली, वह लंका की रक्षा भी करती थी। लंका में प्रवेश करने पर उस राक्षसी ने हनुमान जी पर आक्रमण किया, प्रतिरोध में हनुमान जी ने उसे एक मुक्का मारा जिससे उसके सारे अंग शिथिल हो गये, उस समय उसने हनुमान जी से कहा कि वीर लोग स्त्रियों पर हाथ नहीं

चलाते इसलिये आप मेरे प्राण हरण न करें, मैं आपसे अपनी हार स्वीकार करती हूँ। मुझे ब्रह्मा जी ने यह वरदान दिया था कि जब कोई वानर मुझे अपने पराक्रम से अपने वश में कर ले, उस समय यह समझना कि राक्षसों का विनाश होने वाला है।

''प्रसीद सुमहाबाहो त्रायस्व हरिसत्तम। सभये सौम्य तिष्ठन्ति सत्ववन्तो महाबलाः।।''[५४]

इस दान में दाता हनुमान जी, ग्रहीता लंका नाम की राक्षसी, देयवस्तु प्राण, दान की कोटि प्राणदान।

प्रसंग २५. सीता का पता लगाकर जब वानर भगवान राम की ओर लंकापुरी से प्रस्थान कर रहे थे उस समय वे मधुवन में पहुँचे, इस वन का रक्षक दधिमुख नामक वानर था जिसे वानरों ने मारा पीटा तथा मधुवन को उजाड़ दिया इसलिये वह शिकायत करने सुग्रीव के पास आया, सुग्रीव ने उसे अभयदान दिया और उसकी बात सुनी।

''उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कस्मात् त्वं पादयोः पतितो मम। अभयं ते प्रदास्यामि सत्यमेवाभिधीयताम्।।''[५५]

इस दान में दाता सुग्रीव, ग्रहीता दधिमुख, देय वस्तु आश्वासन, दान की कोटि अभयदान।

प्रसंग २६. रावण से त्रस्त होकर उसका भाई विभीषण राम की शरण में आता है, उस समय वानर सेना उसको संदेह की दृष्टि से देखती है तथा शत्रु के भाई से संदेह रखते हुये सम्पर्क स्थापित करने की सलाह नहीं देते किन्तु हनुमान के आश्वासन पर वे विश्वास करते हुये विभीषण को अभयदान देते हैं और उन्हें अपना मित्र बना लेते हैं।

''सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद व्रतं मम्।।
ततस्तु सुग्रीववचो निशम्य तद्धरीश्वरेणाभिहितं नरेश्वरः।
विभीषणेनाशु जगाम संगमं पतत्रिराजेन यथा पुरंदरः।।''[५६]

इस दान में दाता राम, ग्रहीता विभीषण, देय वस्तु आश्वासन एवं दान की कोटि अभयदान।

प्रसंग २७. श्रीरामचन्द्र जी ने जब समुद्र को सुखाने के लिये अमोघ वाण ताना उस समय समुद्र ने अपने साथ यह व्यवहार करने से राम को मना किया और वह स्थान बताया जहाँ अमोघ बाण छोड़ा जा सकता है, उसने कहा कि उत्तर दिशा में द्रुमकुल्य नामक एक देश है, यहाँ आभीर जाति के लोग निवास करते हैं, ये सभी पापी और लुटेरे हैं, ये सभी समुद्र का जल पीते हैं। राम ने समुद्र के कथनानुसार उस देश में प्रज्जवलित अमोघ बाण छोड़ दिया जहाँ वह बाण गिरा वह मरुभूमि के नाम से प्रसिद्ध हुआ और इस बाण की चोट सें उससे रसातल का जल ऊपर आने लगा और यह भी समुद्र की भाँति दिखने लगा। उस बाण से भूतल के सब कुँये, तालाब सूख गये, उस समय से यह स्थान कच्छ प्रदेश के नाम से विख्यात हुआ तथा इस स्थल में रोगों का नाश हुआ। भूमि, फल, फूल और रसों से युक्त हो गयी। इस प्रकार राम के वरदान से वह मरुप्रदेश बहुसंख्यक गुणों से सम्पन्न हो सबके लिये मंगलकारी बन गया।

"एवमेतैश्च संयुक्तो बहुभिः संयुतो मरुः। रामस्य वरदानाच्च शिवः पन्था बभूव ह।।"[५७]

इस दान में दाता राम, ग्रहीता समुद्र, देय वस्तु परिणाम, दान की कोटि फलदान।

प्रसंग २८. रावण के वध के उपरान्त राम ने विभीषण का राजतिलक किया और राज्य की सारी सम्पत्ति विभीषण को सौंप दी। इससे प्रसन्न होकर लंका नरेश विभीषण ने कुछ वस्तुयें राम और लक्ष्मण को भेंटस्वरूप दीं। जिन्हें दोनो भाइयों ने सफल मनोरथ देख स्वीकार कर लिया।

"स तान् गृहीत्वा दुर्धर्यो राघवाय न्यवेदयत्। मंगल्यं मंगलं सर्वं लक्ष्मणाय च वीर्यवान।।
कृतकार्यं समृद्धांर्थ द्दष्टवा रामो विर्भीषणम्। प्रतिजग्राह तत् संर्व तस्यैव प्रतिकाम्यया।"[५८]

इसमें दाता विभीषण, ग्रहीता राम-लक्ष्मण, देय वस्तु मांगलिक वस्तुयें, दान की कोटि वस्तु (भेंट) दान।

प्रसंग २९. जब विभीषण का राजतिलक हो गया तो उस समय राम ने विभीषण को यह सलाह दी कि विभीषण तुम वानर सेना के नायकों का उचित सम्मान दान देकर करो। विभीषण ने राम के इस कथन को मानकर सभी वानरों को सम्मानित किया। इसके पश्चात् वानर सेना विदा हो गयी और राम, लक्ष्मण तथा सीता पुष्पक विमान पर चढ़कर अयोध्या के लिये प्रस्थान कर गये।

"एवमुक्तस्तु रामेण वानरास्तान् विभीषणः। रत्नार्थसंविभागेन सर्वानेवाभ्यपूजयत्।।"[५९]

इसमें दानदाता विभीषण, ग्रहीता वानर सेना, देय वस्तु स्वर्ण रत्नादि, दान की कोटि वस्तु (भेंट) दान।

प्रसंग ३०. लंकापुरी से अयोध्या लौटने के पश्चात राम का अयोध्या नरेश के रूप में राज्याभिषेक वड़े धूम-धाम के साथ सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर देवराज इन्द्र की प्रेरणा से वायु देव ने सौ स्वर्णमयी कमलों से वनी हुयी एक दीप्तिमती माला और सब प्रकार के रत्नों युक्त मणियों से विभूपित मुक्ताहार राजा रामचन्द्र को भेंट किया। इस अवसर पर रामचन्द्र जी ने ब्राह्मणों को एक लाख घोड़े, उतनी ही दूध देने वाली गायें तथा सौ साँड़ दान में दिये। इसके अतिरिक्त ३० करोड़ अशरफियाँ, नाना प्रकार के आभूषण, वस्त्र ब्राह्मणों को बाँटे, इसके पश्चात् वालिपुत्र अंगद को दो नीलम से जड़ित वाजूबन्द भेंट किये, मणियों से युक्त एक मुक्ताहार तथा कभी न मैले होने वाले दिव्यवस्त्र और आभूषण सीता जी को भेंट किये। जो हार सीता जी को भेंट में मिला था वह सीता जी ने हनुमान को भेंट में दे दिया। अन्य वानर सेना अध्यक्षों को वस्त्र, आभूषण प्रदान किये गये। इसके पश्चात् विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जामवन्त को सत्कार के साथ मनोवांछित वस्तुयें प्रदान कीं। द्विविद, मैन्द और नील को उत्तम रत्न दिये, इसके पश्चात सभी लोग किष्किन्धा को तथा विभीषण लंका को चले गये।[६०]

इसमें दानदाता इन्द्र, वायुदेव, राम और सीता, ग्रहीता राम, सीता, वानर सेना, सुग्रीव, विभीषण, अंगद, जाम्बवान, द्विविद, नल, नील, हनुमान तथा ब्राह्मण आदि देय वस्तु रत्न, आभूषण, गाय, अश्व, साँड़ आदि, दान की कोटि वस्तु (भेंट) दान।

प्रसंग ३१. राम का राज्य स्थापित हो जाने के पश्चात् समस्त ऋषिगण राम का अभिनन्दन

करने के लिये अयोध्यापुरी में आये। पूर्व दिशा में निवास करने वाले कौशिक, नवकीत, गार्ग्य, गालब, मेधातिथि के पुत्र कण्व, स्वस्त्यात्रेय, पश्चिम दिशा में रहने वाले नृषंक, कवष, धौम्य, कौशेय अपने शिष्यों के साथ आये, उत्तर दिशा में रहने वाले वसिष्ठ, कश्यप, अत्रि, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज आये तथा दक्षिण दिशा से नमुचि, अगस्त्य, भगवान अत्रि, सुमुख और विमुख अगस्त्य के साथ अयोध्यापुरी पधारे। रामचन्द्र ने सभी ऋषियों का स्वागत-सत्कार किया, उनका पूजन किया तथा सबको एक-एक गाय दी।

''दृष्ट्वा प्राप्तान् मुनींस्तांस्तु प्रस्युत्थाय कृताजंलिः। पाघार्ध्यादिभिरानर्च गां निवेद्य च सादरम्।।''[६१]

इसमें दाता राम, ग्रहीता ऋषिगण, देयवस्तु गाय, दान की कोटि गोदान।

प्रसंग ३२. राम के राज्य में मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं के साथ भी न्याय किया जाता था। एक बार सर्वार्थसिद्धि नामक भिक्षु ने, जो ब्राह्मणों के घर में रहा करता था, ने एक निर्दोष कुत्ते को मार दिया, वह कुत्ता घायल होकर राम के दरबार में पहुँचा। दरबारियों की सलाह पर उस ब्राह्मण को दरबार में बुलाया गया। सभी दरबारियों का यह मत था कि ब्राह्मण को दण्ड नहीं दिया जा सकता इसलिये इसे कहीं का पुजारी बना दिया जाय। इस न्याय से कुत्ता भी सहमत हो गया तथा उसे कालिंजर मठ का महन्त बना दिया गया।

''प्रतिज्ञातं त्वया वीर किं करोमीति विश्रुतम्। प्रयच्छ ब्राह्मणस्यास्य कौलपत्यं नराधिप।।
कालंजरे महाराज कौलपत्यं प्रदीयताम्। एतच्छ्रुत्वा तु रामेण कौलपत्येऽभिषेचितः।।
प्रययौ ब्राह्मणो हृष्टो गजस्कन्धेन सोऽर्चितः।''[६२]

इसमें दाता राम, ग्रहीता स्वान एवं ब्राह्मण, देय वस्तु कालिंजर मठ, दान की कोटि परिणाम दान।

प्रसंग ३३. जब रामचन्द्र जी ने धर्म विरुद्ध मार्ग पर चलने वाले शम्भूक का वध कर दिया, उस समय ऋषिगण राम से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि शूद्र के तप के कारण ब्राह्मण पुत्र का स्वर्गवास हुआ था अब इसकी मृत्यु के पश्चात् ब्राह्मण पुत्र जीवित हो गया है। देवता भी शूद्र का स्वर्ग में जाना पसन्द नहीं करते इसलिये वे भी शम्भूक के वध से प्रसन्न हैं, इस कृत्य से प्रसन्न होकर अगस्त्य ऋषि ने विश्वकर्मा द्वारा निर्मित आभूषण राम को दान देना चाहा। राम ने कहा कि दान लेना ब्राह्मणों का कार्य है। मैं इसे ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि क्षत्रिय के लिये प्रतिग्रह स्वीकार करना निन्दित बतलाया गया है इसलिये वह एक ब्राह्मण से दान कैसे ले सकते हैं। इस पर अगस्त्य ऋषि ने कहा कि सतयुग में कोई राजा नहीं था इन्द्र को ही राजा की उपाधि थी। प्रजा के अनुरोध पर राजा की नियुक्ति की गई इसलिये तुम्हें यह दान लेने में कोई दोष नहीं है, इससे आपको उत्तम फल की ही प्राप्ति होगी। अन्ततः अगस्त्य मुनि के इस अनुरोध को रामचन्द्र जी ने स्वीकार कर लिया।

''इदं चामरणं सौम्य निर्मितं विश्वकर्मणा। दिव्यं दिव्येन वपुषा दीप्यमानं स्वतेजसा।।
प्रतिगृह्वीखष्व काकुत्स्थ मत्प्रियं कुरु राघव। दत्तस्य हि पुनर्दाने सुमहत् फलमुच्यते।।

तद् रामः प्रतिजग्राह मुनेस्तस्य महात्मनः। दिव्यमाभरणं चित्रं प्रदीप्तमिव भास्करम्।
प्रतिगृह्य ततो रामस्तदा भरणमुत्तमम्।।''[६३]

इसमें दाता अगस्त्य ऋषि, ग्रहीता राम, देयवस्तु दिव्यआभूषण तथा दान की कोटि वस्तुदान।

प्रसंग ३४. राजा श्वेत जो त्रेता युग में हुए थे, उन्होंने अपना किस्सा अगस्त्य मुनि को बताया। उन्होंने कहा कि मेरे पिता विदर्भ देश के राजा थे उनका नाम सुदेव था उनके दो पत्नियाँ तथा दो पुत्र थे, वड़ा पुत्र मैं था और मेरा छोटा भाई सुरम्य था। पिता के स्वर्गवासी हो जाने के पश्चात् मुझे राजा बनाया गया, राज्य करने के बाद मृत्यु को सन्निकट जान एक दुर्गम वन में एक सुन्दर सरोवर के तट पर मैंने लम्बे समय तक तपस्या की उस तप से मुझे ब्रह्मलोक की प्राप्ति हुयी परन्तु वहाँ भी मुझे भूख-प्यास की क्षुधा पीड़ित करती थीं, जब मैंने ब्रह्मा जी से पूँछा तो उन्होंने कहा कि तुमने अपने जीवनकाल में कोई दान नहीं किया इसीलिये तुम्हें यह क्षुधा पीड़ित कर रही है। इस क्षुधा को शान्त करने के लिये तुम्हें अपना ही माँस खाना पड़ेगा और जब इस वन में अगस्त्य ऋषि आयेंगे तब तुम्हारा उद्धार होगा, इसलिये मेरे उद्धार के लिये आप आभूषण का दान ग्रहण करें, इसके अतिरिक्त मैं आपको स्वर्ण, धन, वस्त्र, भक्ष्य भोजन तथा अन्य नाना प्रकार के आभरण देता हूँ। स्वर्गीय राजा श्वेत की दुःखभरी बात सुनकर उनके उद्धार के लिये अगस्त्य ने वह सब वस्तुयें ले लीं।

''इदमाभरणं सौम्य तारणांर्थ द्विजोत्तम। प्रतिग्रह्रीष्व भद्रं ते प्रसादं कर्तुमर्हसि।।
तस्याहं स्वर्गिणो वाक्यं श्रुत्वा दुःखसमन्वितम्। तारणायोपजग्राह तदाभरणमुत्तमम्।।''[६४]

इसमें दाता राजा श्वेत, ग्रहीता ऋषि अगस्त्य, देय वस्तु आभूषण, रत्न, वस्त्र आदि, दान की कोटि भयदान।

प्रसंग ३५. जब अयोध्या नरेश श्रीरामचन्द्रजी ने विश्वविजयी होने के लिये अश्वमेध यज्ञ किया तो उस यज्ञ में चिरंजीवी महात्मा मुनि पधारे, उन्होंने उस यज्ञ के दान को सराहा, जिसे स्वर्ण की आवश्यकता थी वह स्वर्ण पाता था, धन चाहने वाले को धन मिलता था, दान देने के लिये चाँदी-सोने, वस्त्रों के ढेर लगे थे, इस यज्ञ में वानर और राक्षसों का सहयोग भी रहा, वे दान देने के लिये सामग्री हाथ में लिये खड़े रहते थे। वस्त्र, धन अन्न की इच्छा रखने वाले याचकों को अधिक से अधिक इच्छित वस्तुयें प्रदान करते थे।

''ये च तत्र महात्मानो मुनयश्चिर जीविनः। नास्मरंस्तादृशं यज्ञं दानौघसमलंकृतम्।।''[६५]

इसमें दानदाता राम, ग्रहीता ऋषि, मुनि, ब्राह्मण, याचक, देयवस्तु अन्न, वस्त्र, स्वर्णाभूषण आदि, दान की कोटि धर्मदान।

प्रसंग ३६. सीता के रसातल में प्रवेश करने के पश्चात् राम की माताओं का भी स्वर्गवास हो गया। उसके पश्चात् राम बिना किसी भेदभाव के माताओं के निमित्त बड़े-बड़े दान दिया करते थे। उन्होंने माताओं के श्राद्ध में उपयोगी उत्तमोत्तम वस्तुयें ब्राह्मणों को प्रदान कीं और पितरों को शान्त

करने के लिये अनेक यज्ञ किये।

"तासां रामो महादानं काले-काले प्रयच्छति। मातृणामविशेषेण ब्राह्मणेषु तपस्विषु।।"[६६]

इसमें दानदाता राम, ग्रहीता ब्राह्मण और पितर, देय वस्तु स्वर्ण आभूषण, धन आदि, दान की कोटि अन्त्येष्टि संस्कार दान।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित दानों का मूल्यांकन– वाल्मीकि रामायण केवल प्रवन्ध काव्य ही नहीं अपितु एक ऐसी पुस्तक है जो मानव जीवन के लोक आदर्श पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करती है। इस ग्रन्थ के माध्यम से तद्‌युगीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक दशा आलोकित होती है। इस महाकाव्य के नायक अयोध्यानरेश दशरथ के पुत्र श्रीराम हैं तथा सहनायक लक्ष्मण, भरत, शत्रुघन हैं, सहयोगी नायकों में हनुमान, सुग्रीव, अंगद, जाम्बवान, नल, नील, विभीषण आदि हैं। इस महाकाव्य की नायिका जनकनन्दिनी सीता हैं तथा सहनायिकाओं में कौशल्या, सुमित्रा, अनुसुइया, तारा आदि हैं। खलनायकों में रावण, खर-दूषण, मेघनाद, कुम्भकर्ण, मारीच, बाली आदि हैं। खलनायिकाओं में कैकेयी, मंथरा, ताड़का, सूपनखा आदि हैं। श्रीराम को घरेलू परिस्थितियों एवं वचनबद्धता के कारण १४ वर्ष तक वनवास की यातना झेलनी पड़ती है। दो वर्ष तक पत्नी का विरह सहन करना पड़ता है। राज्यारोहण के पश्चात् भी उन्हें जनता का कोपभाजन बनना पड़ता है और सीता का परित्याग करना पड़ता है। श्रीराम एक ऐसे चरित्र नायक हैं जिनमें धर्मधारक, आज्ञापालक, सहनशील, सत्यप्रतिज्ञ, शौर्यता और उदारता के गुण विद्यमान थे, उन्होंने जिन लोकादर्शों का पालन किया वे समाज के लिये अनुकरणीय हैं तथा उन आदर्शों की वजह से ही राम स्थायी यश के भागी बने और आज भी वे हिन्दू संस्कृति के आधार और प्रत्यक्ष भगवान के रूप में पूज्यनीय हैं।

राम की उदार भावना से ही उनके हृदय में दान की भावना का उदय हुआ, जिस कुल में मर्यादा पुरुषोत्तम राम उत्पन्न हुए थे वह कुल भी दृढ़प्रतिज्ञ, धर्म का पालन करने वाला, सदैव यज्ञ आदि कर्मों का करने वाला और दान पर अभिरुचि रखने वाला था। इसी दृढ़प्रतिज्ञा के कारण दशरथ ने अपने पुत्रों को विश्वामित्र के हाथ में सौंप दिया। यह पुत्रदान का उत्तम उदाहरण है। कैकेयी के कथन पर प्रिय पुत्रों को वनवास देना वचनबद्ध दान का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। इसके पूर्व राजा दशरथ द्वारा आयोजित पुत्र प्राप्ति के लिये राजसूय यज्ञ आदि में उत्तम कोटि के दान के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार राम के जन्मोत्सव, विवाहोत्सव तथा राजतिलक के अवसर पर अनेक स्थलों में दान के उदाहरण उपलब्ध हुए हैं। राजा दशरथ के स्वर्गवासी हो जाने के पश्चात अन्त्येष्टि संस्कार के अवसर पर दान देने के उदाहरण वाल्मीकि रामायण में मिलते हैं। यह अन्त्येष्टि संस्कार दशरथ के अतिरिक्त बालि, जटायु तथा लंका नरेश रावण और राम की माताओं आदि में देखने को मिलते हैं। राम के द्वारा भी अनेक धार्मिक यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता है वे कहीं दानदाता के रूप में दिखाई देते हैं तो कहीं ग्रहीता के रूप भी दिखाई देते हैं। इस प्रकार वाल्मीकि रामायण सर्वत्र दान प्रसंगों से भरी हुयी हैं।

करने के लिये अनेक यज्ञ किये।

"तासां रामो महादानं काले-काले प्रयच्छति। मातृणामविशेषेण ब्राह्मणेषु तपस्विषु।।"[६६]

इसमें दानदाता राम, ग्रहीता ब्राह्मण और पितर, देय वस्तु स्वर्ण आभूषण, धन आदि, दान की कोटि अन्त्येष्टि संस्कार दान।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित दानों का मूल्यांकन– वाल्मीकि रामायण केवल प्रबन्ध काव्य ही नहीं अपितु एक ऐसी पुस्तक है जो मानव जीवन के लोक आदर्श पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करती है। इस ग्रन्थ के माध्यम से तद्‌युगीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक दशा आलोकित होती है। इस महाकाव्य के नायक अयोध्यानरेश दशरथ के पुत्र श्रीराम हैं तथा सहनायक लक्ष्मण, भरत, शत्रुघन हैं, सहयोगी नायकों में हनुमान, सुग्रीव, अंगद, जाम्बवान, नल, नील, विभीषण आदि हैं। इस महाकाव्य की नायिका जनकनन्दिनी सीता हैं तथा सहनायिकाओं में कौशल्या, सुमित्रा, अनुसुइया, तारा आदि हैं। खलनायकों में रावण, खर-दूषण, मेघनाद, कुम्भकर्ण, मारीच, बाली आदि हैं। खलनायिकाओं में कैकेयी, मंथरा, ताड़का, सूपनखा आदि हैं। श्रीराम को घरेलू परिस्थितियों एवं वचनबद्धता के कारण १४ वर्ष तक वनवास की यातना झेलनी पड़ती है। दो वर्ष तक पत्नी का विरह सहन करना पड़ता है। राज्यारोहण के पश्चात् भी उन्हें जनता का कोपभाजन बनना पड़ता है और सीता का परित्याग करना पड़ता है। श्रीराम एक ऐसे चरित्र नायक हैं जिनमें धर्मधारक, आज्ञापालक, सहनशील, सत्यप्रतिज्ञ, शौर्यता और उदारता के गुण विद्यमान थे, उन्होंने जिन लोकादर्शों का पालन किया वे समाज के लिये अनुकरणीय हैं तथा उन आदर्शों की वजह से ही राम स्थायी यश के भागी बने और आज भी वे हिन्दू संस्कृति के आधार और प्रत्यक्ष भगवान के रूप में पूज्यनीय हैं।

राम की उदार भावना से ही उनके हृदय में दान की भावना का उदय हुआ, जिस कुल में मर्यादा पुरुषोत्तम राम उत्पन्न हुए थे वह कुल भी दृढ़प्रतिज्ञ, धर्म का पालन करने वाला, सदैव यज्ञ आदि कर्मों का करने वाला और दान पर अभिरुचि रखने वाला था। इसी दृढ़प्रतिज्ञा के कारण दशरथ ने अपने पुत्रों को विश्वामित्र के हाथ में सौंप दिया। यह पुत्रदान का उत्तम उदाहरण है। कैकेयी के कथन पर प्रिय पुत्रों को वनवास देना वचनबद्ध दान का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। इसके पूर्व राजा दशरथ द्वारा आयोजित पुत्र प्राप्ति के लिये राजसूय यज्ञ आदि में उत्तम कोटि के दान के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार राम के जन्मोत्सव, विवाहोत्सव तथा राजतिलक के अवसर पर अनेक स्थलों में दान के उदाहरण उपलब्ध हुए हैं। राजा दशरथ के स्वर्गवासी हो जाने के पश्चात अन्त्येष्टि संस्कार के अवसर पर दान देने के उदाहरण वाल्मीकि रामायण में मिलते हैं। यह अन्त्येष्टि संस्कार दशरथ के अतिरिक्त बालि, जटायु तथा लंका नरेश रावण और राम की माताओं आदि में देखने को मिलते हैं। राम के द्वारा भी अनेक धार्मिक यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता है वे कहीं दानदाता के रूप में दिखाई देते हैं तो कहीं ग्रहीता के रूप भी दिखाई देते हैं। इस प्रकार वाल्मीकि रामायण सर्वत्र दान प्रसंगों से भरी हुयी हैं।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित दान की कोटियाँ धर्मशास्त्रों के अनुसार हैं। ऐसा लगता है कि वाल्मीकि रामायण में चारो वेदों में वर्णित दान की कोटियों को थोड़े बहुत संशोधनों के बाद स्वीकार कर लिया गया है। इनमें १६ प्रकार के महादान, वस्तुदान, अन्नदान, गोदान, स्वर्णआभूषण दान, ज्ञानदान, अभयदान, प्राणदान आदि शामिल हैं। इसके अतिरिक्त उत्तम कोटि का दान, मध्यम कोटि का दान और कनिष्ठ कोटि की श्रेणी में आने वाले दानों के उदाहरण भी वाल्मीकि रामायण में मिलते हैं। यदि दान का विश्लेषण धर्मदान, कामदान, भयदान, लज्जादान, क्षमादान, आदि के अनुसार किया जाय तो इस कोटि के दान भी वाल्मीकि रामायण में उपलब्ध हो जाते हैं। समस्त वाल्मीकि रामायण में दान को धर्म का अंग माना गया है तथा इसी के माध्यम से व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसमें गोदान, स्वर्णदान, वस्तुदान और कन्यादान को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है। दान की यह पद्धति आर्यों के अतिरिक्त अनार्यों, वानरों तथा यक्षों आदि में भी प्रचलित थी। वाल्मीकि रामायण में संस्कार दानों का भी पर्याप्त मात्रा में उल्लेख है इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जैसे- जन्म, नामकरण, उपनयन, वेदारम्भ, विद्या समाप्ति (समावर्तन), विवाह और अन्त्येष्टि आदि के उदाहरण हमें उपलब्ध होते हैं। दान की लगभग सभी कोटियाँ इस ग्रन्थ में मिल जाती हैं।

दान के तीन मुख्य आधार होते हैं, पहला दाता, दूसरा याचक, तीसरा वे वस्तुयें जो दाता द्वारा ग्रहीता को दी जाती हैं। वाल्मीकि रामायण में सभी सामर्थ्यवान और साधन सम्पन्न व्यक्तियों के हृदय में दान के प्रति श्रद्धा है और दान देने की शक्ति भी। यज्ञ आदि अवसरों पर समस्त दानदाता इच्छाशक्ति के अनुसार दान देने के लिये उत्सुक दिखाई देते हैं। यहाँ कोई ऐसी बात दिखाई नहीं देती कि व्यक्ति अनिच्छा पूर्वक दान दे रहा है। केवल दान की बाध्यता एक ही स्थान में प्रतीत होती है, वह अनिच्छा राजा दशरथ के द्वारा विश्वामित्र को राम-लक्ष्मण का दान बाध्य दान की कोटि में आता है, इसी प्रकार राम को वन भेजना भी दशरथ की इच्छा पर निर्भर नहीं था।

वाल्मीकि रामायण में दो प्रकार के ग्रहीता मिलते हैं। प्रथम कोटि के ग्रहीता वे हैं जो दान की याचना नहीं करते उन्हें यज्ञ आदि अवसरों पर अपने आप दान दिया जाता है। दूसरी कोटि के याचक उस कोटि के हैं कि उन्हें याचना करने पर ही दान की प्राप्ति हो पाती है। याचकों में आचार्य, पुरोहित, गुरु, मित्रगण, परिजन, दीन, अकिंचन और निर्बल व्यक्ति आदि आते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ग्रहीता ऐसे भी हैं कि वे दान स्वीकार नहीं करना चाहते किन्तु उन्हें सानुरोध दान ग्रहण करने के लिये बाध्य किया जाता है क्योंकि दाता यह समझता है कि उपरोक्त वस्तुओं से ग्रहीता का कल्याण हो सकता है इसलिये उसे उन वस्तुओं को स्वीकार करना चाहिए।

दान में दी जाने वाली वस्तुयें दो कोटि की होती थीं। प्रथम कोटि की वस्तुयें नेत्रों से दिखलाई नहीं देतीं, इस कोटि में वरदान, आशीर्वाद, क्षमादान, प्राणदान, अभयदान और मंगलकामना के दान शामिल हैं। दूसरी कोटि की वस्तुओं में गायें, दूध दुहने वाले धातु के पात्र,

अश्व, बकरी, हाथी, कन्या, दास-दासियाँ, स्वर्ण, स्वर्णमुद्रा, आभूषण, वस्त्र, पलंग तथा जूता, छाता, आसन आदि शामिल हैं। उस युग में जो भी वस्तुयें उपलब्ध थीं उनका आवश्यकतानुसार दान किया जाता था।

वाल्मीकि रामायण में ऐसा कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता कि कोई भी दानदाता केवल ब्राह्मणों, आचार्यों, पुरोहितों को दान देने को बाध्य था। किन्तु एक बात अवश्य थी कि दान सुपात्र को ही दिया जाता था। सभी जाति के लोग जो दान की आवश्यकता समझते थे दानदाता उन्हें अपनी सामर्थ्य के अनुसार दान देता था। ऐसा प्रतीत होता है कि वह युग ऐश्वर्य का युग था, राजकोष धनधान्य से पूर्ण था इसलिये दानदाता बिना कुछ सोंचे-समझे दान देते थे।

दान को उपयुक्त धार्मिक फल देने वाला माना गया है। जिससे दानदाता स्थायी यश के साथ-साथ धार्मिकों तथा देवताओं के मध्य में भी लोकप्रिय हो जाता था। दान देने के पश्चात् उसे उत्तम यश के साथ-साथ मोक्ष, स्वर्गलोक आदि की भी प्राप्ति होती थी। दान देने से वह सभी प्रकार के ऋणों से मुक्त हो जाता था। उसके उत्तराधिकारी प्रतिष्ठित वंश के माने जाते थे तथा सभी लोगों द्वारा सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे।

महाभारत : एक सामान्य परिचय- महाभारत को ऐसा महासागर माना गया है जिसमें असंख्य ज्ञान सरितायें मिलकर एकप्राण हो गयी हैं। इसके रचयिता व्यास की यह उक्ति सर्वथा सत्य प्रमाणित है कि- "इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है, यथा-

"धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित।।"

कौरवों और पाण्डवों का इतिहास वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है अपितु हमारे हिन्दू धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण भी प्रयोजन है। महाभारत का शान्तिपर्व जीवन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य हजारों वर्षों से करता आ रहा है इसलिये इस इतिहास ग्रन्थ को हम अपना धर्मग्रन्थ मानते आये हैं, जिसका पठन-पाठन, श्रवण-मनन, सब प्रकार से हमारा कल्याणकारक है। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक मूल्य भी कम नहीं है। सच तो यह है कि केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के शुद्ध स्वरूप से परिचय पा सकते हैं। भारतीय इतिहास का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी महाभारत का एक अंश है। इसके अतिरिक्त 'विष्णुसहस्त्रनाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज', 'गजेन्द्रमोक्ष', जैसे आध्यात्मिक तथा भक्तिपूर्ण ग्रन्थ इसी के अंश हैं। इन्हीं पाँच ग्रन्थों को 'पंचरत्न' के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं गुणों के कारण महाभारत 'पंचमवेद' के नाम से विख्यात है। प्राचीन राजनीति को जानने के लिये हमें इसी ग्रन्थ की शरण लेनी पड़ती है। विदुरनीति जिसमें आचार तथा लोकव्यवहार के नियमों का सुन्दर निरूपण है महाभारत का ही एक अंश है। इस प्रकार ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक दृष्टियों से महाभारत एक गौरवपूर्ण ग्रन्थ है।

रचयिता- महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास का सम्बन्ध महाभारत के पात्रों के साथ बहुत

ही घनिष्ठ है। उनकी माता का नाम सत्यवती था, जो चेदिराज वसु उपरिचर के वीर्य से यमुना के किसी द्वीप में उत्पन्न हुयी थी। मल्लाहों के राजा दाशराज के द्वारा जन्मकाल से ही उसकी रक्षा तथा पोषण हुआ था। यमुना के किसी द्वीप में जन्म के कारण व्यास जी 'द्वैपायन' कहलाते थे। शरीर के रंग के कारण 'कृष्णमुनि' तथा यज्ञीय उपयोग के लिये एक वेद को चार संहिताओं में भाग करने के कारण 'वेदव्यास' के नाम से विख्यात थे। वे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर के जन्मदाता ही नहीं थे प्रत्युत पाण्डवों का विपत्ति के समय छाया के समान अनुगमन करने वाले थे तथा अपने उपदेशों से उन्हें धैर्य, ढाढ़स तथा न्यायपथ पर आरूढ़ रहने की शिक्षा दिया करते थे। कौरवों को युद्ध से विरत करने के लिये इन्होंने कोई भी प्रयत्न उठा नहीं रखा, परन्तु विषयभोग के पुतले कौरँवों ने इनके उपदेशों को न मानकर अपनी करनी का फल पाया। इन्होंने तीन वर्षों तक सतत् परिश्रम से-सदा उत्थान से-इस अनुपम ग्रन्थ की रचना की। महाभारत के आदिपर्व में इसका उल्लेख मिलता है-

"त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः। महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्।।"[६७]

लेकिन वेदव्यास के नाम को एक उपाधि सूचक माना जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि व्यास या वेदव्यास किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं अपितु एक पदवी है अथवा अधिकार का नाम है।[६८] पं० गिरधर शर्मा के अनुसार- जब जो ऋषि, मुनि, वेदसंहिता का विभाजन या पुराण का संक्षेप कर ले वही उस समय का व्यास या वेदव्यास कहा जाता है। इस प्रकार महाभारत की रचना अनेक लोगों ने की। महाभारत की कथा का प्रवचन प्रधानतः तीन व्यक्तियों ने किया, इसके प्रथम वक्ता 'कृष्णद्वैपायन व्यास' थे। उन्होंने सम्पूर्ण कथा अपने शिष्य वैशम्पायन को सुनाई। वैशम्पायन ने यह कथा जनमेजय के नागयज्ञ में अभिमन्यु के पौत्र जनमेजय को सुनाई। तीसरी बार लोमहर्षण (सूत) के पुत्र सौति ने यह महाख्यान शौनकादि ऋषियों को सुनाया, जहाँ से यह कथा लोकविश्रुत हुयी।

आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं। इसलिये इसे 'शतसाहस्त्र-संहिता' कहते हैं। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष पुराना है क्योंकि गुप्तकालीन शिलालेख में यह 'शतसाहस्त्री संहिता' के नाम से उल्लिखित हुआ है। विद्वानों का कहना है कि महाभारत का यह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ। बहुत प्राचीन काल से अनेक गाथायें तथा आख्यान इस देश में प्रचलित थे जिनमें कौरवों तथा पाण्डवों की वीरता का वर्णन किया गया था अथर्ववेद में परीक्षित का आख्यान उपलब्ध होता है अन्य वैदिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र महाभारत के वीर पुरूषों की बातें उल्लिखित मिलती हैं इन्हीं सब गाथाओं तथा आख्यानों को एकत्र कर महार्षि वेदव्यास ने जिसे काव्य का रूप दिया है वही आजकल का सुप्रसिद्ध महाभारत है इसके विकास के तीन क्रमिक स्वरूप माने जाते हैं- (१) जय (२) भारत (३) महाभारत।

१. जय- इस ग्रन्थ का मौलिक रूप 'जय' नाम से प्रसिद्ध था। इस ग्रन्थ में नारायण, नर सरस्वती देवी को नमस्कार कर जिस 'जय' नामक ग्रन्थ के पठन का विधान है, वह महाभ

मूल प्रतीत होता है यथा-

"नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्।।"[६९]

वहीं स्वयं लिखा हुआ है कि इसका प्राचीन नाम जय था।[७०] पाण्डवों के विजय-वर्णन के कारण ही इस ग्रन्थ का ऐसा नामकरण किया गया है। इस समय इसमें ८८०० श्लोक थे।

२. भारत- जय के अनन्तर विकसित होने पर इस ग्रन्थ का अभिधान पड़ा-भारत। जैसा कि नाम से प्रतीत होता है कि यह भरतवंशी कौरवों तथा पाण्डवों के युद्ध का वर्णन परक ग्रन्थ था। उस समय इसका परिमाण केवल चौबीस सहस्त्र श्लोकं (२४०००) था और यह आख्यानों से रहित था यथा-

चतुर्विंशतिसाहस्त्रीं चक्रे भारतसंहिताम्। उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः।।[७१]

३. महाभारत- कालान्तर में उपाख्यानों के समावेश ने इसे भारत से महाभारत का रूप प्रदान किया जो अपने 'खिलपर्व' (अर्थात परिशिष्ट रूप) हरिवंश से संयुक्त होकर परिमाण में चतुर्गुण अर्थात् एक लाख श्लोक वाला हो गया। महाभारत ग्रन्थ का सर्वप्रथम उल्लेख आश्वलायन गृह्यसूत्र में हुआ है।[७२] भारत के वर्तमान रूप में परिबृंहण का कार्य उपाख्यानों के जोड़ने से ही निष्पन्न हुआ है। इन उपाख्यानों में कुछ तो प्राचीन ऋषि तथा राजाओं के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण घटना प्रधान हैं, कतिपय ऐतिहासिक होने से प्राचीन इतिहास की अमूल्य निधि हैं, कतिपय तत्कालीन लोक-कथा के ही साहित्यिक संस्करण हैं और इस दृष्टि से इनकी तुलना जातकों के साथ की जा सकती है। अध्यात्म, धर्म तथा नीति की विशद विवेचना ने इस महाभारत को भारतीय धर्म तथा संस्कृति का विशाल 'विश्वकोष' बनाने में कुछ उठा नहीं रखा। डा. सुखठणकर का मत है कि "भृगुवंशी ब्राह्मणों के द्वारा किये गये सम्पादनों का ही फल महाभारत का वर्तमान वृद्धिगत रूप है।"[७३]

महाभारत का रचनाकाल- महाभारत को लेखबद्ध कब किया गया इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। महाभारत का स्वरूप १८ पर्वों का न होकर हरिवंश से से संयुक्त करने पर ही सिद्ध होता है। परिशिष्ट होने से हरिवंश भी महाभारत का अविभाज्य अंग माना जाता है और इन दोनों को मिलाने पर ही एक लााख श्लोक की संख्या निर्णीत होती है। महाभारत के रचनाकाल के सन्दर्भ में निम्नलिखित मत दिये जाते हैं-[७४]

१. अठारह पर्वों का यह ग्रन्थ हरिवंश सहित संवत् ५३५ और ६३५ के बीच जावा तथा बाली द्वीपों में विद्यमान थे। कविभाषा में अनूदित समग्र ग्रन्थ के आठ पर्व- आदि, विराट, उद्योग, भीष्म, आश्रमवासी, मुसल, प्रस्थानिक और स्वर्गारोहण, बाली में इस समय उपलब्ध हैं और कुछ प्रकाशित भी हुए हैं। अनुवाद के बीच-बीच में मूल श्लोक भी दिये गयें हैं, जो महाभारत के श्लोकों से मिलते हैं। फलतः ५३५ संवत से कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व भारत में महाभारत का वर्तमान स्वरूप अवश्य रहा होगा।

२. गुप्त शिलालेखों में एक शिलालेख (चेदि संवत् १९७ विक्रमी ५०२-४४५ई.) में महाभारत का

उल्लेख 'शतसाहस्त्री संहिता' अभिधान द्वारा किया गया है। अतः इस समय से दो सौ वर्ष पूर्व महाभारत का वर्तमान रूप में होना अनुमान सिद्ध है।

३. महाकवि अश्वघोष के 'वज्रसूची उपनिषद्' में हरिवंश के श्राद्ध[७४] महात्म्य में से 'सप्तव्याधा दशार्णेषु'[७५] इत्यादि श्लोक तथा महाभारत के ही अन्य श्लोक[७६] पाये जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रथम सदी से पूर्व हरिवंश को मिलाकर वर्तमान महाभारत प्रचलित था।

४. आश्वलायन गृह्यसूत्र[७७] में भारत और महाभारत का पृथक-पृथक उल्लेख किया गया है। बौधायन धर्मसूत्र[७८] के एक स्थान पर महाभारत में वर्णित ययाति उपाख्यान का एक श्लोक मिलता है[७९] तथा बौधायन गृह्यसूत्र में 'विष्णु सहस्त्रनाम'[८०] का स्पष्ट उल्लेख तो किया ही गया है साथ ही साथ इसमें गीता का ''पत्रं पुष्पं फलं तोयं''[८१] श्लोक उद्धृत है। बूलर ने विभिन्न प्रमाणों के माध्यम से यह सिद्ध कर दिया है कि बौधायन इस्वी सन् से लगभग चार सौ वर्ष पहले हुये थे। अतः महाभारत का वर्तमान रूप इससे भी पहले अवश्य बन चुका होगा।

५. महाभारत में जहाँ विष्णु के अवतारों का वर्णन किया गया है वहाँ बुद्ध का नाम तक नहीं है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान[८२] में विष्णु के दस अवतारों में हंस को प्रथम अवतार माना गया है और बुद्ध का उल्लेख न कर 'कल्कि' का निर्देश कृष्ण के तुरन्त बाद में किया गया है। फलतः बुद्ध से अनभिज्ञ महाभारत बुद्धपूर्व युग की निःसंदेह रचना है।

६. चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आने वाले यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने अपने भारत-विषयक ग्रन्थ में लिखा है कि हिरेक्लीज अपने मूलपुरुष डायोनिसस से पन्द्रहवाँ था और उसकी पूजा मथुरा के निवासी शौरसेनीय लोग आदर के साथ करते थे। यहाँ हिरेक्लीज से श्रीकृष्ण का ही बोध होता है जो महाभारत के अनुसार दक्ष प्रजापति से पन्द्रहवें पुरूष थे।[८३] इतना ही नहीं मेगस्थनीज ने विचित्र लोगों, कर्ण प्रावरण, एकपाद, ललाटाक्ष आदि- का और सोना निकालने वाली चीटिंयों का जो वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है वह महाभारत के ही आधार पर है। इससे स्पष्ट है कि मेगस्थनीज केवल महाभारत से ही परिचित नहीं था अपितु उस युग में प्रचलित कृष्ण-चरित तथा कृष्णपूजा से भी अवगत था।

इन प्रमाणों के साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है महाभारत की रचना छठी अथवा पाँचवी सदी ई.पू. मे हुयी थी। चूँकि रामायण का रचना काल लगभग ६०० ई.पू. माना जाता है महाभारत इसके बाद की रचना है अतः यहाँ यही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महाभारत की रचना ६०० ई.पू. के बाद हुयी होगी। मैकडानल्ड महोदय का मत है कि यह रचना ५०० ई.पू. के लगभग हुयी थी।[८४] विण्टरनिज इसका रचनाकाल ४००ई.पू. के लगभग मानते हैं।

परन्तु समय-समय पर महाभारत में अनेकानेक क्षेपक जुड़ते रहे और इस प्रकार उसका कलेवर बढ़ता रहा। आज इसमें एक लाख श्लोक हैं। परन्तु मैकडानल्ड के अनुसार मूल महाभारत में केवल २०,००० श्लोक थे। अब प्रश्न यह होता है कि महाभारत का वर्तमान रूप कब बनकर तैयार हुआ।

लगभग ७०० ई.पू. में कुमारिल ने महाभारत का एक महान स्मृति के रूप में उल्लेख किया है।[८५] बाण उसे एक उत्तम काव्यकृति बताते हैं।[८६] कम्बोडिया में प्राप्त लगभग ६०० ई. का एक अभिलेख महाभारत का एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख करता है। इस महाकाव्य में बौद्ध धर्म विषयक अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। छठी और पाँचवी शताब्दियों के अनेक भारतीय अभिलेखों में भी महाभारत का उल्लेख मिलता है। ऐसे ही अनेक साहित्यिक तथा अभिलेख सम्बन्धी साक्ष्यों के आधार पर आर.जी. भण्डारकर ने यह सिद्ध किया था कि ५०० ई.पू. तक महाभारत एक प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ माना जाता था। वर्तमान रूप में महाभारत में यूनानियों, शकों, पहलवो, आदि विदेशी जातियों का वर्णन मिलता है। उसमें विष्णु और शिव की उपासना का उल्लेख है। अनेक स्थानों पर मन्दिरों और स्तूपों का वर्णन है। इन आधारों पर मैकडानल्ड महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस महाकाव्य का परिवर्धन ३०० ई.पू. और १०० ई. के बीच हुआ था। डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार महाभारत पतंजलि के महाभाष्य (ई.पू. दूसरी शताब्दी) तक पूर्ण हो चुका था।[८८] मुकर्जी महोदय का यह मत अपेक्षाकृत अधिक तर्कसंगत लगता है।

ग्रन्थ परिचय- वर्तमान महाभारत में १९२३ अध्याय और ९६२४४ श्लोक हैं, जिसमें हरिवंश के खिल पर्व के १२००० श्लोक सम्मिलित हैं। इसमें १८ पर्व और १०० पर्वाध्याय हैं। महाभारत के खण्डों को पर्व का नाम दिया गया है ये संख्या में अठारह है- १.आदि २.सभा ३.वन ४.विराट ५.उद्योग ६.भीष्म ७.द्रोण ८.कर्ण ९.शल्य १०.सौप्तिक ११.स्त्री १२.शान्ति १३.अनुशासन १४.अश्वमेध १५.आश्रमवासी १६.मौसल १७.महाप्रस्थानिक १८.स्वर्गारोहण। इन विभिन्न पर्वों की कथा निम्नवत है-

आदिपर्व में चन्द्रवंश का विस्तृत इतिहास तथा कौरव-पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभापर्व में द्यूतक्रीड़ा, वनपर्व में पाण्डवों का वनवास, विराटपर्व में पाण्डवों का अज्ञातवास, उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण का दूत बनकर कौरवों की सभा में जाना तथा शान्ति का उद्योग करना, भीष्मपर्व में अर्जुन को गीता का उपदेश, युद्ध का आरम्भ, भीष्म का युद्ध और शरशय्या पर पड़ना, द्रोण पर्व में अभिमन्यु वध, द्रोणाचार्य का युद्ध और वध, कर्ण पर्व में कर्ण का युद्ध और वध, शल्यपर्व में शल्य की अध्यक्षता में लड़ाई और अन्त में वध, सौप्तिक पर्व में पाण्डवों के सोये हुये पुत्रों का रात में अश्वत्थामा द्वारा वध, स्त्रीपर्व में स्त्रियों का विलाप, शान्तिपर्व में भीष्म पितामह का युधिष्ठिर को मोक्षधर्म तथा राजधर्म का उपदेश, अनुशासन पर्व में धर्म तथा नीति की कथायें, अश्वमेध पर्व में युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ करना, आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र, गान्धारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना, मौसलपर्व में यादवों का मूसल के द्वारा नाश, महाप्रस्थानिक पर्व में पाण्डवों की हिमालय यात्रा तथा स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग जाना वर्णित है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान रूप में सम्पूर्ण रामायण और महाभारत किसी एक व्यक्ति अथवा एक काल की रचनायें नहीं है। भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न कालों में इन महाकाव्यों के मूल का परिवर्धन करते रहे। इनके अन्तर्गत मुख्य कथा, वर्णनात्मक अंश तथा

शिक्षात्मक सामग्री आती है। मुख्य कथा के बीच-बीच में अनेक मिथक आये हैं। अतः जब हम महाकाव्य कालीन सभ्यता का नाम लेते हैं तो इससे किसी काल विशेष की सभ्यता का बोध नहीं होता। इससे केवल इन दोनों महाकव्यों में चित्रित सभ्यता का ही अर्थ लेना चाहिये। यह सभ्यता भिन्न-भिन्न कालों की सभ्यता है। कभी-कभी तो ये महाकाव्य आदि मानवीय सभ्यता को लेकर उसका क्रमिक विकास उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर हाप्किन महोदय ने कहा है कि इनमें सामाजिक अवस्थाओं का जो वर्णन है वह स्पष्टतया भिन्न-भिन्न तिथियों का है। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि इन दोनों महाकाव्यों में वर्णित अवस्थायें एवं विचार धारायें बहुत कुछ समान रूप हैं।

महाभारत में कुछ उपख्यान अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा शिक्षाप्रद भी हैं ये निम्नलिखित हैं-

१. शकुन्तलोपाख्यान- इस उपख्यान में दुष्यन्त और शकुन्तला की मनोहर कथा है। महाकवि ने अभिज्ञान शाकुन्तल के कथानक को महाभारत से ही लिया है।[८९]

२. मत्स्योपाख्यान- यह कथा वनपर्व में है इसमें मत्स्यावतार की कथा है जिसमें प्रलय उपस्थित होने पर मत्स्य के द्वारा मनु को बचाये जाने का विवरण है। यह कथा शतपथ ब्राह्मण में भी मिलती है। तथा भारत से भिन्न देशों का इतिहास भी इसमें मिलता है।

३. रामोपाख्यान- यह कथा वनपर्व के १८ अध्यायों में वर्णित है।[९०] व्यास जी ने वाल्मीकि रामायण के अनुसार ही यह उपख्यान नहीं रचा प्रत्युत रामायण के पद्यों का भी अनुकरण किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि महाभारत का रचयिता वाल्मीकि रामायण और उसके कथानक से परिचित था।

४. शिवि उपाख्यान- यह कथा भी वन पर्व में है जिसमें उशीनर के पुत्र राजा शिवि ने अपनेप्राण देकर शरण में आये कपोत की रक्षा बाज से की थी।[९१]

५. सावित्री उपाख्यान- भारतीय ललनाओं के लिये सावित्री की कथा एक आदर्श कथा है। महाराजा द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान तथा सावित्री का उपाख्यान पति व्रत धर्म की पराकाष्ठा है। ऐसी सुन्दर कथा अन्य साहित्य में उपलब्ध नहीं होती।[९२]

६. नलोपाख्यान- यह कथा भी वनपर्व में है। इससे नल दमयन्ती की प्रेम कथा है।[९३] श्री हर्ष द्वारा रचित नैषधचरित महाकाव्य में महाभारत से कथानक लिया गया है।

इन उपाख्यानों के अतिरिक्त हरिवशं पर्व को भी महाभारत का अंश माना जाता है, इसमें १६३४७ श्लोक हैं। इसमें कृष्ण के वंश की कथा विस्तार से कही गयी है। इसमें प्रारम्भ में सृष्टि का वर्णन, राजा पृथु की कथा, विश्वामित्र-वसिष्ठ का आख्यान, अन्त्येष्टि, श्राद्ध के नियम पशुओं की बोली, चन्द्रवंशीय राजाओं का वर्णन, पुरूरवा-उर्वशी की प्रेम कथा आदि वर्णित है।[९४]

विष्णु पर्व भी इस ग्रन्थ का विस्तृत और मनोहर भाग है। इसमें कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन है किन्तु इसकी कथायें श्रीमद्‌भागवत से कहीं-कहीं पृथक प्रतीत होती है। इसमें

कृष्ण के पुत्र पद्युम्न का जन्म, शंबर द्वारा हरण, समुद्र में उसकी प्राप्ति, मायावती के साथ उसका विवाह, वज्रनाभ दैत्य की कथा तथा प्रभावती के साथ प्रद्युम्न के विवाह की कथा रोचक है।[९५] इसमें बाणासुर की कन्या ऊषा का अनिरूद्ध के साथ विवाह तथा हरात्मकस्तव भी हैं।[९६] इसमें विष्णु और शिव को एक ही अभिन्न देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

महाभारत में भविष्यपर्व भी है, इसमें भविष्य में होने वाली घटनाओं का वर्णन है। जनमेजय द्वारा निहित यज्ञों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है।[९७] इसमें विष्णु के वाराह, नरसिंह और वामन अवतारों की कथा है तथा विष्णु एवं शिव पूजा का समन्वय भी है। शिव के दो उपासकों हंस और डिम्भक की कथा भी इसमें है। ये दोनों कृष्ण से पराजित होते हैं।

डा० सुखठणकर के अनुसार महाभारत की टीका अनन्त भट्ट, अर्जुन मिश्र, आनन्द चतुर्भुज मिश्र, जगदीश चक्रवर्ती, देवबोध, नीलकंठ, महानन्दपूर्ण, यज्ञनारायण, रत्नगर्भ, रामकिंकर, रामकृष्ण, रामानुज, लक्ष्मण, वरद, वादिराज, विद्यासागर, विमलबोध, शंकराचार्य, श्रीनिवास, सर्वज्ञ नारायण, सृष्टि धर आदि विद्धानों नें लिखी है। इनमें देवबोध, विमलबोध, नारायणसर्वज्ञ आदि की टीकायें बहुत अच्छी हैं।

महाभारत की समीक्षा– यदि समीक्षा की दृष्टि से महाभारत की समीक्षा की जाय तो महाभारत विविध विषयों वाला ग्रन्थ हैं। यह केवल युद्धों का ही विवरण नही है बल्कि जीवन को नश्वर बताकर प्राणियों को मोक्ष की ओर अग्रसर करता है इसलिये यह ग्रन्थ मूलरूप से शान्तरस वाला ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में जहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य है, वहीं इतिहास की गौरवमयी गाथा भी है। यह ग्रन्थ धर्मग्रन्थ भी है इसमें राजनीति की भी चर्चा है इसमें राजा और प्रजा के कर्तव्यों का बोध कराया गया है। इस ग्रन्थ में कर्म, ज्ञान और भक्ति का अनूठा संगम हैं। व्यासजी का कथन है कि इस आख्यान को जाने विना जो पुरूष वेदांग तथा उपनिषदों को भले ही जनता हो वह पुरूष कभी भी विलक्षण नहीं कहा जा सकता।

''यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदो द्विजः। न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः।।[९८]

महाभारत जहाँ एक महत्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ है वहीं यह अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्र भी है।

''अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिंद महत्। कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितुबुद्धिना।।[९९]

इसमें काव्य के भी सभी गुण मौजूद हैं इसमें कहीं कोयल की मधुर कूक और कहीं कौवे की नीरस आवाज भी है, यथा–

श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते। पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रुक्षा ध्वां ध्वांक्षस्य वागिन।।''[१००]

महाभारत की प्रशंसा करते हुये स्वयं व्यास ने ग्रन्थ को कविजनों के लिये उपजीव्य माना है और यह बात बिल्कुल सत्य प्रतीत होती है, यथा–

''इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कवि बुद्धयः। पंचम्य इव भूतोभ्यो लोक संविधय स्त्रयः।।
इदं कविवरैः सर्वेराख्यान मुपजीव्यते। उदय प्रेप्सुभिर्भृत्यैर भिज्ञात माहेश्वरः।।''[१०१]

इस ग्रन्थ में कुछ ऐसे श्लोक दिये गये हैं जो हमारे जीवन में आदर्श बन गये हैं उन्होने धर्म एवं संस्कृति को प्राण की संज्ञा दी है और यह माना है कि धर्म से राष्ट्र का उत्थान होता है-

''ना जातु कामान्न गायान्नलोभाद धर्म त्येज्जी वितस्यापि हेतोः।

धर्मोनित्यः सुख-दुखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुररय त्वनित्यः।।''

वेद व्यास कर्म के आचार्य थे उनका विश्वास था कि यदि व्यक्ति कर्म नही करता तो उसका उत्थान भी नहीं हो सकता

प्रकाश-लक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणः।[१०२]

महाभारत में व्यास जी ने राष्ट्रीय भावनाओं का भी वर्णन किया है। राजा को दुर्गुणों से मुक्त होना चाहिये तथा जनता को लाभ पहुँचाने वाला होना चाहिये। यदि राजा प्रजा का पालन नहीं करेगा तो अराजकता फैलेगी और राष्ट्र तथा समाज का सर्वनाश हो जायेगा।

राजमूलो महाप्राज्ञ! धर्मो लोकस्य लक्ष्यते। प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्।

मज्जेद् धर्मस्त्रयी न स्याद् यदि राजा न पालयेत।।''[१०३]

महाभारत में जहाँ धर्म उपदेशों, यज्ञों, संस्कारों, का वर्णन मिलता है वहीं पर दान का भी विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। वाल्मीकि की तरह व्यास ने भी दान को धर्म का अंग माना है तथा दान दाता को प्रतिष्ठित व्यक्ति, देवताओं का प्रिय तथा मोक्ष प्राप्त करनेवाला कहा है।

महाभारत में दान के प्रसंग- महाभारत वाल्मीकि रामायण के पश्चात् अतिप्राचीनतम् महाकाव्य और धर्मग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में भारत की अति प्राचीन परम्पराओं के अनुसार धर्म को परिभाषित किया गया है तथा धर्म को चार भागों में विभाजित किया गया है। धर्म के ये विभाग यज्ञ, तप, ज्ञान और दान हैं। वेद और धर्मग्रन्थों में दानों की जो कोटियाँ बतलायी गयी हैं, उन्हीं का अनुसरण महाभारत में भी किया गया है। दान की जो भी कोटियाँ धर्म ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं उन सबका उल्लेख महाभारत में है। महाभारत के दान प्रसंग निम्नलिखित हैं-

प्रसंग १. भृगु के पुत्र का नाम प्रमति था और प्रमति के पुत्र का नाम रुरु था उसी समय गन्धर्व राज विश्वावसु ने मेनका के गर्भ से एक सन्तान उत्पन्न की जिसे उसने स्थूलकेश ऋषि के आश्रम के निकट जन्म दिया उसे वह वहीं छोड़कर चली गयी। स्थूलकेश ऋषि ने उस सन्तान का पालन पोषण किया तथा उसका नाम प्रमद्वरा रख। एक दिन रुरु उनके आश्रम में आये तथा वे उस कन्या के रूप सौन्दर्य पर मोहित हो गये। अपने वंश का परिचय देने के पश्चात् रुरु ने स्थूलकेश से उस कन्या को माँगा और स्थूलकेश ने कन्या का विवाह रुरु के साथ करने का निश्चय किया, जब विवाह का समय निकट आया तो कन्या का पैर एक सर्प के ऊपर पड़ गया जिससे वह मुर्छित हो गयी तथा भूमि पर गिर पड़ी। उसे देखने के लिये स्थूलकेश के अतिरिक्त स्वस्त्यात्रेय, महाजानु, कुशिक, शंखमेखल, उद्दालक, कठ, महायशस्वी श्वेत भरद्वाज, कौणकुत्स्य, आर्ष्टिषेण गौतम ऋषि वहाँ आये। उन्होने कन्या के बेहोश होने पर दुख प्रकट किया। रुरु भी दुखी हुये तभी एक देवदूत आया उसने रुरु से कहा यदि तुम आधी आयु प्रमद्वरा को दे दो तो प्रमद्वरा

जीवित हो जायेगी। रुरु ने प्रमद्वरा को अपनी आधी उम्र दे दी और प्रमद्वरा जीवित हो गयी तथा रुरु साँप का शत्रु बन गया और उसका विवाह प्रमद्वरा से हो गया।

''ततः प्रादात् पिता कन्यां रुरवे तां प्रमद्वराम्। विवाहं स्थापयित्वाग्रे नक्षत्रे भगदैवते।।''[१०४]

''यदि दत्त तपस्तप्तं गुरवो वा मया यदि। सम्यगाराधितास्तेन सँजीवतु मम् प्रिया।।

आयुषोऽर्ध प्रयच्छामि कन्यायै स्वेचरोत्तम्। श्रंगाररूपा भरणा समुत्तिष्ठतु में प्रिया।।''[१०५]

इसमें दाता स्थूलकेश व रुरु, ग्रहीता रुरु व प्रमद्वरा, देयवस्तु वचन और आयु तथा दान की कोटि वाग्दान।

प्रसंग २. जव राजा परीक्षित को तक्षक नाग ने डस लिया उस समय उनके पुत्र जनमेजय ने नागों के विनाश के लिये यज्ञ किया। इस यज्ञ में अनेक नाग आकर भस्म हो गये। इस यज्ञ मे जो ऋत्विज और सदस्य पधारे थे उन सबको राजा जनमेजय ने सैकड़ो और सहस्त्रों की संख्या में धन दान दिया।

''ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो ये तत्रासन् समागताः। तेभ्यश्च प्रददौ वित्तं शतशोऽथ सहस्त्रशः।।''[१०६]

इसमें दाता जनमेजय, ग्रहीता ब्राह्मण पुरोहित आदि, देयवस्तु धन, दान की कोटि धनदान।

प्रसंग ३. कुरुवंशी राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत भूमण्डल में विख्यात प्रतापी एवं चक्रवर्ती सम्राट थे उन्होंने अनेक यज्ञ किये। इसके बाद उन्होंने कण्व से गोवितत नामक अश्वमेध यज्ञ कराया इसमें कण्व को एक सहस्त्र पद्म स्वर्णमुद्रायें दक्षिणा के रूप में प्राप्त हुयीं।

''याजयामास तं कण्वो विधिवद् भूरिदक्षिणम्। श्रीमान् गोवितितं नाम वाजिमेधमवाप सः।
यस्मिन सहस्त्रं पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ।।''[१०७]

इसमें दाता भरत, ग्रहीता कण्व ऋषि, देयवस्तु स्वर्णमुद्रा, दान की कोटि दक्षिणा दान।

प्रसंग ४. कच ऋषि ने संजीवनी विद्या सीख ली थी तथा वह विद्या प्राप्त कर वे चैत्ररथ वन की ओर आये। यहाँ पर एक सरोवर में कन्यायें जलक्रीड़ा कर रहीं थीं। इन्द्र ने तेज हवा चलायी जिससे सभी लड़कियों के वस्त्र एक दूसरे के वस्त्रों से मिल गये। वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने धोखे से देवयानी के वस्त्र ले लिये, इससे शर्मिष्ठा और देवयानी में झगड़ा हो गया। शर्मिष्ठा देवयानी की नौकरानी थी। शर्मिष्ठा ने कहा कि एक समय था कि तेरा पिता भी मेरे पिता की सेवा करता था, तू भीख माँगने वाले की बेटी है और मैं उसकी बेटी हूँ जिसकी सभी स्तुति करते हैं। इस पर देवयानी ने कहा ''जबान संभालकर बोल भिखमंगी'' इससे शर्मिष्ठा को और क्रोध आ गया उसने अपनी सखी से कहा कि यदि मैं दान लेने वाले की बेटी हूँ तो मैं शर्मिष्ठा की सेवा करूँगी। शर्मिष्ठा ने क्रोध में आकर देवयानी को कुयें में ढकेल दिया इस पर देवयानी के पिता ने कहा कि ब्रह्मा जी ने मुझे वरदान दिया था, मैं अपने तप के प्रभाव से योग्य बना हूँ। मेरी विद्या द्वन्द रहित है मुझमें दीनता, शठता, कुटिलता नहीं है, मैंने अपने क्रोध को वश में किया है जो व्यक्ति क्रोध रोक लेता है, निन्दा सह लेता है, वह सब पुरुषार्थों का सुदृढ़ पात्र है, इसलिये जो क्रोध का त्याग

और क्षमादान करता है वह श्रेष्ठ पुरुष है।

"यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयेह निरस्यति। यथोरगस्त्वचं जीर्णा स वै पुरुष उच्यते।।"[१०८]

इसमें दाता शुक्राचार्य, ग्रहीता देवयानी, देयवस्तु सद्वचन, दान की कोटि ज्ञान दान।

प्रसंग ५. शर्मिष्ठा ने राजा ययाति से कहा जब देवयानी का विवाह आपसे हो गया। उसी समय मैंने भी आपको अपना पति मान लिया था। अतः मैं आपसे ऋतुदान की याचना करती हूँ। शर्मिष्ठा के कहने पर ययाति ने उसे अपनी पत्नी मान लिया, उसके साथ समागम किया और एक दूसरे का आदर सत्कार करने के बाद अपने-अपने स्थान को चले गये।

"रूपाभिजनशीलैर्हि त्वं राजन् वेत्थ मां सदा। सा त्वां याचे प्रसाद्याहमृतुं देहि नराधिप।।

स समागम्य शर्मिष्ठां यथाकाममवाप्य च। अन्योन्यं चाभिसम्पूज्य जग्म तुस्तौ यथागतम्।।"[१०९]

इसमें दाता ययाति, ग्रहीता शर्मिष्ठा, देयवस्तु वीर्य, दान की कोटि कामदान।

प्रसंग ६. इन्द्र ने ययाति से पूँछा के तुमने अपने पुत्र पुरु को क्या उपदेश दिये, उस पर उसने इन्द्र से बताया कि मैंने अपने पुत्र से कहा कि मनुष्य दीनता, शठता और क्रोध न करे। वह दुश्मनी मोल न ले, माता-पिता, विद्वान तपस्वी, क्षमाशील व्यक्ति का अपमान न करे। निर्धन धनवान से, अधार्मिक धार्मिक से ईर्ष्या करता है इसलिये निन्दा न करना, गाली न देना, क्रोध करके किसी के हृदय को चोट न पहुँचाना, कष्ट पाये व्यक्ति को और कष्ट न देना, सभी लोगों के प्रति दया और मैत्री का बर्ताव करना और दान देना ही धर्म है।

"तस्मात् सान्त्वं सदा वाच्यं न वाच्यं परुषं कचित्।

पूज्यान् सम्पूजयेद् दद्यान्न च याचेत् कदाचन्।।"[११०]

इसमें दाता ययाति, ग्रहीता पुरु, देय वस्तु सदवचन, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ७. जब अष्टक ने ययाति से पूँछा कि आप इच्छानुसार रूप धारण करके १० लाख वर्ष तक नन्दन वन में निवास कर चुके हैं, फिर क्या कारण है कि आप पृथ्वी तल पर आ गये, इस पर ययाति बोले जिस प्रकार से धर्म नष्ट हो जाने से स्वजन उसे त्याग देते हैं उसी प्रकार पुण्य नष्ट हो जाने पर देवता उसे त्याग देते हैं, इसी प्रकार मेरा पुण्य नष्ट हो गया है, इसलिये मैं यहाँ आया हूँ। अष्टक के पूँछने पर ययाति उन श्रेष्ठ कर्मों को बतलाते हैं जो मोक्ष के साधन हैं, वे बताते हैं कि तप, दान, सम दम, लज्जा, सरलता और समस्त प्राणियों के प्रति दया, यही स्वर्गलोक के सात दरवाजे हैं-

"तपश्च दानं च शमो दमश्च, ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा।

स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो, द्वाराणि सप्तैव महान्ति पुंसाम।

नश्यन्ति मानेन तमोऽभिभूताः, पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः।।"[१११]

इसमें दाता ययाति, ग्रहीता अष्टक, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञान दान।

प्रसंग ८. ययाति ने अष्टक को उपदेश देते हुए कहा कि व्यक्ति को अपने चारो आश्रम का पालन उचित ढंग से करना चाहिए। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति न्याय से प्राप्त धन को पाकर यज्ञ करे,

दान दे तथा सदा अतिथियों को भोजन कराये। दूसरे की वस्तु बिना उनके दिये ग्रहण न करे।

"धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत्, दद्यात् सदैवातिथीन भोजयेच्च।

अनाददानश्च परैरदत्तं, सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी।।"[११२]

इसमें दाता ययाति, ग्रहीता अष्टक, देयवस्तु उपदेश और दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ६. अष्टक ने ययाति से प्रश्न किया कि जो मार्ग आप हमें बतायेंगे, वही श्रेष्ठ मार्ग होगा किन्तु यह बतलाइये कि उशीनर के पुत्र को ब्रह्मलोक कैसे प्राप्त हुआ तथा उशीनर के पुत्र शिबि अकेले सबको पीछे छोड़कर आगे कैसे बढ़ गये? इस पर ययाति ने कहा कि उन्होंने ब्रह्मलोक प्राप्त करने के लिये सर्वस्व दान कर दिया। उनमें दान, तपस्या, सत्य, धर्म, श्री, क्षमा, सौम्य भाव तथा व्रतपालन की क्षमता थी।

"अददद् देवयानाय यावद् वित्तमविन्दत। उशीनरस्य पुत्रोऽयं तस्माच्छ्रेष्ठो हि वः शिबिः।।"[११३]

इसमें दाता शिवि, ग्रहीता दान के सभी पात्र, देयवस्तु सर्वस्व, दान की कोटि सर्वस्वदान।

प्रसंग १०. राजा ययाति नहुष के पुत्र और पुरु के पिता थे। वे इस लोक के चक्रवर्ती राजा थे। उन्होंने कई बार पृथ्वी को जीता और अन्न, वस्त्र, धन आदि ब्राह्मणों को दिये साथ ही सौ सुन्दर अश्व, सवारी, गौ, स्वर्ण, धन से परिपूर्ण सारी पृथ्वी ब्राह्मणों को दे दी तथा दस अरब गायों का भी दान किया।

"सर्वामिमां पृथिवीं निर्जिगाय, प्रादामहं द्वादनं ब्राह्मणेभ्यः।

मेध्यानश्वानेकशतान् सुरूपांस्तदां देवाः पुण्य भाजो भवन्ति।।

अदामहं पृथिवीं ब्राह्मणेभ्यः पूर्णामिमामखिलां बाहनेन।

गोभिः सुवर्णेन धनैश्च मुख्यैस्तदाददं गाः शतभर्वुदानि।।"[११४]

इसमें दाता ययाति, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु अन्न, वस्त्र, धन, अश्व, गौ, भूमि आदि, दान की कोटि भूमिदान, अन्नदान, वस्त्रदान, धनदान, गोदान।

प्रसंग ११. भीष्म विदुर से अपने कुल की प्रशंसा करते हुये कहते हैं कि हमारे कुल के राजाओं ने सदैव अच्छे कर्म किये है जब कभी कुल पर संकट उत्पन्न हुआ तो मैने, माता सत्यवती ने और महात्मा कृष्ण द्वैपायन व्यास ने मिलकर इस कुल को स्थापित किया है। पाण्डु, धृतराष्ट्र और विदुर ही इस कुल के कर्णधार हैं। मैं चाहता हूँ कि गान्धारराज सुबल की कन्या गन्धारी से धृतराष्ट्र का विवाह हो जाय क्योंकि गान्धारी शुभलक्षणा है। भगवान शिव की आराधना करके वह १०० पुत्रों का वरदान प्राप्त कर चुकी है इसलिये धृतराष्ट्र से उसका विवाह उत्तम है पहले सुबल ने धृतराष्ट्र के अन्धे होने के कारण विवाह पर ऐतराज किया लेकिन बाद में विवाह करने को राजी हो गया। वीरवर शकुनि ने अपनी बहन का विवाह धृतराष्ट्र के साथ कर दिया और यथायोग्य दहेज भी दिया।

"कुलं ख्यातिं च वृत्तं च बुद्ध्या तु प्रसमीक्ष्य सः।

ददौ तां धृतराष्ट्राय गान्धारीं धर्मचारिणीम।।"[११५]

इसमें दाता सुबल ग्रहीता धृतराष्ट्र देयवस्तु कन्यां दान की कोटि कन्यादान।

प्रसंग १२. एक दिन इन्द्र ब्राह्मण का वेश धारण करके कर्ण के पास भिक्षा माँगने आये, उन्होनें कर्ण से उनका कवच और कुण्डल माँगा। कर्ण ने जन्म से शरीर के साथ उत्पन्न हुये कवच को शरीर से उधेड़कर एवं दोनो कुण्डलों को काटकर दे दिया इसके पश्चात इन्द्र ने कर्ण से कहा कि जो वरदान तुम चाहो वो माँग लो। कर्ण ने इन्द्र से अमोघ बरछी माँगी जो शत्रु का नाश करने वाली हो। इन्द्र ने वह बरछी कर्ण को प्रदान की-

''तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षार्थी समुपागमत्। कुण्डले प्रार्थयामास कवचं च महाद्युतिः।।
स्वशरीरात् समुत्कृत्य कवचं स्वं निसर्गजम्। कर्णस्तु कुण्डले छित्वा प्रायच्छत् स कृतांजलिः।।
इच्छामि भगवद्दत्तां शक्तिं शत्रु निवर्हणीम। ददौ शक्तिं सुरपतिर्वाक्यं चेदमुवाच ह।।''[११६]

इसमें दाता कर्ण और इन्द्र, ग्रहीता इन्द्र और कर्ण, देय वस्तु कवच, कुण्डल, बरछी, दान की कोटि वस्तु दान।

प्रसंग १३. जब पाण्डु राज्य कार्य छोड़कर पत्नियों सहित वन जाने लगे तो पाण्डु ने अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र की आज्ञा से जीते हुये धन को भीष्म, सत्यवती, माता अम्बिका और अम्बालिका को भेंट किया, पाण्डु ने मित्रों तथा विदुर को भी धन दिया। पाण्डु के पराक्रम से धृतराष्ट्र ने बड़े-बड़े सौ अश्वमेध यज्ञ किये तथा प्रत्येक यज्ञ में दान के अतिरिक्त एक-एक लाख स्वर्ण मुद्रायें दक्षिणा में दीं।

''तस्य वीरस्य विक्रान्तैः सहस्त्रशतदक्षिणैः। अश्वमेधशतैरीजे धृतराष्ट्रो महामखैः।।''[११७]

इसमें दाता पाण्डु और धृतराष्ट्र, ग्रहीता परिजन तथा ब्राह्मण, देय वस्तु धन तथा स्वर्ण मुद्रायें, दान की कोटि-धन दान।

प्रसंग १४. जब पाण्डु की मृत्यु हो गयी और माद्री उनके साथ सती हो गयी उस समय धृतराष्ट्र ने निर्देश दिया कि इनका दाहसंस्कार शास्त्र के अनुसार कराया जाय तथा नाना प्रकार के पशु, अन्न, वस्तु, रस तथा धन दान में दिया जाय। यह सब कार्य यथावत सम्मन्न होने के बाद अन्त में भीष्म, विदुर, धृतराष्ट्र तथा पाण्डवों के सहित कुरुकुल की सभी स्त्रियों नें राजा पाण्डु के लिये जलांजलि दी। इसके बाद पाण्डु के लिये भीष्म आदि ने स्वधामय श्राद्व किया तथा समस्त कौरवों एवं मुख्य-मुख्य ब्राह्मणों को भोज़न कराकर उन्हे रत्नों के ढेर तथा उत्तम-उत्तम गाँव दिये।

''पशून् वासांसि रत्नानि धनानि विविधानि च।
पाण्डोः प्रयच्छ माद्रयाश्च येभ्यो यावच्च वांछितम्।।
यथा च कुन्ती सत्कारं कुर्यान्माद्र यास्तथा कुरु।
यथा न वायुर्नादित्यः पश्येतां तां सुसंवृताम्।।
ततो भीष्मोऽथ विदुरोराजा च सह पाण्डवैः।
उदकं चक्रिरे तस्य सर्वाश्च कुरुयोषितः।।
ततः कुन्ती च राजा च भीष्मश्च सह बन्धुभिः।

ददुः श्राद्धं तदा पाण्डोः स्वधामृतमयं तदा।।
कुरूंश्च विप्रमुख्यांश्च भोजयित्वा सहस्त्रशः।
रत्नौधन् विप्रमुख्येभ्यो दत्वा ग्रामवरांस्तथा।।"[११८]

इसमें दाता धृतराष्ट्र ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु पशु, अन्न, वस्तु, रस, धन, जल, रत्न तथा गाँव, दान की कोटि अन्त्येष्टि संस्कार दान।

प्रसंग १५. जब कौरव और पाण्डवों ने आचार्य द्रोणाचार्य से पूरी तरह शस्त्रविद्या सीख ली उस समय धृतराष्ट्र ने आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्य को स्वर्ण मणि रत्न, वस्त्र दक्षिणा के रूप में दिये, फिर सुखमय पुण्याहवाचन तथा दान होम आदि पुण्यकर्मो के अनन्तर नाना प्रकार की शस्त्र सामग्री लेकर बहुत से मनुष्यों ने उस रंगमण्डप में प्रवेश किया। इसके पश्चात् समस्त राजपुत्रों ने शस्त्र विद्या का प्रदर्शन रंग मण्डप में किया।

"सुवर्णमणिरत्नानि वस्त्राणि विविधानि च। प्रददौ दक्षिणां राजा द्रोणस्य च कृपस्य च।
सुख पुण्यार्हघोषस्य पुण्यस्य समनन्तरम्। विविशुर्विविधं गृह्य शस्त्रोपकरणं नराः।।"[११९]

इसमें दाता धृतराष्ट्र, ग्रहीता द्रोणाचार्य और कृपाचार्य, देयवस्तु स्वर्ण, मणि, रत्न, वस्त्र, दान की कोटि धन दान, वस्तु दान (दक्षिणा दान)।

प्रसंग १६. जब पाण्डव पांचाल देश की यात्रा कर रहे थे, उस समय चित्ररथ गन्धर्व के सैनिक वहाँ पहरा दे दहे थे उनमें से अगारपर्ण गन्धर्व क्रोधित हुआ उसने पाण्डवों पर बाणों की वर्षा की। अर्जुन ने अपने पराक्रम से गन्धर्व को रथहीन करके उसके रथ को जलाकर भस्म कर दिया, इससे गन्धर्व व्याकुल होकर अचेत हो गया, उस समय उसकी पत्नी कुम्भीनसी ने युधिष्ठिर की शरण ली। युधिष्ठिर ने अर्जुन को निर्देश दिया कि गन्धर्व अंगारपर्ण को छोड़ दो, इसके पश्चात् गन्धर्व ने अपनी जीवनरक्षा के बदले में विद्या, धन तथा शास्त्र प्रदान करना चाहा लेकिन अर्जुन ने उसे स्वीकार नहीं किया। बहुत अनुनय विनय करने पर अर्जुन ने उससे चाक्षुषी विद्या भेंट में ग्रहण करली तथा अर्जुन ने उसे बदले में आग्नेय अस्त्र की विद्या प्रदान की ।

"जीवितं प्रतिपद्यस्व गच्छ गन्धर्व मा शुचः। प्रदिशत्यभयं तेऽद्य कुरुराजो युधिष्ठिरः।।
संयोगो वै प्रीतिकरो महत्सु प्रतिदृदश्यते। जीवितस्य प्रदानेन प्रीतो विद्यां ददामि ते।।
त्वत्तोऽप्यहं ग्रहीष्यामि अस्त्रमाग्नेय मुत्तमम। तथैव योग्यं वीभत्सो चिराय भरतर्षम।।"[१२०]

इसमें दाता युधिष्ठिर, अंगारपर्ण, अर्जुन, ग्रहीता अंगारपर्ण, अर्जुन, देय वस्तु प्राण, आयुध, दान की कोटि-प्राण दान, वस्तु दान।

प्रसंग १७. सूर्य की दो कन्याये थीं सावित्री और तपती। सूर्य की पुत्री तपती के सौन्दर्य को देखकर महाराज ऋक्ष के पुत्र राजा संवरण, जो कुरू वंश के थे, काम के वशीभूत हो गये। तपती से उनकी मुलाकात वन में हुयी थी इसी समय तपती के अदृश्य हो जाने पर राजा संवरण बेहोश हो गये, उन्होंने वसिष्ठ का आवाहन किया। वसिष्ठ ने संवरण की पीड़ा को देखकर सूर्य की पुत्री तपती को सूर्य से राजा संवरण के लिये माँग लिया तथा वसिष्ठ ने सूर्य की पुत्री तपती का विवाह

राजा संवरण से करा दिया।

- "स्वद्दर्शनसमुभ्दूतं विध्यन्तं दुस्सहैः शरैः। उपशामय कल्याणि आत्मदानेन भाविनि।।

ततस्तस्मिन् गिरिश्रेष्ठे देवगन्धर्वसेविते। जग्राह विधिवत् पाणिं तपत्याः स नरर्षभः।।"[१२१]

इसमें दाता सूर्य व तपती, याचक संवरण, देयवस्तु काम, कन्या, दान की कोटि कामदान व कन्यादान।

प्रसंग १८. पाण्डव हस्तिनापुर में प्रवेश करते हैं तथा आधा राज्य उत्तराधिकार में प्राप्त करके इन्द्रप्रस्थ नगर का निर्माण करवाते हैं, इसी समय युधिष्ठिर का राजतिलक होता है, राजतिलक के अवसर पर राजा द्रुपद ने पांण्डवों को हस्तिनापुर जाते समय एक हजार हाथी, एक हजार रथ, एक हजार दास, बहुत से पलंग, आसन पात्र, द्रव्य, गायें, पाण्डवों को दिया। उसके पश्चात् धृतराष्ट्र ने विदुर को आज्ञा दी कि युधिष्ठिर का राजतिलक किया जाय, इस अवसर पर युधिष्ठिर ने अक्षय धन का दान दिया।

"जयेति संस्तुतो राजा प्रददौ धनमक्षयम्। सर्वमूर्धावसिक्तैश्च पूजितः कुरुनन्दनः।।"[१२२]

इसमें दाता युधिष्ठिर, ग्रहीता ब्राह्मण, देय वस्तु धन, दान की कोटि धन दान।

प्रसंग १९. नारद जी के कहने पर पाण्डवों ने द्रोपदी के सन्दर्भ में यह नियम बनाया था कि हम में से प्रत्येक के घर में पापरहित द्रोपदी एक-एक वर्ष निवास करे। द्रोपदी के साथ एकान्त में बैठे हुए हममें से एक भाई को यदि दूसरा देख ले तो वह बारह वर्षों तक ब्रह्मचर्य पूर्वक वन में निवास करे। एक बार जब युधिष्ठिर और द्रोपदी एकान्त में बैठे हुए थे तो एक ब्राह्मण की रक्षा के लिये अर्जुन उसी कक्ष में अपना तरकश और धनुष लेने पहुँच गये, अपने द्वारा नियम का उल्लंघन होने पर युधिष्ठिर से उन्होंने वन जाने की आज्ञा प्राप्त कर वन चले गये। अर्जुन ने गंगाद्वार (हरिद्वार) में पहुँच कर डेरा जमाया। गंगाद्वार पहुँचकर जैसे ही अर्जुन ने स्नान करना चाहा उसी समय नाग कन्या उलूपी, जो ऐरावत नाग के कुल में उत्पन्न हुयी थी तथा कौरव्य नाग की पुत्री थी। वह अर्जुन को देखकर मोहित हो गयी तथा उससे कामदान की याचना की। इसके लिये वह अर्जुन को राजमहल ले गयी और कहा कि मुझे आत्मदान देकर आनन्दित कीजिये, इस समय मैं अपने वश में नहीं हूँ। अर्जुन ने कहा कि मुझे १२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिये कहा गया है, इस पर उलूपी बोली कि यदि आप मेरे साथ भोग नहीं करेंगे तो मैं जीवित नहीं रहूँगी। उलूपी की वेदना से द्रवित होकर अर्जुन ने धर्म को सामने रख उसकी कामेच्छा पूरी की। इस प्रकार अर्जुन ने उलूपी को कामदान दिया।

"साहं शरणमभ्येमि रोरवीमि च दुःखिता।

याचे त्वां चाभिकामाहं तस्मात् कुरु मम प्रियम्। स त्वमात्मप्रदानेन सकामां कर्तुमर्हसि।।

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पन्नगेश्वरकन्यया। कृतवांस्तत् तथा सर्व धर्ममुद्दिश्य कारणम।।"[१२३]

इसमें दाता अर्जुन, ग्रहीता उलूपी, देयवस्तु काम, दान की कोटि कामदान।

प्रसंग २०. गंगाद्वार से अर्जुन हिमालय की ओर चले गये, यहाँ अनेक ब्राह्मण तप करने के

लियें निवास करते थे, यह क्षेत्र अगस्त्यवट तथा वसिष्ठ पर्वत के नाम से विख्यात था। यहाँ पर रहने वाले ब्राह्मणों को अर्जुन ने कई हजार गौयें दान में दीं और द्विजातियों के रहने के लिये घर एवं आश्रम बनवा दिये।

"प्रददौ गोसहस्त्राणि सुबहूनि च भारत। निवेशांश्च द्विजातिभ्यः सोऽददत् कुरुसत्तमः।।"[१२४]

इसके पश्चात् अर्जुन ने हिरण्यविन्दुतीर्थ, नैमिषारण्य, अंग, बंग, कलिंग आदि तीर्थों की यात्रा की और वहाँ दान दिया।

"ददृष्ट्वा च विधिवत् तानि धनं चापि ददौ ततः।
कलिंगराष्ट्रद्वारेषु ब्राह्मणाः पाण्डवानुगाः। अभ्यनुज्ञाय कौन्तेय मुषावर्तन्त भारत।।"[१२५]

इसमें दाता अर्जुन, ग्रहीता ब्राह्मण, देय वस्तु गाय, भूमि, धन, दान की कोटि भूमिदान,वस्तुदान, गोदान।

प्रसंग २१. जब अर्जुन द्वारिकापुरी पहुँचे उस समय अन्धकवंश के लोगों द्वारा रैवतक पर्वत में बड़ा भारी उत्सव मनाया गया, इस उत्सव में भोज का आयोजन किया गया तथा भोज, वृष्णि और अन्धकवंश के वीरों ने सहस्त्रों ब्राह्मणों को दान दिया।

"तत्र दानं ददुर्वीरा ब्राह्मणेभ्यः सहस्त्रशः। भोजवृष्ण्यन्धकाश्चैव महे तस्य गिरेस्तदा।।"[१२६]

इसमें दाता भोज, वृष्णि, अन्धकवंश के वीर, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु धन, वस्त्र आदि, दान की कोटि वस्तु दान, धन दान।

प्रसंग २२. अर्जुन की पत्नी एवं कृष्ण की बहिन सुभद्रा के गर्भ से अभिमन्यु का जन्म हुआ। उसके गुणों के अनुसार उसका नाम अभिमन्यु (क्रुद्ध होकर लड़ने वाला) रखा गया। उसके जन्मोत्सव एवं नामकरण के अवसर पर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने दस हजार गायें तथा बहुत सी स्वर्णमुद्रायें दान में दीं।

"यस्मिनजाते महातेजाः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः। अयुतं गा द्विजातिभ्यः प्रादान्निष्कांश्च भारत।।"[१२७]

इसमें दाता युधिष्ठिर, ग्रहीता ब्राह्मण, देय वस्तु गाय, स्वर्ण मुद्रा, दान की कोटि गोदान, वस्तु दान।

प्रसंग २३. खाण्डवप्रस्थ में अग्निदेव को प्रसन्न करने के लिये आग लगा दी गयी थी, जिस कारण वहाँ सब कुछ नष्ट हो गया था किन्तु मय दानव को अर्जुन ने नष्ट होन से बचा लिया था। इसलिये उस वास्तुकार ने अर्जुन के लिये भी कुछ वास्तु शिल्प निर्माण करने की इच्छा प्रकट की। इसलिये भगवान कृष्ण की इच्छानुसार मय दानव को सभा भवन बनाने की आज्ञा प्रदान की गई, उसके लिये पवित्र मुहूर्त में भूमि पूजन किया गया तथा इस अवसर पर मय दानव ने श्रेष्ठ ब्राह्मणों को खीर खिलाकर तृप्त किया तथा उन्हें अनेक प्रकार का धन दान किया। सभा भवन के लिये १० हजार हाथ लम्बी और १० हजार हाथ चौड़ी भूमि का चुनाव किया गया।

"तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठान् पायसेन सहस्त्रशः। धनं बहुविधं दत्वा तेभ्य एव च वीर्यवान्।।"[१२८]

इसमें दाता मय दानव, ग्रहीता ब्राह्मण, देयं वस्तु अन्न, धन, दान की कोटि अन्नदान,

धन दान।

प्रसंग २४. मय दानव द्वारा सभाभवन का निर्माण किये जाने के पश्चात् उसमें प्रवेश करने के लिये शुभ मुहूर्त में यज्ञ किया गया। इस अवसर पर युधिष्ठिर ने घी और मधु मिली हुयी खीर, खिचड़ी, जीवन्तिका के साग, सब प्रकार के हविष्य, भाँति-भाँति के भक्ष फल, ईख, नाना प्रकार के चोष्य तथा पेय आदि सामग्रियों द्वारा १०,००० ब्राह्मणों को भोजन कराकर उस सभा भवन में प्रवेश किया। उन्होंने नये-नये वस्त्र, हार आदि उपहार देकर श्रेष्ठ ब्राह्मणों को तृप्त किया तथा यज्ञ के पश्चात् प्रत्येक ब्राह्मण को एक-एक हजार गायें दान में दी गयीं। इसके बाद ब्राह्मणों ने स्वस्ति वचन किया, तत्पश्चात पाण्डवों ने सभा भवन में प्रवेश किया।

''अहतैश्चैव वासोभिर्माल्यैरुच्चावचैरपि। तर्पयामास विप्रेन्द्रान् नानादिग्भ्यः समागतान्।।

ददौ तेभ्यः सहस्त्राणि गवां प्रत्येक शः पुनः। पुण्याह घोषस्तत्रासीद् दिवस्पृगिव भारत।।''[१२९]

इसमें दाता युधिष्ठिर, ग्रहीता ब्राह्मण, देय वस्तु भोजन, अन्न, वस्त्र, गाय, दान की कोटि गोदान, अन्न दान, वस्तुदान।

प्रसंग २५. युधिष्ठिर ने नारद जी से प्रश्न किया कि इस लोक में सबसे बड़ा त्यागी और दानी राजा कौन था? तब नारद जी ने उत्तर दिया कि ईक्ष्वाकु कुल में त्रिशंकु नाम के राजा थे। उनकी पत्नी का नाम सत्यवती था, उन्होंने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम हरिशचन्द्र था, वे बलवान नरेश थे उन्होंने समस्त पृथ्वी को जीत लिया था तथा राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया, इस अवसर पर समस्त भूपालों ने राजा को धन लाकर भेंट किया। इस यज्ञ में हरिशचन्द्र ने प्रसन्नता के साथ याचकों को जितना उन्होंने माँगा उससे पाँच गुना अधिक धन दान दिया। यज्ञ की समाप्ति पर विभिन्न दिशाओं से आये हुये ब्राह्मणों को नाना प्रकार के धन एवं रत्न देकर तृप्त किया। इसके अलावा भक्ष्य भोज्य पदार्थ, मनोवाँक्षित वस्तुओं का पुरस्कार, रत्न राशि का दान देकर ब्राह्मणों को संतुष्ट किया। ब्राह्मणों ने भी हरिश्चन्द्र को आशीर्वाद दिया।

''प्रादाच्च द्रविणं प्रीत्या याचकानां नरेश्वरः। यथोक्त वन्तस्ते तस्मिस्ततः पन्चगुणाधिकम्।।

अतर्पयच्च विविधैर्व सुभिर्ब्राह्मणांस्तदा। प्रसर्पकाले सम्प्राप्ते नानादिग्भ्यः समागतान्।।

भक्ष्यभोज्यैश्च विविधैर्यथाकामपुरस्कृतैः। रत्नौधतर्पितैस्तुष्टैर्द्विजैश्च समुदाहृतम्।

तेजस्वी च यशस्वी च नृपेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत्।।''[१३०]

इसमें दाता हरिश्चन्द्र, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु धन, रत्न, अन्न, दान की कोटि धनदान, वस्तुदान, अन्नदान।

प्रसंग २६. जब भीम द्वारा मगध में जरासंध का वध कर दिया गया उस समय मगध राजकुमार सहदेव भय से काँपने लगा। जरासंध के पुत्र का नाम सहदेव था, उसको यह आज्ञा दी गई कि वह अपने पिता का दाहसंस्कार करे, उसी समय उसने भगवान श्रीकृष्ण से कहा- गाय, भैस, भेड़, बकरे आदि पशु रत्न हाथी, घोड़े, वस्त्र आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं, ये वस्तुयें आप ध र्मराज युधिष्टिर को दे दीजिये। इस समय वह भय से काँप रहा था, अतः श्रीकृष्ण ने उसे

अभयदान दिया और उसे मगध राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया।

''भयार्ताय ततस्तस्मै कृष्णो दत्वाभयं तदा। आददेऽस्य महार्हाणि रत्नानि पुरुषोत्तमः।।''[१३१]

इसमें दाता श्रीकृष्ण, ग्रहीता जरासंध पुत्र सहदेव, देयवस्तु आश्वासन, दान की कोटि अभयदान।

प्रसंग २७. राजसूय यज्ञ करने के लिये युधिष्ठिर ने राजाओं, ब्राह्मणों, सगे सम्बन्धियों आदि को आमंत्रित किया तथा कृष्ण के आश्वासन पर यज्ञ प्रारम्भ किया गया। इस यज्ञ में राजाओं, ब्राह्मणों, वैश्यों तथा माननीय शूद्रों को आमंत्रित किया गया। सभी लोगों ने यज्ञ का शुभारम्भ कराया। इस अवसर पर धर्मराज युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को भोजन कराया तथा एक लाख गायें, उतने ही पलंग, एक लाख स्वर्ण मुद्रायें और उतनी ही अविवाहित युवतियाँ पृथक-पृथक ब्राह्मणों को दान कीं।

''गवां शतसहस्त्राणि शयनानां च भारत। रूक्मस्य योषितां चैव धर्मराजः पृथग ददौ।।''[१३२]

इसमें दाता युधिष्ठिर, ग्रहीता ब्राह्मण, देय वस्तु गाय, पलंग, स्वर्णमुद्रा, कन्यायें, दान की कोटि-गोदान, वस्तु दान। राजसूय यज्ञ की समाप्ति के अवसर पर युधिष्ठिर ने यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों को वस्त्र, कम्बल चादर, स्वर्णपदक, सोने के बर्तन और सभी प्रकार के आभूषण दान दिये।

''वस्त्राणि कम्बलांश्चैव प्रावारांश्चैव सर्वदा।

निष्कहेमजभाण्डानि भूषणानि च सर्वशः। प्रददौ तत्र सततं धर्मराजो युधिष्ठिरः।।''[१३३]

इसमें दाता युधिष्ठिर, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु वस्त्र, कम्बल, चादर, स्वर्णपदक, सोने के वर्तन, आभूषण, दान की कोटि वस्तु दान।

प्रसंग २८. विदुर के आमंत्रित करने पर युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित हस्तिनापुर जाने के लिये तैयार हुये। हस्तिनापुर में उन्हें वह सभाभवन देखने को बुलाया गया था जो पाण्डवों के सभाभवन की तरह ही कौरवो ने वहाँ बनवाया था। उनकी यात्रा सफल रहे इसके लिये उन्होने जाते समय ब्राह्मणों को अनेक वस्तुयें दान में दी।

''ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्वा गत्यंर्थ स यथाविधि। अन्येभ्यः स तु दत्वांर्थ गन्तुमेवोपचक्रमे।।''[१३४]

इसमें दाता युधिष्ठिर, ग्रहीता ब्राह्मण, देय वस्तु-वस्तु, दान की कोटि वस्तु दान।

प्रसंग २९. शौनक ऋषि तथा ब्राह्मणों से युधिष्ठिर की वार्ता धन के सन्दर्भ में होती है। इस सन्दर्भ में युधिष्ठिर कहते हैं कि प्रत्येक गृहस्थ का यह धर्म है कि वह पीड़ित मनुष्य को शैय्या, थके-माँदे व्यक्ति को आसन, प्यासे को पानी और भूखे को भोजन दे। इसलिये दान दाता को धन की आवश्यकता होती है, इसीलिये वेद की आज्ञा का अनुसरण करते हुये यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, मन और इन्द्रियों का संयम और लोभ का परित्याग ये धर्म के आठ मार्ग हैं।

''देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम्। तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम्।।

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः। अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्ट विधः स्मृतः।।''[१३५]

इसमें दाता युधिष्ठिर, ग्रहीता ब्राह्मण एवं शौनक ऋषि, देय वस्तु ज्ञान, दान की कोटि

ज्ञान दान।

प्रसंग ३०. वन में संकट में पड़ जाने के पश्चात् युधिष्ठिर ने अन्न की प्राप्ति के लिये सूर्य की उपासना की। सूर्य ने प्रकट होकर उन्हे दर्शन दिये और एक अक्षयपात्र उन्हे प्रदान किया। इसकी यह विशेषता था कि चाहे कितने ही व्यक्ति भोजन करलें उस पात्र में अन्न की कमीं नहीं होगी। द्रोपदी के भोजन कर लेने के पश्चात् उसमें अन्न की कमी आयेगी।

''गृहीष्व पिठरं ताम्रं मया दत्त नराधिप। यावद् वर्त्स्यति पांन्चाली पात्रेणानेन सुव्रत।।
फलमूलामिषं शाकं संस्कृतं यन्महानसे। चतुर्विधं तदन्नाघमक्षय्यं ते भविष्यति।।''[१३६]

इसमें दाता भगवान सूर्य, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु अक्षय पात्र, दान कोटि वस्तु दान।

प्रसंग ३१. श्री कृष्ण के विदा हो जाने के पश्चात् सभी पाण्डव और द्रोपदी रथ में बैठकर दूसरे वन में जाने के लिये उत्सुक हुये इस अवसर पर पाण्डवों ने वेद-वेदांग और मन्त्र को जानने वाले ब्राह्मणों को सोने की मुद्रायें वस्त्र तथा गायें प्रदान कीं।

''आस्थाय वीराः सहितावनाय प्रतस्थिरे भूतपति प्रकाशाः।
हिरण्यनिष्कान् वसनानि गाश्च, प्रदाय शिक्षाक्षर मन्त्र विभ्दयः।।''[१३७]

इसमें दाता पाण्डव, ग्रहीता ब्राह्मण, देय वस्तु स्वर्णमुद्रा, वस्त्र, गाय, दान की कोटि धनदान, वस्तुदान, गोदान।

प्रसंग ३२. विदर्भ देश के राजा भीष्म की पुत्री दमयन्ती, राजा नल के साथ राजा विराट के यहाँ नौकरी करने लगी थी क्योंकि वे जुयें में अपना सारा राज्य अपने भाई से हार गये थे। नल और दमयन्ती का पता लगाने के लिये राजा भीम ने सुदेव ब्राह्मणों को भेजा जब भीम को ब्राह्मणों से दमयन्ती का समाचार प्राप्त हुआ और उनकी पुत्री उनके पास आ गयी उस समय उसने देवताओं और ब्राह्मणों का पूजन किया तथा एक हजार गायें, एक गाँव तथा धन देकर उस सुदेव ब्राह्मण को सन्तुष्ट किया।

''अतर्पयत् सुदेवं च गोसहस्त्रेण पार्थिवः। प्रीतो दृष्टैव्य तनयां ग्रामेण द्रविणेन च।।''[१३८]

इसमें दाता विदर्भराज भीम, ग्रहीता सुदेव ब्राह्मण, देय वस्तु गाय, भूमि व धन, दान की कोटि गोदान, भूमिदान, धन दान।

प्रसंग ३३. अपने वनवास काल में पाण्डव तीर्थयात्रा के क्रम में नैमिषारण्य तीर्थ में पहुँचे यहाँ पर उन्होने गोमती नदी में स्नान किया तथा ब्राह्मणों को गोदान और धन दान दिया।

''ततस्तीर्थेषु पुण्येषु गोमत्याः पाण्डवा नृप। कृताभिषेका प्रददुर्गाश्च वित्तं च भारत।।''[१३९]

इसमें दाता पाण्डव, गृहीता ब्राह्मण, देय वस्तु गाय व धन, दान की कोटि गोदान, धनदान।

इसके पश्चात् पाण्डव प्रयाग तीर्थ में गये, वहाँ पर उन्होंने त्रिवेणी में स्नान किया और ब्राह्मणों को धन दान में दिया।

''विपात्मानों महात्मानों विप्रेभ्यः प्रददुर्वसु। तपस्विजन जुष्टां च ततो वेदीं प्रजापतेः।।''[१४०]

इसमें दाता पाण्डव, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु धन, दान की कोटि धनदान।

प्रसंग ३४. देवतागण वृत्रासुर से बहुत अधिक त्रस्त थे उन्हे अगस्त्य ऋषि ने यह सलाह दी कि वे दधीचि ऋषि के पास जायें तथा उनसे उनके शरीर की अस्थियाँ माँगें। इन अस्थियों से जिस वज्र का निर्माण होगा उसी से वृत्रासुर मारा जायेगा। यह बात सुनकर समस्त देवतागण दधीचि के पास पहुँचे। देवताओं की प्रार्थना सुनकर दधीचि ने अपने शरीर का त्याग कर दिया और अस्थियाँ देवताओं को दे दीं।

''स एवमुक्तवा द्विपदांवरिष्ठः, प्राणान् वशी स्वान् सहसोत्ससर्ज।
ततः सुरास्ते जगृहः परासोरस्थीनि, तस्याथ यदोपदेशम्।।''[१४१]

इसमें दाता दधीचि, ग्रहीता देवतागण, देयवस्तु अस्थियाँ, दान की कोटि प्राणदान।

प्रसंग ३५. राजा भगीरथ ने अपने वंश के राजा सगर के साठ हजार पुत्रों को तारने के लिये आकाश में रहने वाली गंगा को अपनी तपस्या के बल पर पृथ्वी पर उतारा। भगवान शिव ने गंगा को अपने सिर पर धारण किया तथा उसके पावन जल से समुद्र आदि भर गये उसके पश्चात राजा भगीरथ ने अपने पितरों के लिये जलदान किया।

''पितृणां चोदकं तत्र ददौ पूर्णमनोरथः। एतत् ते सर्वमाख्यातं गंगा त्रिपथगा यथा।।''[१४२]

इसमें दाता भगीरथ, ग्रहीता पितर, देयवस्तु जल, दान की कोटि अन्त्येष्टि संस्कार दान।

प्रसंग ३६. कलिंग देश की वैतरणी नदी का अवलोकन पाण्डवों ने अपने वनवास काल में किया। इस स्थान पर विश्वकर्मा (ब्रह्मा) ने यज्ञ किया था तथा यज्ञ के पश्चात् पृथ्वी, वनप्रान्त कश्यप ऋषि को दक्षिणा रूप में दे दी।

''यस्मिन यज्ञे हि भूर्दत्ता कश्यपाय महात्मने। सपर्वतवनोद्देशा दक्षिणार्थे स्वयम्भुवा।।''[१४३]

इसमें दाता ब्रह्मा, ग्रहीता कश्यप ऋषि, देय वस्तु पृथ्वी, दान की कोटि भूमिदान।

प्रसंग ३७. जमदग्नि ऋषि का विवाह रेणुका के साथ हुआ था, उनके चार पुत्र थे इनमें सबसे छोटे परशुराम थे। अनूप देश के राजा कीर्तवीर्य के पुत्रों ने जमदग्नि ने हत्या कर दी थी इस पर परशुराम को बहुत दुख हुआ उन्होंने अपने क्रोध से २१ बार पृथ्वी से क्षत्रियों का विनाश किया और अपने पितरों का तर्पण किया और महान यज्ञ करके यज्ञ कराने वालों को दान दिया। उन्होंने कश्यप ऋषि को सोने की वेदी जिसकी लम्बाई, चौड़ाई ४० हाथ तथा ऊँचाई ३६ हाथ थी, प्रदान की। कश्यप ऋषि ने उस वेदी को खण्ड-खण्ड में बाँट दिया और ब्राह्मणों को दान में दे दिया।

''ततो यज्ञेन महता जामदग्न्यः प्रतापवान्। तर्पयामास देवेन्द्रभृत्विग्भ्यः प्रददौ महीम्।।
वेदीं चाप्यददद्धैमी कश्यपाय महात्मने। दशव्यामायतां कृत्वा नवोत्सेधां विशाम्पते।।
तां कश्यपस्यानुमते ब्राह्मणाः खण्डशस्तदा। व्यभजंस्ते तदा राजन् प्रख्याताः खाण्डवायनाः।।''[१४४]

इसमें दाता परशुराम, ग्रहीता कश्यप ऋषि, देयवस्तु भूमि, स्वर्णवेदिका, दान की कोटि भूमिदान, धनदान। दूसरे दान में दाता कश्यप ऋषि, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु स्वर्ण वेदिका, दान की कोटि धनदान।

प्रसंग ३८. वनवास के दौरान पाण्डव द्रोपदी सहित ब्राह्मणों को दान आदि करके गोदावरी नदी की ओर गये तथा उन्होंने द्रविड़ देश के तीर्थों का दर्शन किया। वे अगस्त्य तीर्थ तथा नारी तीर्थ भी दर्शनार्थ गये। यहाँ पर अर्जुन ने गोदान किया तथा पाण्डवों ने भी दान दिये।

''ततः सहस्त्राणि गवां प्रदाय तीर्थेषु तेष्वम्बुधरोत्तमस्य।
हृष्टः सह भ्रातृभिरर्जुनस्य, संकीर्तयामास गवां प्रदानम्।।''[१४५]

इसमें दाता अर्जुन तथा अन्य पाण्डव, ग्रहीता ब्राह्मण, देय वस्तु गाय, दान की कोटि गोदान।

प्रसंग ३९. वनवासकाल में पाण्डवो ने समुद्रतट से लगे हुये एक सुन्दर वन में परशुराम की वेदी देखी उसके पश्चात् उन्होने अनेक देवी-देवताओं के मंदिरों के दर्शन किये तथा इन तीर्थों के निकट निवास करने वाले विद्वान ब्राह्मणों को वस्त्र और आभूषण प्रदान किये इसके बाद वे शूर्पारक क्षेत्र को पुनः लौट आये।

''तेषूपवासान विबुधानुपोष्य, दत्वा च रत्नानि महान्ति राजा।
तीर्थेषु सर्वेषु परिप्लुतांगः, पुनः स शूर्पारकमाजगाम।।''[१४६]

इसमें दाता पाण्डव, ग्रहीता ब्राह्मण आदि, देय वस्तु वस्त्र आभूषण, दान की कोटि वस्त्रदान, धनदान।

प्रसंग ४०. पाण्डुपुत्रों ने पयस्विनी नदी पर स्नान करने के पश्चात् नर्मदा नदी के तट की ओर प्रस्थान किया यहाँ लोमश ऋषि ने समस्त तीर्थो का वर्णन उनसे किया उसके पश्चात् उन्होने तीर्थयात्रा की और सहस्त्रों ब्राह्मणों को धनदान दिया।

''यथायोगं यथाप्रीति प्रययौ भ्रातृभिः सह। तत्र तत्राददाद् वित्तं ब्राह्मणेभ्यः सहस्त्रशः।।''[१४७]

इसमें दाता पाण्डव, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु धन, दान की कोटि धनदान।

प्रसंग ४१. युधिष्ठिर के पूँछने पर लोमश जी मान्धाता की उत्पत्ति और चरित्र के विषय में बताते हैं- युवनाश्व की बायीं कोख फाड़कर एक तेजस्वी पुत्र मान्धाता का जन्म हुआ। यह राजा बलशाली था उसने अनेक यज्ञों का अनुष्ठान किया और दस हजार पद्म गौएँ ब्राह्मणों को दान में दी।

''तेन पद्मसहस्त्राणि गवां दश महात्मना। ब्राह्मणनां महाराज दत्तानीति प्रचक्षते।।''[१४८]

इसमें दाता मान्धाता, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु गाय, दान की कोटि गोदान।

प्रसंग ४२. एक बार राजा ययाति, जो नहुष के पुत्र थे, राजसिंहासन पर बैठे हुये थे उसी समय एक ब्राह्मण याचक बनकर राजा के पास आया और कहा कि मैं अपने गुरू को दक्षिणा देने के लिये आपसे याचना करने आया हूँ आप मेरी इच्छित वस्तु मुझे प्रदान करें और किसी से चर्चा न करें इस पर राजा ने कहा कि मै दान देकर कभी पश्चाताप नहीं करता। यह कहकर राजा ने उसे १०००लाल रंग की गायें दान में दीं।

''ददामि ते रोहिणानां सहस्त्रं, प्रियो हि में ब्राह्मणों याचमानः।

न मे मनः कुप्यति याचमाने, दत्तं न शोचामि कदाचिदर्थम्।।

इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय राजा गोसहस्त्र ददौ। प्राप्त वांश्च गवां सहस्त्रं ब्राह्मण इति।।''[१४६]

इसमें दाता राजा ययाति, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु गाय, दान की कोटि गोदान।

प्रसंग ४३. एक बार इन्द्र और अग्नि ने शिवि की परीक्षा लेनी चाही अग्निदेव कबूतर का वेश धारण करके राजा शिवि के पास उनके त्याग एवं दान की परीक्षा लेने आये। इस परीक्षा में इन्द्र बाज पक्षी वना था। कबूतर जब राजा शिवि की शरण में आ गया तो बाज ने कहा कि यह मेरा भोज्य पदार्थ है इसे मुझे वापिस कर दो। राजा शिवि ने उसे वापस करने से इंकार कर दिया और कहा कि कबूतर के बदले का माँस मेरी जाँघ से ले लो। इस पर इन्द्र राजी हो गया। वह कबूतर इतना वजनी निकला कि राजा शिवि का पूरा शरीर कबूतर के बराबर निकला। शिवि के त्याग को देखकर अग्नि वहुत प्रसन्न हुये तथा उसके दान की प्रशंसा की।

''पुनरन्यमुंचकर्त गुरूतर एव कपोतः। एवं सर्व समधिकृत्य शरीरं तुलायामारोपयामास।।

त तू तथापि गुरूतर एव कपोत आसीत। अथ राजा स्वयमेव तुलामारूरोह।।

न च व्यलीकमासीद् राज्ञ एतद् वृतान्त दृष्टा।

त्रात इत्युक्त्वा प्रालीयतू श्येनोऽथ राजा अब्रवीत।।''[१५०]

इसमें दाता शिवि, ग्रहीता इन्द्र और अग्नि, देयवस्तु शरीर का मांस, दान की कोटि शरीरदान।

महर्षि नारद ने राजा शिवि की दान की प्रशंसा करते हुये कहा कि एक बार राजा शिवि के दरवार में एक ब्राह्मण आया। राजा शिवि ने कहा कि भोजन तैयार है भोजन कर लीजिये। इस पर ब्राह्मण क्रोधित होकर बोला कि तुम्हीं सब खा जाओ। ब्राह्मण की आज्ञा स्वीकार करके राजा शिवि स्वयं वह भोजन करने लगे। ब्राह्मण ने देखा कि महाराज को क्रोध नहीं आया। ब्राह्मण अर्न्तध्यान हो गया। तव मंत्रियों ने राजा से पूछा कि ब्राह्मण ने आपके साथ अशिष्टता की फिर भी आप क्रोधित नही हुये। तव राजाने कहा कि मै यश के लिये दान नहीं देता। भोग की लिप्सा से भी धन दान नहीं करता, दान देना महात्माओं का कर्तव्य है।

''नैवाहमेतद् यशसे ददानि, न चार्थहेतार्न च भोग तृष्णया।

पापैरनासेवित एष मार्ग, इत्येवमेतत् सकलं करोमि।।''[१५१]

इसमें दाता शिवि, ग्रहीता सुयोग्य पात्र, देयवस्तु ज्ञान, दान की कोटि ज्ञान दान।

प्रसंग ४४. महार्षि नारद ने दान की प्रसंशा करते हुये युधिष्ठिर से कहा कि दान देने वाला व्यक्ति सीधे स्वर्ग में स्थान पाता है। वे कहते है कि यदि व्यक्ति भृष्ट चरित्र का है और स्वार्थी है तो उसके लिये १६ प्रकार के दान और ४ प्रकार के जीवन व्यर्थ हैं। जो व्यक्ति वर्णाश्रमधर्म का पालन नहीं करता। पतित ब्राह्मण तथा चोर व्यक्ति को दान देता है। पिता, गुरू , ब्राह्मण की निन्दा करता है। वेद की बिक्री करता है, शूद्र से यज्ञ कराता है, नीच तथा शूद्र स्त्री से शादी करने वाले ब्राह्मण, सांप का व्यवसाय करने वालो को दान देता है उसके सभी दान व्यर्थ हैं। तमोगुणी व्यक्ति

को दान का कोई फल नहीं मिलता। इसलिये व्यक्ति को चाहिये कि वह श्रेष्ठ ब्राह्मणो को दान दे। ब्राह्मण तप, होम, स्वाध्याय तथा वेदाध्ययन से लोगों का उद्धार करते हैं जो व्यक्ति रोगी हो और मृत्यु के करीब हो, उन्हे ब्राह्मणों की पूजा करके भोजन कराना चाहिये। किन्तु जिनके रंग घृणाजनक हों, नख काले पड़ गये हों, कोढ़ी हों, धूर्त हों, जिनका जन्म माता के व्यभिचार से हुआ हो, जो शस्त्र धारण करते हों, उन ब्राह्मणों को दान नहीं करना चाहिये। लेकिन अन्धे, गूगें, बहरे ब्राह्मण को दान देना चाहिये। सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मणों को देना चाहिए। अतिथियों को भोजन कराये उन्हें चरण धोने के लिये जल, पैर मलने के लिये तेल, उजाले के लिये दीपक, भोजन के लिये अन्न दें। ब्राह्मणों का आदर सत्कार महत्वपूर्ण है। कपिला रंग की गायें ऐसे ब्राह्मण जो निर्धन गृहस्थ हो, अग्निहोत्र करता हो, स्त्री और पुत्रों से तिरस्कार सहने पड़ते हैं, ऐसे लोगों को गोदान देना चाहिये। एक ब्राह्मण को एक ही गाय देना चाहिये क्योंकि अधिक गाय देने से ब्राह्मण गाय बेंच लेंगे। संकट से प्राण बचाने के लिये स्वर्णदान करना चाहिए। विद्वान ब्राह्मण को भूमिदान देना चाहिए, यदि थके मांदे पथिक आ जायें तो उन्हें भोजन कराना चाहिये। अन्न दान, सब दानों से श्रेष्ठ माना गया है वेदों में अन्न को प्रजापति कहा गया है, जो लोग तालाब, पोखर, बावली, कुयें, धर्मशालायें बनवाते हैं और मीठी वोली बोलते है। वे दान का उचित फल पाते हैं। जो व्यक्ति परिश्रम से संचित किया गया धन सुशील ब्राह्मणों को दान करता है उसके ऊपर देवी बहुत प्रसन्न होती हैं। उसके यहाँ धन की कभी कमी नहीं रहती, जो लोग ब्राह्मणों को नानाप्रकार के अश्व आदि दान देते हैं, अन्न दान करते हैं, स्वर्ण दान करते हैं, भूमिदान करते हैं, जल दान करते है वे धन्य हैं और-मोक्ष के पात्र हैं।[१५२]

इसमें दाता नारद, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ४५. सावित्री ने, जो राजा अश्वपति की पुत्री थी द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान से यह जानते हुये भी विवाह कर लिया कि सत्यवान की अकाल मृत्यु होगी। द्युमत्सेन के आश्रम में ब्राह्मणों ने सावित्री और सत्यवान का विवाह विधिवत् कराया इस अवसर पर राजा अश्वपति ने दहेज सहित कन्यादान किया।

दत्वा सोऽश्वपतिः कन्यां यथार्ह सपरिच्छदम्। ययौ स्वमेव भवनं युक्तः परमया मुदा।।"[१५३]

इसमें दाता राजा अश्वपति, ग्रहीता सत्यवान, देयवस्तु कन्या, दान की कोटि कन्यादान।

प्रसंग ४६. त्रिगर्त नरेश सुशर्मा से मत्स्यराज विराट का युद्ध हुआ, इस युद्ध में सुशर्मा विराट को पकड़कर ले गया। पाण्डवों के प्रयास से राजा विराट सुशर्मा की पकड़ से छूटे, बाद में सुशर्मा राजा विराट द्वारा पकड़े गये। युधिष्ठिर के अनुरोध से राजा विराट द्वारा सुशर्मा को छोड़ दिया गया इस अवसर पर अभूतपूर्व पराक्रम दिखाने के कारण विराट पाण्डवों से बहुत प्रसन्न हुये तथा उन्होने अज्ञातवास में रहने वाले पाण्डवों को नाना प्रकार के रत्न, शय्या, आसन, वाहन, वस्त्राभूषण, सुन्दर कन्यायें, हाथी-घोड़े और रथों के समूह प्रदान किये।

"ददामि ते महाप्रीत्या रत्नान्युच्चावचानि च। शयनासनयानानि कन्याश्च समलंकृताः।।

हस्त्यश्वरथ संघाश्च राष्ट्राणि विविधानि च। एतानि च मम प्रीत्या प्रतिगृहीष्व सुव्रत।।"[१५४]

इसमें दाता विराट, ग्रहीता पाण्डव, देयवस्तु रत्न, शय्या, आसन, वाहन, वस्त्र आभूषणों से विभूषित सुन्दर कन्यायें, हाथी, घोड़े आदि, दान की कोटि हर्षदान।

प्रसंग ४७. जब कौरवों को पाण्डवों के अज्ञातवास का पता लगा उस समय उन्होने राजा विराट पर आक्रमण कर दिया, इस पर राजा विराट का कौरवों से भयंकर युद्ध हुआ, इस युद्ध में विराट की ओर से अर्जुन लड़े तथा उन्होनें कौरव सेना के अनेक महारथियों को बन्दी बना लिया तथा जो शरण में आये थे, उन्हें अभयदान दे दिया।

"अनाथान दुःखितान् दीनान, कृशान् वृद्धान पराजितान्।
न्यस्तशस्त्रान् निराशांश्च नाहं हन्मि कृतांजलीन।।
स्वस्ति व्रजत वो भद्रं न भेंतव्यं कथंचन।
नाहमार्ताज्जिघांसामि भृशमाश्वासयामि वः।।"[१५५]

इसमें दाता अर्जुन, ग्रहीता कौरव सेना के शरणार्थी सैनिक, देयवस्तु आश्वासन, दान की कोटि अभयदान।

प्रसंग ४८. राजा विराट की पुत्री उत्तरा को अर्जुन बृहन्नला के रूप में संगीत की शिक्षा दिया करता था। राजा विराट ने उसे यह वचनदान दिया कि वह अपनी पुत्री का विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से कर देंगे। वचनदान देने के पश्चात् राजा विराट ने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अभिमन्यु के साथ कर दिया तथा इस अवसर पर हजारों गायें, नाना प्रकार के वस्त्र, आभूषण, मुख्य वाहन, भोजन सामग्री, देने योग्य उत्तम वस्तुयें दहेज में दीं। इसी अवसर पर धर्म पुत्र युधिष्ठिर ने भगवान श्रीकृष्ण से जो धन मिला था उसमें से बहुत कुछ ब्राह्मणों को दान किया।

"प्रीतोऽभवद् दुहितरं दत्वा तामभिमन्यवे। ततः प्रत्युपयातेषु पार्थिवेषु ततस्ततः।।
कृते विवाहे तु सदा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः। ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं यदुपाहरदच्युतः।।"[१५६]

इसमें दाता विराट एवं युधिष्ठिर, ग्रहीता अभिमन्यु एवं ब्राह्मण, देय वस्तु वचन, धन, दान की कोटि वाग्दान, धन दान।

प्रसंग ४९. दुर्योधन और शकुनि के आमंत्रण पर श्रीकृष्ण कौरवों की सभा में गये। सभा में पहुँचने से पूर्व उन्होंने विदुर से भेंट की और उन्हें सारगर्भित उपदेश दिये तथा सन्ध्यावंदन करके शयन किया। प्रातःकाल उठकर सूर्य का आवाहन किया और उन्होंने ब्राह्मणों को स्वर्ण, वस्त्र, गाय और घोड़े तथा अनेक प्रकार के रत्न दान में दिये।

"ततो विमल आदित्ये ब्राह्मणेभ्यो जनार्दनः। ददौ हिरण्यं वासांसि गाश्चाश्वांश्च परंतपः।।
विसृज्य बहुरत्नानि दाशार्हमपराजितम्। तिष्ठन्तमुपसंगम्य ववन्दे सारथिस्तदा।।"[१५७]

इसमें दाता श्रीकृष्ण, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु स्वर्ण, वस्त्र, गाय, घोड़ा, रत्न, दान की कोटि धन दान, वस्त्रदान, गोदान, अश्वदान।

प्रसंग ५०. जब इन्द्र के सारथी मातलि ने अपनी पुत्री गुणकेशी का विवाह करने के लिये

नागलोक का भ्रमण किया तो नागकुमार सुमुख उन्हें अपनी पुत्री के योग्य वर मालूम हुआ। अतः मातलि ने सुमुख के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने का निश्चय किया। सुमुख के पिता का नाम चिकुर था तथा वह आर्यक का पौत्र था। जब नारद जी ने आर्यक के सम्मुख सुमुख के साथ मातलि की कन्या के विवाह का प्रस्ताव रखा। तो नागों और गरुड़ में शत्रुता होने के कारण आर्यक ने इस विवाह प्रस्ताव का विरोध किया, किन्तु जब इन्द्र ने सुमुख को दीर्घायु का वरदान दे दिया तो सुमुख और गुणकेशी का विवाह सम्पन्न हो गया।

''अभिगम्य स्वयं कन्यामयं दातुं समुघतः। मातलिस्तस्य सम्मान कर्तुमर्हो भवानपि।।

लब्धवा वरं तु सुमुखः सुमुखः सम्बभूव ह। कृतदारो व्यथाकामं जगाम च गृह्यन् प्रति।।''[१५८]

इसमें दाता मातलि, ग्रहीता सुमुख, देयवस्तु पुत्री, दान की कोटि कन्यादान।

प्रसंग ५१. सम्पत्ति का विनाश हो जाने के पश्चात् राजा ययाति के पास गालव ऋषि याचना करने आये। राजा ययाति ने कहा कि अब मेरे पास सम्पत्ति नहीं है। मेरे पास यह पुत्री है, यह देवकन्या के समान है। इसे बेंचकर आप केवल श्यामकर्ण घोड़े ही नहीं अपितु आधा राज्य भी किसी राजा से प्राप्त कर लेंगे। यह कहकर राजा ययाति ने अपनी पुत्री गालव ऋषि को सौंप दी।

''सदा देवमनुष्याणामसुराणां च गालव। कांक्षिता रूपतो बाला सुता में प्रतिगृह्यताम्।।''[१५९]

इसमें दाता राजा ययाति, ग्रहीता गालव ऋषि, देय वस्तु कन्या, दान की कोटि कामदान।

प्रसंग ५२. पाण्डवों से युद्ध करने को उत्सुक कर्ण को जब यह ज्ञात हुआ कि कुन्ती उसकी माँ है तो उस समय उसने कुन्ती को यह आश्वासन दिया कि वह अर्जुन को छोड़कर अन्य चार पाण्डवों का वध नहीं करेगा। इस प्रकार कर्ण ने कुन्ती को अर्जुन को छोड़कर अन्य पाण्डवों के लिये अभयदान दिया।

''त्वया चतुर्णां भ्रातृणामभयं शत्रुकर्शन। दत्तं तत् प्रतिजानीहि संगरप्रतिमोचनम्।।''[१६०]

इसमें दाता कर्ण, ग्रहीता कुन्ती, देयवस्तु आश्वासन, दान की कोटि अभयदान।

प्रसंग ५३. पाण्डव दुर्ग की रक्षा के लिये कुरुक्षेत्र में खाइयाँ खुदवाने लगे तथा युद्ध के समय उन्होंने स्त्रियों और धन की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की, तत्पश्चात् वे तम्बू आदि लेकर युद्धभूमि में आये। यहाँ ब्राह्मणों ने उनके गुणों का गान किया तथा पाण्डवों ने उन्हें गाय और स्वर्ण आदि का दान दिया।

''ददतो गां हिरण्यं च ब्राह्मणैरभिसंवृताः। स्तूयमाना ययू राजन् रथैर्मणिविभूषितैः।।''[१६१]

इसमें दाता पाण्डव, ग्रहीता ब्राह्मण, देय वस्तु गाय और स्वर्ण, दान की कोटि धन दान, गोदान।

प्रसंग ५४. पाण्डवों से युद्ध करने के लिये दुर्योधन ने भीष्म को कौरव सेना का सेनापति बनाया तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणों से स्वस्ति वाचन कराया तथा दान और दक्षिणा में गाय और स्वर्ण मुद्रायें प्रदान कीं। तत्पश्चात् ब्राह्मणों ने उन्हें आशीर्वाद दिया।

''ततः सेनापतिं कृत्वा भीष्मं परबलार्दनम्। वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान् गोभिर्निष्कैश्च भूरिशः।।

वर्धमानो जयाशीर्भिर्निर्ययौ सैनिकैर्वृतः। आपगेयं पुरस्कृत्य भ्रातृभिः सहितस्तदा।।"[१६२]

इसमें दाता दुर्योधन, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु गाय, स्वर्णमुद्रा, दान की कोटि गोदान, धनदान।

प्रसंग ५५. युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर व्यूह रचना पाण्डवों की ओर से भी की गई थी। जब युधिष्ठिर ने युद्धभूमि में श्वेतछत्र के साथ प्रवेश किया उस समय अनेक ऋषियों ने युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुए उनकी दक्षिणावृत परिक्रमा की। शास्त्रों के विद्वान, पुरोहित, ब्रह्मर्षि, सिद्धगण, जपमंत्र तथा उत्तम औषधियों द्वारा युधिष्ठिर के कल्याण की कामना की गई और उन्हें आशीर्वाद दिया गया। इस अवसर पर युधिष्ठिर ने बहुत से वस्त्र, गाय, फल-फूल, स्वर्णमय आभूषण, ब्राह्मणों को दान में दिये।

"ततः स वस्त्राणि तथैव गाश्च, फलानि पुष्पाणि तथैव निष्कान्।
कुरुत्तमों ब्राह्मणसान्महात्मा कुर्वन् ययौ शक्र इवामरेशः।।"[१६३]

इसमें दाता युधिष्ठिर, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु वस्त्र, गाय, फल-फूल, स्वर्ण आभूषण, दान की कोटि वस्त्रदान, गोदान, वस्तुदान, धनदान।

प्रसंग ५६. कौरव सेना के सम्मुख द्रोणाचार्य ने यह कहा कि मैं समस्त पाण्डव सेना का नाश कर सकता हूँ किन्तु अर्जुन को नहीं जीत सकता, इस समय सुशर्मा ने सलाह दी कि यदि अर्जुन से युद्ध करते हुये उसे समरभूमि से बाहर खींच लिया जाय तो उसका वध किया जा सकता है। उन्होंने इसकी प्रतिज्ञा की, प्रतिज्ञा करने वालों में सत्यरथ, सत्यवर्मा, सत्यव्रत, सत्येषु तथा सत्यकर्मा ने यह प्रतिज्ञा की। इसके बाद वे दस हजार सेना लेकर युद्ध में गये। उन्होंने विचित्र कवच धारण किया, कुश-चीर धारण किये अपने अंगों में घी लगाया और मौर्वा नामक तृण विशेष की बनी मोखला धारण की तथा अर्जुन वध की प्रतिज्ञा के साथ ब्राह्मणों को भोजन कराया। उन्हें अलग-अलग स्वर्ण मुद्रा, गायें और वस्त्र दान के रूप में दिये। दक्षिणा पाकर ब्राह्मणों ने उन्हें आर्शीर्वाद दिया।

"ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा च निष्कान् दत्वा पृथक-पृथक।
गाश्च वासांसि च पुनः समाभाष्य परस्परम्।।"[१६४]

इसमें दाता सुशर्मा बन्धु, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु स्वर्णमुद्रा, गाय, वस्त्र, दान की कोटि धनदान, गोदान, वस्त्रदान।

प्रसंग ५७. राजा सुहोत्र ने धर्मदान यज्ञ का पालन करते हुये शत्रुओं पर विजय पायी, उन्होंने इस पृथ्वी को म्लेच्छों, तस्करों से छुटकारा दिलाया, समस्त प्राणियों को सुख दिया। उनके राज्य में बादल स्वर्ण की वर्षा करते थे, उन्होंने कुरु के जंगल में विशाल यज्ञ का आयोजन किया तथा ब्राह्मणों को स्वर्ण आदि दान में दिया।

"तत् सुवर्णमपर्यन्तं राजर्षिः कुरुजांगले। ईजानो विततो यज्ञे ब्राह्मणेभ्यो ह्मन्यत।।"[१६५]

इसमें दाता सुहोत्र, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु स्वर्ण, दान की कोटि, धन दान।

राजा पौरव के सन्दर्भ में नारद जी का कथन है कि वे महादानी राजा थे, उन्होंने अनेक यज्ञ कराये, अश्वमेध यज्ञ के समय अनेक देशों के शिक्षाशास्त्री, वेद विद्या जानने वाले, स्नातक और पण्डित वहाँ आये, राजा ने उन्हें उत्तम अन्न, वस्त्र, गृह, सुन्दर शैय्या, आसन आदि उपलब्ध कराये। जनता का मनोरंजन करने के लिये नट नर्तक, गन्धर्वों को भी दान दिया गया। उन्होंने उन कन्याओं को भी जो हाथियों पर आरूढ़ थीं, उन्हें भी रथ, अश्व, घर, गायें आदि प्रदान किये। गायों के सोने के सींग, चाँदी के खुर, काँसे का दुग्ध पात्र तथा बछड़े, दास-दासी, गदहे, ऊँट और बकरे, भेड़ आदि दान किये। उन्होंने पर्वत दान किया।[१६६]

प्रसंग ५८. नारद जी ने बतलाया कि पुराने जमाने में राजा भगीरथ ने गंगा को पृथ्वी पर उतारा था, इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक राजाओं पर विजय प्राप्त की थी। इस खुशी में दस लाख कन्यायें आभषूणों से युक्त ब्राह्मणों को दान में दी गईं थीं।

''यः सहस्त्रं सहस्त्राणां कन्या हेमविभूषिताः। राज्ञश्च राजपुत्रांश्च ब्राह्मणेभ्यो ह्मन्यत।।''[१६७]

इसमें दाता भगीरथ, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु कन्या, दान की कोटि कन्यादान।

प्रसंग ५९. राम के वंश में बहुत से दानी राजा हुये, उन्हीं में से एक दिलीप थे। उन्होंने अनेक यज्ञ किये तथा एक विशाल यज्ञ में धन-धान्य से सम्पन्न, इस सारी पृथ्वी को ब्राह्मणों को दान कर दिया था।

''य इमां वसुसम्पूर्णा वसुधां वसुधाधिपः। ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यो ह्मन्यत्।।''[१६८]

इसमें दाता राजा दिलीप, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु पृथ्वी, दान की कोटि भूमिदान।

प्रसंग ६०. नारद ऋषि के कथनानुसार नाभाग के पुत्र राजा अम्वरीष ने दस लाख राजाओं से युद्ध किया था और युद्ध में उन्हें जीत लिया। इसके पश्चात् उन्होंने यज्ञ किया, इसमें ब्राह्मणों को भोज दिया, भोज में लड्डू, पूड़ी, पुये, मोटे मुनक्के, अन्न, मेर्यक, अयूप, रागखाँडव, पानक, सुगन्धित भोज्य, घी, मधु, दूध, दही, फल, मूल आदि ब्राह्मणों को दान में दिये। यज्ञकर्ता ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप १०,००,००० राजाओं को ही दान में दे डाला।

''तेषु यज्ञेष्वम्बरीषो दक्षिणामत्यकालयत्। राज्ञां शतसहस्त्राणि दश प्रयुतयाजिनाम्।।''[१६९]

इसमें दाता अम्बरीष, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु राजा, दान की कोटि मानवदान।

प्रसंग ६१. प्राचीन काल में एक राजा शशबिन्दु हुये, उन्होंने अनेक अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया तथा उन अश्वमेध यज्ञों में उन्होंने नाना प्रकार के दान दिये। एक अश्वमेध यज्ञ में उन्होंने अपने सभी पुत्रों को ब्राह्मणों को दान में दे दिया। प्रत्येक राजकुमार के साथ सुवर्णभूषित सौ-सौ कन्यायें थीं। एक-एक कन्या के पीछे सौ-सौ हाथी और प्रत्येक हाथी के पीछे सौ-सौ रथ थे। हर एक रथ के साथ सोने के हारों से विभूषित सौ-सौ बलवान अश्व थे। प्रत्येक अश्व के पीछे हजार-हजार गौयें तथा एक-एक गाय के पीछे पचास-पचास भेड़ें थीं।

''तानश्वमेधे राजेन्द्रो ब्राह्मणेभ्योऽददत् पिता। शतं शतं रथगजा एकैकं पृष्ठतोऽन्वयुः।।

राजपुत्रं तदा कन्यास्तपनीय स्वलंकृताः। कन्यां कन्यां शतं नागा नागे नागे शतं रथाः।।

रथे रथे शतं चाश्वा बलिनो हेममालिनः। अश्वे अश्वे गोसहस्त्रं गवां पंचाशदाविकाः।।
एतद् धनमूपर्याप्तमश्वमेधे महामखे। शशबिन्दुर्महाभागो ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत।।''[१७०]

इसमें दाता शशविन्दु, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु पुत्र, घोड़े, हाथी, रथ, वस्त्र, स्वर्णाभूषण, कन्यायें, भेड़े आदि, दान की कोटि पुत्र दान।

प्रसंग ६२. अमूर्तरय के पुत्र राजा गय थे, जो बहुत बड़े दानी तथा यज्ञकर्ता थे, उन्होंने भी सौ वर्षों तक दस पौर्ण मास आग्रयण, चातुर्मास यज्ञ किये और प्रचुर मात्रा में दान किया। वे सौ वर्षों तक प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर एक लाख साठ हजार गायें, दस हजार घोड़े और एक लाख स्वर्ण मुद्रायें दान करते थे।

''गवां शतसहस्त्राणि शतमश्वशतानि च।।
शतं निष्कसहस्त्राणि गवां चाप्ययुतानि षट्। उत्थायोत्थाय स प्रादात् परिसंवत्सरान् शतम्।।''[१७१]

इसमें दाता राजा गय, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु गाय, घोड़ा, स्वर्णमुद्रा, दान की कोटि गोदान, अश्वदान, धनदान।

प्रसंग ६३. संकृति के पुत्र रन्तिदेव भी बड़े दानी व्यक्ति थे। वे ब्राह्मणों को अन्न दान करते थे, न्यायपूर्वक प्राप्त धन का दान करते थे तथा एक निष्क का दान करते थे। एक निष्क में एक हजार सुवर्ण के बैल, प्रत्येक के पीछे १००-१०० गायें और १०८ स्वर्ण मुद्रायें, इतने धन को मिलाकर निष्क कहते हैं। रन्तिदेव करोड़ों निष्क रोज दान देते थे। इसके अतिरिक्त ऋषियों को करवे, घड़े, बटलोई, पिठर, शय्या, आसन, सवारी, महल और घर, भाँति-भाँति के वृक्ष, अन्न व धन दान देते थे। उनके पास जो भी सामग्री थी उन्होंने यज्ञ में ब्राह्मणों को बाँट दी।

''अल्पं दत्तं मयाद्येति निष्ककोटिं सहस्त्रशः। एकाह्ना दास्यति पुनः कोऽन्यस्तत् सम्प्रदास्यति।।
रन्तिदेवस्य यत् किंचित सौवर्णमभवत् तदा। तत् सर्वं वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत।।''[१७२]

इसमें दाता राजा रन्तिदेव, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु गाय, वस्तुयें, धन, दान की कोटि मिश्रित दान।

प्रसंग ६४. वेन के पुत्र राजा पृथु भी महान दानी थे। राजसूय यज्ञों के कारण वे सम्राट के पद से विभूषित हुए। पूरे विश्व में उनका राज्य था। उनके शासनकाल में प्रजा बहुत सुखी थी। उन्होंने अपने यज्ञों में अनेक प्रकार के दान दिये, उन्होंने ब्राह्मणों को भूतल पर जो कोई भी पार्थिव पदार्थ हैं उनकी सोने की आकृति बनवाकर महायज्ञ अश्वमेध में उन्हें ब्राह्मणों को दान किया। राजा ने छाछठ हजार सोने के हाथी बनवाये और उन्हें ब्राह्मणों को दे दिया। राजा पृथु ने इस सारी पृथ्वी की भी मणि तथा रत्नों से विभूषित सुवर्णमयी प्रतिमा बनवायी और उसे ब्राह्मणों को दे दिया।

''हैरण्यानकरोद् राजा ये केचित् पार्थिवा भुवि। तान् ब्राह्मणेभ्यः प्रायच्छत्श्वमेधे महामखे।।
षष्टिनाग सहस्त्राणि षष्टिनाग शतानि च। सौवर्णानकरोद राजा ब्राह्मणेभ्यश्च तान् ददौ।।
इमां च पृथिवी संर्वा मणिरत्नविभूषितम्। सौवर्णीमकरोद् राजा ब्राह्मणेभ्यश्च तां ददौ।।''[१७३]

इसमें दाता पृथु, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु पृथ्वी, मणि, रत्न, स्वर्ण, दान की कोटि

रत्नानि च विचित्राणि महार्हाणि महायशाः।।''[१७८]

इसमें दाता धृतराष्ट्र, ग्रहीता ब्राह्मण, देयवस्तु अन्न, गाय, रत्न, दान की कोटि अन्त्येष्टि संस्कार दान।

इसी प्रकार युधिष्ठिर ने भी द्रोपदी को साथ लेकर द्रोण, कर्ण, धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, घटोत्कच, विराट, द्रुपद और द्रोपदी कुमारों का श्राद्ध किया और प्रत्येक के उद्देश्य से हजारों ब्राह्मणों को अलग-अलग धन, रत्न, गौ, और वस्त्र देकर संतुष्ट किया।

''ब्राह्मणानां सहस्त्राणि पृथगेकैकमुद्दिशन्। धनै रत्नैश्च गोभिश्च वस्त्रैश्च समतर्पयत्।।''[१७९]

इसमें दाता युधिष्ठिर, ग्रहीता ब्राह्मण, देय वस्तु धन, रत्न, गाय, वस्त्र, दान की कोटि अन्त्येष्टि संस्कार दान।

प्रसंग ७०. महाभारत युद्ध के बाद जब युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हो गया उस समय उन्होंने चारो वर्णों को यथास्थान बैठने का आदेश दिया तथा उन्होंने अतिथियों को और दीन दुखियों को भोजन कराया, ज्योतिषियों का सम्मान किया और पुरोहित धौम्य को दस हजार गायें, धन, सोना चाँदी तथा नाना प्रकार के वस्त्र दिये। कृपाचार्य का भी इसी प्रकार सत्कार किया तथा अपने आश्रित जनों को खाने पीने की वस्तुये भांति-भांति के कपड़े शैय्या आसन देकर सन्तुष्ट किया।

''पुरोहिताय धौम्याय प्रादादयुतशः स गाः। धनं सुवर्णं रजतं वासांसि विविधान्यपि।।

कृपाय च महाराज गुरूवृत्तिमवर्तत। विदुराय च राजासौ पूजां चक्रे यतव्रतः।।

भक्ष्यान्नपानैर्विविधैर्वा सोभिः शयनासनैः। सर्वान् संतोषयामास संश्रितान् ददतां वरः।।[१८०]

इसमें दाता युधिष्ठिर, ग्रहीता पुरोहित धौम्य कृपाचार्य व अन्य आश्रित जन, देय वस्तु गाय, धन, सोना, चाँदी, वस्त्र, दान की कोटि हर्ष दान।

प्रसंग ७१. युधिष्ठिर के पूँछने पर भीष्म पितामाह ने बताया, जो ब्राह्मण छन्द, शास्त्र, ऋक, साम और यजुर्वेद के ज्ञाता हैं, यजमान का हित सोंचने वाले हैं, धैर्यवान हैं, प्रियवादी हैं, मित्र हैं और सम्यक दृष्टिकोण अपनाने वाले हैं, उन्ही से यज्ञ कराना चाहिये और यज्ञ कार्य सम्पन्न होजाने पर उन्ही को दक्षिणा देनी चाहिये।

''यज्ञांग दक्षिणा तात वेदानां परिवृंहणम्। न यज्ञा दक्षिणर्हीनास्तारयन्ति कथंचन।।[१८१]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ७२. वेदव्यास ने ब्राह्मणों के कर्तव्य का विस्तार से वर्णन करते हुये ब्राह्मणों को निर्देश दिया है कि यजमान से, शिष्य से, कन्याशुल्क से जो धन प्राप्त हो उससे यज्ञ करे, दान दे, अकेले उस धन का उपयोग न करें। योग्य ब्राह्मणों को कोई भी वस्तु अदेय नहीं है। व्रतधारी राजा सत्यसंध ने अपने प्राण देकर ब्राह्मण की रक्षा की। संकृति के पुत्र राजा रन्तिदेव ने वसिष्ठ को शीतोष्ण जल उपलब्ध कराया। राजा इन्द्रदमन ने एक योग्य ब्राह्मण को नाना प्रकार के दान दिये। उशीनर के पुत्र राजा शिवि ने ब्राह्मण के लिये अपने शरीर और प्रिय औरस पुत्र का दान किया। काशिराज प्रतर्दन ने ब्राह्मण को अपने दोनो नेत्र दे दिये। राजा देवावृध ने सोने की शलाकाओं वाला

छत्र ब्राह्मण को दिया। अत्रिवंश में उत्पन्न महातेजस्वी सांकृति ने अपने शिष्यों को ज्ञानोपदेश दिया। महाप्रतापी राजा अम्बरीश ने एक अरब दस करोड़ गायें ब्राह्मणों को दान में दीं। सावित्री ने दो दिव्य कुण्डल और राजा जनमेजय ने ब्राह्मणों के लिये अपना शरीर दिया। वृषदर्भ के पुत्र युवनाश्व ने सभी प्रकार के रत्न, अभीष्ट स्त्रियाँ ब्राह्मणों को दान में दीं। विदेहराज निमि ने सम्पूर्ण पृथ्वी परशुराम को दान में दी। महर्षि वसिष्ठ ने अनावृष्टि के अवसर पर सम्पूर्ण प्राणियों को जीवनदान दिया। करन्धम के पुत्र राजा मरुत्त ने अंगिरा ऋषि को अपनी कन्या दी। पांचाल नरेश ब्रह्मदत्त ने ब्राह्मणों को शंख निधि दान में दी। राजा मित्रसह ने अपनी प्यारी पत्नी मदयन्ती वसिष्ठ को दान में दी। महायशस्वी राजर्षि ने सहस्त्रजित ब्राह्मण के लिये अपने प्राण दिये। महाराज शतद्युम्न ने मुद्‌गल ब्राह्मण को सुवर्णमय महल दान में दिया। प्रतापी शाल्व नरेश दुतिमान ने यज्ञकर्ता को अपना राज्य दे दिया। शक्तिशाली राजर्षि लोमपाद ने अपनी पुत्री शान्ता को ऋष्यश्रृंग मुनि को दान कर दिया। राजर्षि मदिराश्व ने हिरण्यहस्त को अपनी सुन्दर कन्या दान में दे दी। महातेजस्वी राजा प्रसेनजित ने एक लाख गायें बछड़े सहित ब्राह्मणों को दान में दीं। इस प्रकार अनेक दाता दान देकर स्वर्गलोक में गये, जब तक यह पृथ्वी रहेगी उस समय तक उनका यश सदैव गाया जायेगा।

"तेषां प्रतिष्ठिता कीर्तिर्यावत् स्थाम्यति मेदिनी। दान यज्ञ प्रजासर्गैरेते हि दिवमाप्नुवन।।"[१८२]

इसमें दाता व्यास, ग्रहीता ब्राह्मण, देय वस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञान दान।

प्रसंग ७३. युधिष्ठिर भीष्म से प्रश्न करते हैं कि यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मणों को धन देने का वचन दे और फिर न दे तो क्या होगा? भीष्म कहते हैं कि यदि कोई ऐसा करता है तो उसकी आशायें फलीभूत नहीं होतीं, वह बार-बार जन्म लेकर आवागमन के चक्कर में भटकता रहता है इसलिये प्रतिज्ञा भंग करने वाले को प्रायश्चित करना चाहिये। प्रतिज्ञा से मुकरने वाले व्यक्ति सियार और बन्दरों की योनि पाते हैं। ब्राह्मणों का धन चुराकर खाने वाला भी वानर की योनि पाता है। ब्राह्मण का धन न चुराना चाहिये और न ही उसका अनादर करना चाहिये। यदि ब्राह्मण का उपदेश सुनने के बाद उसे कुछ देने को कहा है तो उसे अवश्य दें। ब्राह्मण के क्रोधित होने पर व्यक्ति का अनिष्ट होता है। उत्तम योनि प्राप्त करने के लिये ब्राह्मण को दान देना चाहिये तभी स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। ब्राह्मण को दान देने से देवता और पितर दोनो तृप्त होते हैं। इसलिये ब्राह्मण को अश्वय दान देना चाहिये।

"ब्राह्मणस्य हि दत्तेन ध्रुवं स्वर्गो ह्यनुत्तमः। शक्यः प्राप्तुं विशेषेण दानं हि महती क्रिया।।
इत्तो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा। तस्माद् दानानि देयानि ब्राह्मणेभ्यो विजानता।।"[१८३]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु-उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ७४. युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय ऋषि से यह प्रश्न किया कि श्राद्ध की विधि क्या है तथा दान का उत्तम पात्र कौन है? इस पर मार्कण्डेय ऋषि ने कहा कि नारद जी ने एक बार कहा था कि वेदमन्त्र से सदा पवित्र होने कारण हव्य और कव्य नष्ट नहीं होते, यदि दाता न्यायपूर्वक उनका दान करते हैं तों देवता और पितर उसे ग्रहण करते हैं। सात्विकी भाव वाला दाता मनवांछित

कामनाओं को प्राप्त करता है तथा स्वर्गगामी होता है। संसार में चार वर्ण के लोग निवास करते हैं जो लोग यज्ञ आदि नहीं करते हैं और दान करते हैं, यदि दान ब्राह्मणों ने किया है तो वह दान असुरों को प्राप्त होता है। यदि यह दान क्षत्रियों ने किया है तो वह राक्षसों को प्राप्त होता है यदि यह दान वैश्यों ने किया है तो उसे प्रेत ग्रहण करते है और यदि यह दान शूद्रों ने किया है तो इसे भूत ग्रहण करते हैं। यदि कोई व्यक्ति नीच कुल में उत्पन्न होकर यज्ञ आदि या दान करते हैं तो उनके दान को देवता और पितर ग्रहण नहीं करते। जो सब कुछ देने वाले और उत्तम कर्म के अधि ाकारी हैं तथा एकाग्रचित होकर नियम से यज्ञ आदि करते हैं, देवता और पितर उसी को ग्रहण करते हैं। कन्यादान किसी योग्य वर को दिया जाय। कन्यादान करने वाले को धर्मफल मिलता है। यदि रजस्वला होने पर कन्या का किसी योग्य वर के साथ विवाह नहीं होता तो उसका पिता भ्रूण हत्या का भागी होता है। इसी प्रकार कन्या के विवाह तथा उसे विषयभोग से वंचित रखने वाला व्यक्ति भी भ्रूण हत्या का भागी होता है। धर्म के अनुसार जीवन रक्षा के लिये वर्णाश्रमोचित वृत्ति का आश्रय लेने वाले चिन्हधारी अथवा चिन्हरहित किसी भी ब्राह्मण को दान देना उचित है। ये तपस्वी दान के पात्र हैं। जो अपरचित विद्वान, सम्वन्धी, तपस्वी अथवा यज्ञशील हो, कुलीन कर्मठ दयालु, सलज्ज, सरल, सत्यवादी ब्राह्मण दान के उत्तम पात्र हैं। जो ब्राह्मण शील रहित है वह विद्वान होता हुआ भी उत्तम गति को नहीं प्राप्त होता। जो ब्राह्मण घमंडी है उसे भी उत्तम गति नहीं मिलती। ब्रह्मचारी ब्राह्मण को श्राद्ध का भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिये। सत्यनिष्ठ, धर्मपरायण, क्रोध रहित ब्राह्म श्रेष्ठ होते हैं, उन्हीं को दान देना चाहिये। अभिमान रहित, सहनशील, दृढ़प्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, सम्पूर्ण प्राणियों के हितकारी, मैत्रीभाव रखने वाले ब्राह्मणों को दान देना उचित है। जो ब्राह्मण निर्लोभी, विद्वान, पवित्र, संकोची, सत्यवादी और कर्मपरायण हो, वही दान का पात्र है। वेदांगों का ज्ञाता षड़ कर्मो (अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह) को करनेवाला ब्राह्मण दान देने का पात्र है। उत्तम बुद्धिवाला, शास्त्र जाननेवाला, सदाचारी, सुशील ब्राह्मण भी दान का पात्र है। ऐसे व्यक्तियों को दान में गाय, घोड़ा, अन्न, धन और दूसरे पदार्थ देना चाहिये।[१८४]

इसमें दाता मार्कण्डेय ऋषि, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ७५. युधिष्ठिर ने प्रश्न किया कि दान का पात्र किसे माना जाय? इस पर भीष्म ने उत्तर दिया कि जो व्यक्ति याचक बनकर आता है उसे यह उत्तर दें कि हम देंगे, किन्तु दाता को सर्वप्रथम यह देखना चाहिये कि यदि वह पारिवारिक बोझ वहन कर रहा है तो उसे भरण पोषण से बचे हुये धन को ही दान देना चाहिये। पारिवारिक जनों को कष्ट में डालकर दान नहीं देना चाहिये। जो व्यक्ति चिरकाल तक साथ रह चुका हो, दूर देश से आया हो, अपरिचित, व्यक्ति को दान देना चाहिये। विना पीड़ा के दिया जाने वाला दान यज्ञ कराने वाले आचार्य पुरोहित शिष्य सम्बन्धी, वान्धव और विद्वान को देना चाहिये। कपट का बर्ताव करने वाले दान के पात्र नहीं है। जिनके हृदय में क्रोध न हो, जो सत्यभाषण करते हों, अहिंसक हों, इन्द्रियों को वश में करने वाले हों, संयमी हों, सहनशील हों, मन पर नियन्त्रण करने वाले हों, जिनके आचरण धर्मविरूद्ध न हों, वही

दान के अधिकारी है। अपने को ज्ञानी समझकर जो पंडित वेदों की निन्दा करता हो, निरर्थक तर्क करता हो, सत्यपुरूषों की सभा में गप्प छोड़ता हो। बालकों और मूर्खों जैसा व्यवहार करता हो, वह कुत्ते के समान है। शास्त्रों का खंडन करने वाला पंडित दान का पात्र नहीं है। व्यक्ति की व्यावहारिकता का आकलन करके ही उसे दान देना चाहिये।[१८५]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ७६. युद्ध के पश्चात् दुखी व्यक्तियों को देखकर युधिष्ठिर अत्यन्त निराश हो जाते हैं और तप करने की बात सोंचते हैं इस पर भीष्म उन्हे समझाते हैं कि तपस्या से व्यक्ति को अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। तपस्या से और दुख सहन करने की क्षमता से व्यक्ति को लाभ होता है। दान देने से वह अधिक धनवान होता है। जो व्यक्ति रसों का परित्याग करता है वह सौभाग्यशाली होता है तथा माँस का परित्याग करने वाला दीर्घायु सन्तान पैदा करने वाला होता है। दान से यश की प्राप्ति होती है। जलदान करने से अक्षय कीर्ति मिलती है। सान्त्वना दान करने से व्यक्ति शोकमुक्त होता है। मन्दिर में दीपदान करने से नेत्ररोग नहीं होता। दर्शनीय वस्तुओं का दान देने से स्मरण शक्ति और बुद्धि तेज होती है। गन्ध और पुष्पमाला दान करने से यश मिलता है। कन्यादान करने से दास दासी और अलंकार प्राप्त होते हैं। स्वर्ण जटित सीगों वाली गाय दान करने से दाता देवलोक प्राप्त करता है। जो व्यक्ति गाय के साथ काँसे का दुग्धपात्र और बछड़ा दान करता है उसकी मनोकामना पूर्ण होती है। रोयेंदार गाय दान देने से कई पीढ़ियों का उद्धार होता है। कन्यादान करने से इन्द्रलोक मिलता है। जो ब्राह्मण को घर, शैय्या और गृहस्थी का सामान देता है उसे कुरू देश में रहने का लाभ होता है। बैल, सुवर्णमय आभूषण का दान भी उत्तम फल देने वाले होते हैं। छाता, घर, जूता, सवारी, वस्त्र, सुगन्ध का सामान दान देने वाले को उत्तम गति मिलती है। फल-फूल, वृक्ष का दान करने वाला भी उत्तम फल प्राप्त करता है। अन्न, जल, रस का दान करने वाला सभी रसों को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति ब्राह्मण को बिछौने दान करता है उसे भी उत्तम गति की प्राप्ति होती है।[१८६]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दन की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ७७. युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया कि जलाशय बनवाने से क्या लाभ होता है? इस पर भीष्म ने उत्तर दिया कि जलाशय बनवाने से व्यक्ति को सर्वश्रेष्ठ फल प्राप्त होता है। वह भूमि में पोखर, तालाब, कुँये आदि का निर्माण कराये, यदि व्यक्ति गाँव में तालाब बनवाता है तो बहुत ही धर्म का कार्य करता है, इस तालाब में मनुष्य के अलावा देवता, गन्धर्व, पितर, नाग, राक्षस और अन्य प्राणी आश्रय लेते हैं, जिसके खुदवाये हुये तालाब में वर्ष भर पानी रहता है वह अत्यन्त श्रेष्ठ है। जल दुर्लभ पदार्थ है, परलोक में उसका मिलना कठिन है इसलिये जलदान बहुत श्रेष्ठ है इसी तरह तिल दान, दीपदान का भी फल जलदान के समान है। जलाशय के किनारे वृक्ष लतायें और घास उगती है इससे भी प्राणियों को लाभ होता है। जलाशय बनवाने वाले यशलाभ प्राप्त करते हैं जो व्यक्ति वृक्ष लगाता है वह भी पुण्य लाभ करता है क्योंकि वृक्ष उसके पुत्र के समान हैं। वृक्ष

अपने फूलों से देवताओं की, फलों से पितरों की और छाया से अतिथियों की सेवा करते हैं। किन्नर, नाग, राक्षस, देवता, गन्धर्व, मनुष्य वृक्षों का आश्रय लेते हैं। तालाब बनवाना, वृक्ष लगवाना, यज्ञों का अनुष्ठान करना और सत्य बोलना ही इस लोक के आदर्श है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह तालाब खुदवाये, बगीचे लगाये, भाँति-भाँति के यज्ञों का अनुष्ठान करे तथा सत्य बोले।[१८७]

"तस्मात् तडाग कुर्वीतं आरामांश्चैव रोपयेत्। यजेच्च विविधैर्यज्ञैः सत्यंच सततं वदेत्।।"[१८८]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दन की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ७८. युधिष्ठिर के पूँछने पर भीष्म ने बताया कि सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान देना, संकट के समय उन पर अनुग्रह करना, याचक को उसकी अभीष्ट वस्तु देना, प्यासे को पानी पिलाना, उत्तम दान है। दान देकर जिसे याद न रखा जाय, वह दान श्रेष्ठ है। सुवर्णदान, गोदान, और भूमिदान श्रेष्ठ दान हैं जो पापियों का भी उद्धार करते हैं। घर में उपलब्ध प्रिय वस्तु का दान गुणवान पुरुष को देना चाहिये। दाता को याचक का सत्कार करना चाहिये। शत्रु होने पर भी यदि कोई शरण पाना चाहता है तो उसको दया का दान देना चाहिये। जिसके पास जीविका का कोई साधन न हो, जो दीन दुर्वल और दुखी हो, ऐसे व्यक्ति जो परिवार का पालन नहीं कर पाते विशिष्ट कष्ट उठाते हैं परन्तु किसी से याचना नहीं करते, सत्कर्म करते हैं उन्हें भी दान देना चाहिये। जो ब्राह्मण किसी वस्तु की कामना नहीं करते, जो मिल जाय उसी पर गुजारा करते हैं, उन्हें दान देना चाहिये। यदि दान पवित्र और श्रद्धा युक्त है तो उसे याचक स्वीकार कर लेगा। ब्राह्मणें को पितरों के तर्पण के लिये दान देना चाहिये। ऐसे व्यक्ति जो धनवान हैं, बलवान हैं, घमण्डी हैं और ब्राह्मणों की उपेक्षा करते हैं उन व्यक्तियों के द्वारा दिये गये दान को न लेना चाहिये। जिसके पास बल है, धन है और स्वधर्म पालन है उसे ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये। ब्राह्मण हमारे आश्रय में हैं इसीलिये उन्हे दान देना चाहिये। यदि व्यक्ति अपने-अपने कर्म को छोड़ दे और पथभ्रष्ट हो जाय तो वह कहीं का नहीं रहता। ब्राह्मण कोमल, सत्यवादी, और सत्यधर्म का पालन करने वाले होते हैं, जब वे कुपित होते हैं तो भयंकर सर्प की भाँति हो जाते हैं इसलिये ब्राह्मणों की सेवा करनी चाहिये।[१८९]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दन की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ७९. युधिष्ठिर ने पूँछा यदि दो विद्वान ब्राह्मण हैं उनमें से एक याचना करता है और दूसरा याचना नहीं करता तो किसे दान दिया जाय? इस पर भीष्म ने उत्तर दिया कि याचना करने वाले से न याचना करने वाला ब्राह्मण श्रेष्ठ है। याचना तिरस्कार का कारण है। यदि राज्य के भीतर ब्राह्मण रहते हैं तो वह पूजित न होने पर भी पूजा के योग्य है, इसलिये योग्य ब्राह्मणों को दोपहर में भोजन कराना, उन्हें स्वर्ण और वस्त्र प्रदान करना उत्तम फलदायी है। यज्ञों में ब्राह्मणों को दान देकर दक्षिणा देनी चाहिये।[१९०]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ८०. युधिष्ठिर के पूँछने पर भीष्म दान और यज्ञ कर्म के सन्दर्भ में बतलाते हैं कि पाप करने वाला राजा दान का अधिकारी नही है। राजा यज्ञों का अनुष्ठान करे तथा श्रेष्ठ पुरुषों को दान दे। राजा ब्राह्मणों का पालन पोषण करे, सन्तों का समादर करे ब्राह्मणों को गाय, बैल, अन्न, छाता, जूता, वस्त्र दान करे। यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों को सवारियाँ आदि दे। दान देना, राजसूय यज्ञ और अश्वमेध यज्ञ से भी महान है। राजकोष से राष्ट्र की रक्षा करना, दूसरों की जीविका की रक्षा करना, सेवकों तथा प्रजा का पुत्र की भाँति पालन करना तथा जिन वस्तुओं का अभाव ब्राह्मणों के पास हो उन्हें देना, राजा के मुख्य कर्तव्य हैं। यदि राजा राजकोष के लिये जबरन कर वसूल करता है और डरा धमकाकर धन लेता है तो वह राजा श्रेष्ठ नहीं है, इसलिये राजा का कर्तव्य है जो लोग बहुत धनी हैं और विना पीड़ा के धन दे सकते हैं उन्हीं से धन वसूले। राजा सिंहासन में बैठने के पश्चात् वृद्ध, बालक, दीन और अन्धे की सहायता करे, पानी न बरसने पर कुआँ खुदवाये, सिंचाई के साधन करके अन्न पैदा कराये। किसी स्त्री को न सताये और न गरीब का धन छीने। उसके लिये भोजन की व्यवस्था करे जिसके बच्चे भूख से तड़प रहे हों। स्नातकों और ब्राह्मणों के कष्ट का निवारण करे किसी स्त्री का अपहरण न होने दे। लूट खसोट बन्द कराये। प्रजा की सुरक्षा करे। ये राजा के कर्तव्य हैं।[१६१]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देय वस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञान दान।

प्रसंग ८१. युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर कि श्रेष्ठ दान कौन सा है? इस पर भीष्म उत्तर देते हैं कि सर्वश्रेष्ठ दान भूमिदान है क्योंकि सभी वस्तुयें भूमि से पैदा होती हैं इसलिये भूमिदान से बड़ा कोई दान नहीं है। वैसे तो लोग अपने कर्म से जीविकोपार्जन करते है किन्तु व्यक्ति जैसा देता है वैसा पाता भी है। भूमिदान करने वाला व्यक्ति पवित्र हो जाता है। बहुत से लोग केवल भूमिदान ही लेते है अन्य दान नहीं लेते। जो व्यक्ति भूमि का स्वामी नहीं है वह भूमिदान नहीं दे सकता। अयोग्य पात्र को भूमि ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिस भूमि को दान दे दिया गया हो उसे अपने उपयोग में नहीं लाना चाहिये। घर बनवाने के लिये दी जाने वाली भूमि के दाता की प्रशंसा होती है। पृथ्वीदान करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ माना जाता है उसे पितृलोक में उत्तम स्थान मिलता है। जो व्यक्ति भूख कष्ट से मरते हुये ब्राह्मण को उपजाऊ भूमि दान में देता है उसे यज्ञो का फल मिलता है। पृथ्वी दान करने वाला पुरुष कुलीन माना जाता है। स्वर्णदान, गोदान, भूमिदान, विद्यादान और कन्यादान ये अत्यन्त पापहारी दान हैं तथा इनमें भी भूमिदान सर्वश्रेष्ठ है, इसकी प्रशंसा बृहस्पति ने इन्द्र से की इसलिये रत्नगर्भा वसुन्धरा को इन्द्र ने बृहस्पति को दान कर दिया।[१६२]

''अतिदानानि सर्वाणि पृथिवीदानमुच्यते। अचला ह्यक्षया भूमिर्दोग्ध्री कामानिहोत्तमान्।।''[१६३]

इस प्रकार भूमिदान को सर्वश्रेष्ठ दान माना गया है।

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दन की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ८२. युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से पूँछा कि यदि राजा दान करना चाहता है तो वह किन वस्तुओं का दान करे? इस पर भीष्म पितामह ने कहा कि देवता और ऋषि अन्न की प्रशंसा

करते हैं, अन्न से सम्पूर्ण प्राणियों का निर्वाह होता है, उसी से बुद्धि को स्फूर्ति प्राप्त होती है इसलिये अन्न का दान श्रेष्ठ दान है। यह शरीर के बल को बढ़ाता है, भूख को मिटाता है तथा प्राणों की रक्षा करता है। इस संसार में सभी प्राणी अन्न से ही अपना पेट पालते हैं इसलिये कल्याण की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को, सुपात्र ब्राह्मण को अन्नदान करना चाहिए। इसके अतिरिक्त रास्ते का थकामाँदा बूढ़ा राहगीर घर पर आ जाय तो उसे भोजन कराना चाहिए, उसका अपमान नहीं करना चाहिए। व्यक्ति परिचित हो अथवा अपरिचित उसे भोजन कराना चाहिए। अन्नदान चाहे शूद्र को दिया जाय या ब्राह्मण को, सबका फल मिलता है। यदि ब्राह्मण अन्न का दान माँगता है तो उसे अन्न दान देना चाहिए। अन्न से निर्मित मिठाई का दान भी स्वर्ग देने वाला होता है, यह दाता और ग्रहीता दोनों को फल देता है। अन्न से सन्तान की उत्पत्ति होती है, अन्न से रति की सिद्धि होती है, अन्न से धर्म और अर्थ की सिद्धि होती है, अन्न से रोगों का नाश होता है, बिना अन्न के निमन्त्रण, विवाह, यज्ञ, सम्पन्न नहीं हो सकते। व्यक्ति का सारा जीवन अन्न पर टिका है। जो व्यक्ति याचक को अन्नदान करता है वह प्राण और तेज का दान करता है। अन्नदान करने वाले स्वर्गलोक में जाते हैं।[१६४]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ८३. युधिष्ठिर ने भीष्म से पूँछा कि किस-किस नक्षत्र के योग पर किस-किस वस्तु का दान देना उपयुक्त होता है? भीष्म ने उत्तर दिया कि मुझे नारद ने बताया था कि दाता कृतिका नक्षत्र में खीर का दान ब्राह्मणों को दे। रोहिणी नक्षत्र में फल के गूदे, अन्न, घी, दूध, तथा पीने योग्य पदार्थ ब्राह्मण को दान में देने चाहिए। मृगशिरा नक्षत्र में दूध देने वाली गाय बछड़े सहित दान में दी जाय। अद्रा नक्षत्र में तिल मिश्रित खिचड़ी दान की जाय। पुनर्वसु नक्षत्र में पुआ और अन्न दान करे, पुष्य नक्षत्र में सोने का आभूषण अथवा सोना दान दे, आश्लेषा नक्षत्र में चाँदी अथवा बैल का दान करे। मघा नक्षत्र में वर्धमान पात्रों का दान करे। पूर्वा-फाल्गुनी नक्षत्र में उपवास करके मनुष्य मक्खन मिश्रित भक्ष्य पदार्थ दान करे। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में घृत और दुग्ध से युक्त साठी के चावल के भात का दान करे। उत्तरा नक्षत्र में कोई भी वस्तु दान में दी जा सकती है। हस्त नक्षत्र में उपवास करके ध्वजा, पताका, चँदेवा, किंगिंणीजाल, हाथी, जुते हुए रथ दान करे। चित्रा नक्षत्र में बैल व पवित्र गन्ध का दान करे। स्वाती नक्षत्र में अपनी प्रिय वस्तु का दान करे। विशाखा नक्षत्र में गाड़ी, ढोने वाले बैल, दूध देने वाली गाय, अन्न, वस्त्र, बैलगाड़ी का दान करे। अनुराधा नक्षत्र में ओढ़ने के वस्त्र व अन्न दान करे। ज्येष्ठा नक्षत्र में शाक और मूली का दान करे। मूल नक्षत्र में मूलफल दान करे। पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में वेदपाठी ब्राह्मण को दही से भरा पात्र दान करे। उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में जलपूर्ण कलश सहित सत्तू और घी का दान करें। अभिजित नक्षत्र के योग में मधु, घी और दूध दान करे। श्रावण नक्षत्र में वस्त्रवेष्टित कम्बल दान करे। धनिष्ठा नक्षत्र में बैलगाड़ी, वस्त्र और धनदान करे। शतमिषा नक्षत्र में सुगन्धित पदार्थों का दान करें। पूर्वभाद्रपदा नक्षत्र में उड़द या सफेद मटर का दान करें। उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में औरभ्र फल का गूदा दान करें।

:वती नक्षत्र में काँस के दुग्धपात्र से युक्त धेनु का दान करे। अश्विनी नक्षत्र में घोड़े जुते हुए रथ का दान करे। भरणी नक्षत्र में ब्राह्मणों को तिलमयी धेनु का दान करें। इस प्रकार अलग-अलग नक्षत्र में अलग-अलग वस्तु दान देने का विधान है।[१६५]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ८४. युधिष्ठिर के पूँछने पर भीष्म ने बताया कि सुवर्ण दान करने वाले याचक की सम्पूर्ण मनोकामना पूर्ण करता है। जल का दान उससे बढ़कर है। इसके लिये कुँये, बावड़ी और पोखर खुदवाना चाहिए। जलाशयों से व्यक्ति और पशु की प्यास बुझती है और प्राण संकट में नहीं पड़ते। घी दान करना भी उत्तम है, इससे अग्निदेव प्रसन्न होते हैं, यह औषधि भी है, घृत मिश्रित खीर भी ब्राह्मणों को दान में देना चाहिए। जल से भरा कमंडल भी दान में देना चाहिए। भोजन पकाने के लिये ब्राह्मणों को लकड़ियाँ दान में देनी चाहिए। जो पुरुष छाता दान में देता है उसे धन प्राप्त होता है। गर्मियों में, बरसात में, छाता दान का विशेष फल प्राप्त होता है। सामान ढोने के लिये बैलगाड़ी का दान देना भी उत्तम है।[१६६]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ८५. युधिष्ठिर के पूँछने पर भीष्म जी कहते हैं कि गर्मी के दिनों में ब्राह्मणों को जूता दान देने पर उत्तम फल की प्राप्ति होती है। बैलगाड़ी दान करने वाले को भविष्य में चाँदी और सोने से जड़ित रथ प्राप्त होता है। तिल पितरों का सर्वोत्तम खाद्य पदार्थ हैं, तिल दान करने से उन्हें सन्तुष्टि मिलती है। माघ के माह में तिल दान करना चाहिए। यह पौष्टिक पदार्थ है तथा हवन के काम भी आता है। इसके अतिरिक्त भूमिदान करना भी पुण्य कार्य है जो गृह के लिये भूमि प्रदान करता है और गोशाला बनवाने के लिये दान देता है, वह अपने पुरखों का उद्धार करता है। कृषि के लिये भूमिदान करने वाले का कुल बढ़ता है। ऊसर भूमि दान में न देनी चाहिए। परायी भूमि में श्राद्ध नहीं करना चाहिए। यदि भूमि न हो तो खरीदकर दान करे। गौ दान करना और भी ज्यादा महत्वपूर्ण है। गौयें अपने दूध, दही, घी, गोबर, चमड़ा, हड्डी, सींग से लोगों का कल्याण करती हैं। हर मौसम में ये जनता की सेवा करती है। गाय और ब्राह्मणों की कोटि एक है। गोदान करने वाला नरक में नहीं जाता। गाय का दूध लोगों के लिये अमृत के समान है। गाय के दूध का प्रयोग हवन में होता है। ये प्राणियों को जीवनदान देती है। गोवध करने वाले को गाय का दान नहीं देना चाहिए। नास्तिक को, गाय से जीविका चलाने वाले, दूध बेंचने वालों को, पंचयज्ञ न करने वाले को, गाय न देनी चाहिए। दुबली, रोगी, अंग से हीन और बूढ़ी गाय भी दान में न देनी चाहिए। अन्नदान करने वाला व्यक्ति भी धर्मात्मा होता है। कार्तिक मास के शुक्लपक्ष में अन्न का दान करना चाहिए। जो मनुष्य कठिनाई में पड़े व्यक्ति को अन्नदान करता है, भविष्य में उसके दुष्कर्म नष्ट हो जाते हैं।[१६७] इसके अतिरिक्त अन्नदान, जलदान, दीपदान, रत्नदान, गोदान आदि की महिमा पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है।[१६८] गोदान के सन्दर्भ में भीष्म जी युधिष्ठिर को समझाते हैं कि गाय, भूमि और सरस्वती समान नाम वाली हैं, इनसे समस्त कामनायें पूर्ण होती

हैं। गायें सम्पूर्ण प्राणियों की माता हैं, सबको सुख देने वाली हैं, गायों को लात न मारना चाहिए, उनके बीच से होकर न निकलना चाहिए, उनकी पूजा करनी चाहिए। बैलों को जोतते समय उन्हें डन्डे से नहीं मारना चाहिए। गायों को समय से भोजन और पानी देना चाहिए। गायों का गोबर पवित्र है, वह देवपूजन और लीपने के काम आता है, जो व्यक्ति पहले गायों को भोजन कराता है और फिर स्वयं खाता है उसे पुण्य मिलता है। दुराचारी, पापी, लोभी, असत्यवादी, देवयज्ञ और श्राद्ध न करने वाले ब्राह्मण को गाय दान में नहीं देना चाहिए। जिसके बहुत से पुत्र हों, वेदों को जानने वाला हो, यज्ञ करने वाला हो और गाय की याचना कर रहा हो, उसे गाय देनी चाहिए। गुरुजनों की सेवा करना, वेदान्तनिष्ठ, ज्ञानानन्द से तृप्त, जितेन्द्रिय, शिष्ट, यज्ञशील, प्रिय वचन बोलने वाला, भूख के भय से अनुचित कार्य न करने वाला, अतिथि प्रेमी, सब पर समान भाव रखने वाला, जो ब्राह्मण स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब आदि से युक्त हो, उस ब्राह्मण की जीविका का प्रबन्ध करना चाहिए। गाय देने के बदले कभी धन न लेना चाहिए। ब्राह्मणों के धन का अपहरण न करे तथा उनकी स्त्रियों को कुदृष्टि से न देखें क्योंकि ब्राह्मण सबकी रक्षा करते हैं, इसलिये ब्राह्मण और गाय सुरक्षित होनें पर हमें पुण्य का लाभ होता है।[१६६]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ८६. युधिष्ठिर के पूँछने पर भीष्म ने कहा कि जिन राजाओं ने दान और त्याग किया है उन्होंने स्थाई यश प्राप्त किया और वे स्वर्गलोक को गये। इनमें सूर्यपुत्र कर्ण, दशरथ नन्दन राम, राजर्षि कच्छसेन, करन्धम के पुत्र अविक्षित्, मनु के पुत्र सद्युम्न, राजा सहस्त्रचित्य, शतद्युम्न, सुमन्यु, मदिराश्व, लोभपाद, राजर्षि भगीरथ आदि ने विभिन्न वस्तुयें दान दीं। जिससे सभी राजा स्वर्गगामी हुए और उत्तम गति को प्राप्त हुए।[२००]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ८७. युधिष्ठिर के पूँछने पर भीष्म जी ने कहा कि व्यक्ति धर्म, अर्थ, भय, कामना और दया, पाँच प्रकार के दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर दान करता है। जो व्यक्ति ईर्ष्या रहित होकर ब्राह्मणों को दान करता है, वह धर्ममूलक दान है। जो व्यक्ति यश पाने के लोभ में दान करता है, उस दान को अर्थमूलक दान कहते हैं। जो व्यक्ति यह सोंचकर दान देता है कि यदि मैं इसे दान नहीं दूँगा तो यह मेरा अनिष्ट करेगा, ऐसे दान को भयमूलक दान कहते हैं। जो व्यक्ति यह सोंचकर दान देता है कि यह मेरा प्रिय है और मैं इसका प्रिय हूँ, वह दान कामना मूलक दान है। जो व्यक्ति किसी गरीब को याचना करने पर दान देता है वह दया दान कहलाता है।[२०१]

इसमें दाता भीष्म, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ८८. अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करने के पश्चात् ब्राह्मणों ने शान्तचित्त होकर उस अश्व की चर्बी निकाली और उसका विधिपूर्वक अर्पण यज्ञ में प्रारम्भ किया। जिसने इस चर्बी की गन्ध सूँघी उनके पापों का नाश हो गया। १६ ऋषियों ने यज्ञ किया, यज्ञ समाप्त होने पर व्यास जी ने उन्हें आशीर्वाद दिया। इसके पश्चात् युधिष्ठिर ने सब ब्राह्मणों को एक हजार करोड़ स्वर्ण मुद्रायें दक्षिणा

में दीं और व्यास जी को सम्पूर्ण पृथ्वी दान कर दी। व्यास जी ने उस पृथ्वी को ग्रहण करके युधिष्ठिर को पुनः वापस कर दिया। युधिष्ठिर ने पृथ्वी वापस पाकर एक-एक करोड़ की तिगुनी मुद्रायें ब्राह्मणों को दीं। फिर उन्होंने अपने लिये उपलब्ध धन के चार भाग किये और उसे आपस में बाँट लिया। जो स्वर्ण, सोने के आभूषण, तोरण, यूप, घड़े, बर्तन और ईखें थीं, उन्हें युधिष्ठिर की आज्ञा से ब्राह्मणों को बाँट दिया गया। जो धन यज्ञशाला में शेष रह गया था उसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा म्लेच्छ जाति के लोगों को दे दिया गया। व्यास जी को जो स्वर्णमुद्रायें मिली थीं वह उन्होंने कुन्ती को आदर के साथ दे दीं, इसके बाद जो योद्धा वहाँ मौजूद थे उन्हें भी धन देकर विदा किया गया।

''ततो युधिष्ठिरः प्रादाद ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि।
कोटीः सहस्त्रं निष्काणां व्यासांय तु वसंधराम्।।''[२०२]

इसमें दाता युधिष्ठिर, ग्रहीता व्यास ऋषि, देयवस्तु पृथ्वी, दान की कोटि भूमिदान, हर्षदान।

प्रसंग ८६. अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति पर युधिष्ठिर के दरबार में एक नेवला इस आशय से पहुँचा कि उसका भी शरीर स्पर्श से सोने का हो जायेगा, किन्तु जब उसका शरीर सोने का नहीं हुआ तो उसने मनुष्य की भाषा में कहा कि यह यज्ञ तो उस कुरुक्षेत्र निवासी एक उच्छवृत धारी उदार ब्राह्मण के सेर भर सत्तू दान करने के बराबर भी नहीं हुआ है, यज्ञ में उपस्थित ब्राह्मणों को यह सुनकर आश्चर्य हुआ और उन्होनें पूँछा कि तुम यज्ञ की निन्दा क्यों कर रहे हो? इस यज्ञ में तो सभी वर्गों को बिना किसी प्रलोभन के दान दिया गया है, तब नेवले ने उत्तर दिया कि सर्वोत्तम दान यह नहीं है। कुरुक्षेत्र में धर्मात्मा ब्राह्मणों का निवास था, उनमें से एक ब्राह्मण परिवार एक-एक दाना बीनकर लाते थे और उसी से अपना परिवार चलाते थे, वे अपने स्त्री, पुत्र और पुत्रवधू के साथ तपस्या में संलग्न थे। वे प्रत्येक तीन दिन में एक बार भोजन करते थे। एक बार इस क्षेत्र में भयंकर अकाल पड़ा तो सभी निर्धन हो गये, उनके परिवार में अन्न का एक दाना नहीं था, किसी प्रकार उन्होंने सेर भर जौ का उपार्जन किया, उससे सत्तू बनाया और खाने को तैयार हुए, उसी समय एक अतिथि आया, उन्होंने अपना सत्तू ब्राह्मण अतिथि को दे दिया। ब्राह्मण अतिथि तृप्त नहीं हुआ तो उन्होंने अपनी पत्नी, पुत्र तथा पुत्रवधू का भी सत्तू उसे दे दिया। उस ब्राह्मण के इस अन्नदान को देखकर देवता बहुत प्रसन्न हुए और वे पूरे परिवार को स्वर्गलोक ले गये, उन्हीं की कुटिया के पास मेरा बिल था, मैंने भी बाहर निकलकर उस सत्तू का कुछ अंश जमीन से चाट लिया। बहुत से लोग भूख-प्यास से व्याकुल होकर धीरज त्याग देते हैं, उनका ज्ञान लुप्त हो जाता है, किन्तु जो भूख को जीत लेता है वह निश्चित ही स्वर्ग पाता है। दानदाता व्यक्ति धर्म को श्रेष्ठ मानता है उसके पीछे भूख-प्यास को कुछ नहीं गिनता। न्यायोचित धन कमाकर सही पात्र को धन दान करना श्रेष्ठ कार्य है। इसमें श्रद्धा का सबसे बड़ा महत्व है। स्वर्गद्वार की सबसे बड़ी बाधक लोभरूपी बिल्ली है। जब तक लोभ रहेगा तब तक वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। यदि किसी

व्यक्ति के पास हजार देने की शक्ति हो तो वह १०० का दान करे। १०० देने की शक्ति हो तो १० दान करे। जिसके पास कुछ न हो वह जलदान करे, इन सबका फल बराबर है। मेरा शरीर उस तपस्वी का जूँठन खाने से अर्द्धस्वर्ण का हो गया है, इसलिये उस गरीब ब्राह्मण के दान का फल आप अपनी आँखों से देख लीजिये। एक तुम्हारा यज्ञ है, जो मुझे वैसा नहीं बना सका। यह यज्ञ सेर भर सत्तू के कणों के समान भी नहीं है। किसी भी प्राणी से द्रोह न करना, मन में सन्तोष रखना, शील और सदाचार का पालन करना, सवके प्रति सरलतापूर्ण बर्ताव करना, इन्द्रियों को संयम में रखना, सत्य बोलना और न्याय से उपार्जित वस्तु का श्रद्धापूर्वक दान करना, यह बड़े-बड़े यज्ञों के समान है।[२०३]

"सक्तुप्रस्थलवैस्तैर्हि तदाहं कांचनीकृतः। नहि यज्ञो महानेष सदृशस्तैर्मतो मम।।
अद्रोहः सर्वभूतेषु संतोषः शीलमार्जवम्। तपो दमश्च सत्यं च प्रदानं चेति सम्मितम्।।"[२०४]

इसमें दाता नेवला, ग्रहीता युधिष्ठर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ६०. युधिष्ठिर ने भगवान कृष्ण से वास्तविक धर्म की जानकारी प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। इस पर भगवान ने कहा कि १४ जन्म व्यर्थ समझे जाते हैं, और ५५ प्रकार के दान बेकार होते हैं। जिनका जीवन बेकार है, उनकी संख्या ६ है, जो धर्म का नाश करने वाले, लोभी, पापी, बलिवैश्वदेव किये बिना भोजन करने वाले, परस्त्रीगामी, भोजन में भेद करने वाले, असत्यवादी हैं उनका जन्म व्यर्थ है। जो व्यक्ति अपने भाइयों को कष्ट देता है, अकेले मिठाई खाता है, माता-पिता, अध्यापक, गुरु, मामा-मामी को मारता पीटता है और गाली देता है, जो ब्राह्मण होकर सन्ध्या उपासना नहीं करता, जो ब्राह्मण होकर शूद्र का अन्न खाता है, जो ईश्वर उपासना नहीं करता, उसका जन्म व्यर्थ है। इसी प्रकार जो दान अश्रद्धा या अपमान के साथ दिया जाता है या दिखावे के लिये दिया जाता है, जो पाखंड से युक्त शूद्र के समान आचरण करने वालों को दिया जाता है, जिस दान का बखान अपने मुँह से बार-बार किया जाता है, जिस दान के पीछे पश्चाताप किया जाता है, जो हरण किये हुए धन का दान करता है, जो दान पतित मूर्ख ब्राह्मणों को दिया जाता है, जो दान वेश्यागामी ब्राह्मण को और ससुराल में रहने वाले ब्राह्मण को दिया जाता है, जो दान वेद बेंचने वाले ब्राह्मण को दिया जाता है, जो दान स्त्री को वश में करने के लिये, राजसेवक को अपने अनुकूल बनाने के लिये, ज्योतिषी को, तान्त्रिक को, शूद्र जाति की स्त्री के साथ सम्बन्ध रखने वाले को, अस्त्र-शस्त्र से जीविका चलाने वाले को, नौकरी करने वाले को, साँप पकड़ने वाले को तथा पुरोहिती करने वाले को दिया जाता है वह दान बेकार है, उसका कोई फल नहीं होता। इसी प्रकार जो दान वैद्य को, बनिया का काम करने वाले को, क्षुद्र मन्त्र जपकर जीविका चलाने वाले को, शूद्र के यहाँ गुजारा करने वाले को, वेतन लेकर मन्दिर में पूजा करने वाले को, धार्मिक सम्पत्ति को खा जाने वाले को, तस्वीर बनाने का काम करने वाले को, रंगभूमि में नाच-कूद कर जीविका चलाने वाले को, माँस बेंचकर जीवन निर्वाह करने वाले को, ब्राह्मणोचित आचार से हीन होकर अपने को ब्राह्मण बताने वाले को, उपदेश देने की शक्ति न रखने वाले को,

ब्याजखोर को, अनाचारी को, यज्ञ और सन्ध्या उपासना न करने वाले को, शूद्र के गाँव में निवास करने वाले को, झूँठा वेश धारण करने वाले को, सबके साथ खाने वाले को, नास्तिक को, धर्म विक्रेता को, नीचवृत्ति वाले को, झूठी गवाही देने वाले को, कूटनीति का आश्रय लेकर गाँव में लड़ाई-झगड़ा कराने वालों को देने वाला दान निष्फल होता है। जो व्यक्ति तर्कशास्त्री हैं और परमात्मा में विश्वास नहीं करते, उनको भी दान नहीं देना चाहिए। जो व्यक्ति धन होने पर भी दान नहीं करता वह बेकार है। तमोगुण से युक्त व्यक्ति का दान भी कोई फल नहीं देता। ईर्ष्या और लोभ से दिया गया दान भी बेकार है। जो व्यक्ति स्नान करके, पवित्र होकर मन और इन्द्रियों को प्रसन्न रख, श्रद्धा के साथ दान करता है, उसी को दान का फ़ल मिलता है। जो व्यक्ति देने योग्य वस्तु ले जाकर श्रद्धापूर्वक सत्पात्र को देता है, वही दान का उत्तम फल पाता है। दान का फल और दान सात्विक, राजस और तामस होता है। जो व्यक्ति दान देना अपना कर्तव्य समझकर उपकार न करने वाले ब्राह्मण को दान देता है वही दान सात्विक है। बड़े कुटुम्ब वाले वेदपाठी, गरीब ब्राह्मण को दान देना सात्विक दान है। ऐसे ब्राह्मण को दान देना जो वेद का एक अक्षर भी नहीं जानता, जिसके घर में काफी सम्पत्ति मौजूद है तथा जो पहले कभी अपना उपकार कर चुका है, ऐसे ब्राह्मण को दान देना राजस दान की कोटि में आता है। जो ब्राह्मण यज्ञ नहीं करता, वेद का ज्ञान नहीं रखता तथा चोरी करता है, उसको दान देना तामस दान है। सेवक को दिया हुआ दान भी तामस दान कहलाता है। सात्विकी दान से देवता, पितर और मुनि प्रसन्न होते हैं। राजस दान दानव, दैत्य, ग्रह और यक्ष ग्रहण करते हैं। तामस दान का फल प्रेत और पिशाच भोगते हैं। सात्विक दान उत्तम, राजस दान मध्यम और तामस दान निम्न कोटि का होता है। इसी प्रकार जो दान सबके सामने दिया जाता है, वह उत्तम होता है, जो दान ग्रहीता को बुलाकर दिया जाता है, वह मध्यम होता है। जो दान याचक के याचना करने पर दिया जाता है, वह निम्नफल दायी होता है। जो दान यज्ञ करने वाले अग्निहोत्री ब्राह्मणों को दिया जाता है वह अक्षयदान कहलाता है, इसलिये दान करते रहना चाहिए।[२०५]

इसमें दाता श्रीकृष्ण, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ९१. भगवान कृष्ण ने युधिष्ठिर को बतलाया कि गौ का दान श्रेष्ठ है, चूँकि कपिला गाय को ब्रह्मा जी ने स्वयं उत्पन्न किया था इसलिये कपिला गाय का दान सर्वोत्तम होता है। कपिला गाय का घी, दही और दूध यज्ञ करने के लिये उत्तम है। कपिला गाय के सींगों में तीर्थों का निवास है, यह पाप भस्म करने वाली है। जो व्यक्ति कपिला गाय के गोबर और मूत्र से स्नान करता है वह रोगमुक्त और पापमुक्त हो जाता है। कपिला गाय का दर्शन करने वाला, कपिला गाय को घास खिलाने वाला, कपिला गाय का दान करने वाला व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है। ये दस प्रकार की होती हैं- १. स्वर्ण कपिला, २. गौरी पिंगला, ३. आरक्त पिंगाक्षी, ४. गल पिंगला, ५. बभ्रवर्णाभा, ६. श्वेता पिंगला, ७. रक्त पिंगाक्षी, ८. खुर पिंगला, ९. पाटला, १०. पुच्छ पिंगला। पिंगला गाय के बैल केवल ब्राह्मण ही अपनी बैलगाड़ी में जोते। जब बैल भूखे हों तब न जोतें। भारी सामान

इन बैलों की पीठ पर न ढोयें। कहते हैं कि इन गायों का दान करने से और यज्ञ में दक्षिणा करने से उत्तम फल की प्राप्ति होती है। दान में दी हुयी गाय विभिन्न गुणों द्वारा कामधेनु बनकर परलोक पहुँचती हैं और दाता का उद्धार करती है।[२०६]

इसमें दाता श्रीकृष्ण, ग्रहीता युधिष्ठिर, देयवस्तु उपदेश, दान की कोटि ज्ञानदान।

प्रसंग ६२. विदुर जी की सलाह पर धृतराष्ट्र ने भीष्म पितामह और अपने पुत्रों के श्राद्ध के लिये सुयोग्य ब्रह्मर्षियों, सहस्त्रों मित्रों को आमंत्रित किया। उनके स्वागत के लिये अन्न-पान, सवारी, ओढ़ने के वस्त्र, सुवर्ण, मणि, रत्न, दास-दासी, भेंड़, बकरे, कम्बल, उत्तम रत्न, ग्राम, खेत, धन, आभूषण से विभूषित हाथी और घोड़े और सुन्दर कन्यायें एकत्र कीं, उसके पश्चात् यज्ञ किया। एक-एक व्यक्ति का नाम लेकर उपर्युक्त वस्तुओं का दान किया। द्रोण, भीष्म, सोमदत्त, बाह्लीक, दुर्योधन तथा अन्य पुत्रों का एवं जयद्रथ आदि सगे सम्बन्धियों का नाम उच्चारण करके पृथक-पृथक दान दिया गया। दान के पश्चात् दक्षिणा भी दी गई। इस अवसर पर भाँति-भाँति के भोजन, पेय पदार्थ से सबको सन्तुष्ट किया गया।

''उद्दिश्योद्दिश्य सर्वेभ्यो ददौ स नृपसत्तमः। द्रोणं संकीर्त्य भीष्मं च सोमदत्तम च बाह्लिकम्।।
दुर्योधनं च राजानं पुत्रांश्चैव पृथक पृथक। जयद्रथपुरोगांश्च सुहृदश्चापि सर्वशः।।''[२०७]

इसमें दाता धृतराष्ट्र, ग्रहीता ब्रह्मर्षि, देयवस्तु अन्न, पान, सवारी, वस्त्र, सुवर्ण, मणि, रत्न, दास-दासी, भेंड़, बकरे, ग्राम, खेत, हाथी, घोड़े, कन्यायें, दान की कोटि अन्त्येष्टि संस्कारदान।

महाभारत में वर्णित दानों का मूल्यांकन– महाभारत भारतीय संस्कृति का दर्पण है तथा विश्व का सबसे बड़ा महाकाव्य है। लगभग ७००० पृष्ठों में लिखा गया यह महाकाव्य रचयिता की प्रखर बुद्धि का परिचायक भी है। जहाँ एक ओर यह कौरव-पाण्डव के मध्य होने वाले विशालतम् गृहयुद्ध के कारण और युद्ध के दृश्य तथा उसके परिणामों को प्रदर्शित करता है, वहीं दूसरी ओर इस महाग्रन्थ में मानवजीवन के महान मूल्यों का विश्लेषण भी अधिक रुचिकर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। व्यास शैली को अपनाकर कथावार्ता का सहारा लेते हुए विषय को इस तरह से समझाया गया है कि कोई भी श्रोता या पाठक उसे आसानी से समझ सकता है। इस ग्रन्थ में यह भी बतलाया गया है कि जब व्यक्ति मानव मूल्यों से नीचे गिर जाता है तो वह पतित होकर सर्वनाश को प्राप्त होता है। यदि वह उनका समादर करते हुए अनुपालन करता है तो वह मानव जीवन का उच्च आदर्श प्राप्त करके चिरंजीवी हो जाता है।

धर्म को परिभाषित करते हुए इसका रचनाकार यह कहता है कि जप, तप, दान और ज्ञान धर्म के चार स्थाई अंग हैं। जप के माध्यम से व्यक्ति परमात्मा की आराधना करता है, सन्ध्या उपासना करता है तथा अन्य धार्मिक कृत्य करता है। मनुष्य का शरीर नश्वर है तथा उसकी आत्मा अनश्वर है। जीव का सीधा सम्बन्ध परमात्मा से है। परमात्मा और जीव थोड़े समय के लिये पृथक होते हैं और फिर एक हो जाते हैं। परमात्मा से पृथक हुआ जीव परमात्मा का स्मरण जप

के माध्यम से करता है। यदि व्यक्ति संयमी, आत्मनिग्रही और कष्ट सहन करने की क्षमता पैदा कर लेता है और लक्ष्य विशेष की प्राप्ति के लिये जो कठोर परिश्रम वह करता है उसे धर्मशास्त्र के अनुसार तप कहा जाता है। जब व्यक्ति मानव शरीर धारण करता है और वह दूसरे के सम्पर्क में आता है उस समय उसकी यह जिज्ञासा रहती है कि वह अपनी उत्पत्ति, जीव और आत्मा, संसार और पंचतत्वों के बारे में जानकारी प्राप्त करे। उचित गुरु के निर्देशन में शब्द ज्ञान के साथ-साथ बौद्धिक क्षमता देता हुआ वह वेदों और शास्त्रों का अध्ययन करता है तथा ग्रन्थों में वर्णित सत्य को निजी जीवन के सत्य से तौलता है, इस तरह वह सत् और असत् का अन्तर समझता हुआ ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान से उसे नयी जीवन दृष्टि, यथार्थ बोध एवं वैयक्तिक कर्तव्य बोध का आभास होता है। ज्ञानोपार्जन के पश्चात् वह गृहस्थ जीवन से लेकर सन्यास जीवन और जीवन के अन्त तक धर्मदर्शन का अनुसरण करता हुआ जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करता है। व्यक्ति जब अपने जीवन की तरह दूसरे का जीवन भी मानने लगता है उस समय उसे यह बोध होता है कि वह दूसरों को सहयोग दे और स्वतः दूसरों से सहयोग ले। वह जीविकोपार्जन के लिये धन की प्राप्ति, सेवा, उद्योग एवं कृषि से करता है। जब धन उसके पास निजी आवश्यकता से अधिक हो जाता है तो वह उस धन को उदारता पूर्वक उन निःस्वार्थ जरूरतमन्द प्राणियों को देता है जो उसके लिये और समाज के लिये महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। उदारतापूर्वक धन देने की इस भावना को धर्मशास्त्रों ने और महाभारत ने दान की संज्ञा प्रदान की है।

महाभारत में दान से संदर्भित प्रसंगों को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं, सर्वप्रथम हम इसमें दान उपदेश सर्वाधिक मात्रा में प्राप्त करते हैं, इस प्रकार के दान उपदेश सम्पूर्ण १८ पर्वों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। इनमें दान की परिभाषा तथा दान का महत्व, दान का वर्गीकरण दृष्टिगोचर होता है। दान की द्वितीय श्रेणी दान क्रिया के रूप में देखी जाती है। इस श्रेणी में विशेष परिस्थिति में अथवा विभिन्न संस्कारों में, महोत्सवों, यज्ञों, यात्रा के प्रारम्भ, भवन निर्माण आदि अवसरों पर दान दाता दान देता है तथा ग्रहीता दान ग्रहण करता है। दान देने वाली वस्तुओं का वर्णन भी हमें महाभारत में विस्तारपूर्वक उपलब्ध होता है। इससे देयवस्तु तथा दान की कोटि भी स्पष्ट हो जाती है। इस तरह के विवरण भी महाभारत में सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। दान की तृतीय श्रेणी दानफल से सम्बन्धित है, इस प्रकार के आख्यानों में यह देखने को मिलता है कि दान दाता दान देने के पश्चात् क्या अनुभव करते हैं और याचक किस प्रकार की अनुभूति करता है। महाभारत में दानदाता को यह आश्वासन मिलता है कि वह अपने दान से स्थाई यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा, उत्तम गति को प्राप्त करेगा, स्वर्गगामी होगा, देवताओं का प्रिय बनेगा और मोक्ष प्राप्त करेगा। याचक को भी यह आत्मसंतुष्टि मिलती है कि वह दान से उपलब्ध धन का सदुपयोग करेगा।

वस्तुओं एवं दान की कोटियों के हिसाब से यदि महाभारत में प्राप्त दान का विश्लेषण किया जाय तो सोलह प्रकार के महादान जिन्हें श्रेष्ठ माना गया है उनके उदाहरण इस ग्रन्थ में

मिलते हैं। मुख्य रूप से अन्नदान, जलदान, वस्तुदान, रत्न आभूषण दान, धनदान, गोदान के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त प्राणदान, क्षमादान, अभयदान, आत्मदान के उदाहरण भी इसमें उपलब्ध होते हैं। इस महाकाव्य में जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कारों से जुड़े हुए दानों का वर्णन भी मिलता है। इनमें हर्षदान, कन्यादान, अन्त्येष्टि संस्कारदान के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त दानदाता और ग्रहीता के गुण-दोषों का वर्णन भी इसमें सविस्तार मिलता है। वस्तुओं की जो संख्या दान के रूप में दी गई है वह अतिशयोक्तिपूर्ण लगती है। तद्‌युगीन जनसंख्या, अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था को देखते हुए इस प्रकार के अतिशयोक्तिपूर्ण कथन यथार्थ से बहुत दूर लगते हैं।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. मम्मटाचार्य, काव्यप्रकाश, संपा०, द्विवेदी, पारसनाथ, आगरा, पृष्ठ ७।

२. वही।

३. वही, पृष्ठ १३।

४. रामायण, बालकाण्ड, २,१५।

५. रामायण का विमर्शात्मक संस्करण बड़ौदा विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है।

६. पार्जिटर, ऐंशियन्ट इन्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन्स।

७. विण्टर्निज, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृष्ठ ५०३।

८. महाभारत, वनपर्व, अध्याय २७३-६३।

६. वही, ८५, ६५।

१०. वही, ८४, ७०।

११. रामायण, १, १०६, ३४।

१२. दास, उबेर, रामायण, पृष्ठ ६।

१३. रायचौधरी, हेमचन्द्र, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ १४१।

१४. रामायण, बालकाण्ड, ३१।

१५. वही, ५,६।

१६. वही, उत्तरकाण्ड, १०८, ५।

१७. वही, बालकाण्ड, ४७, ११-२०।

१८. मिथिला में जनकवंशी नरेशों का आधिपत्य था, उस समय मिथिला के राजा का नाम सीरजध वज जनक था- दृष्टव्य रामायण, बालकाण्ड, ५०।

१६. विण्टर्निज, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ५०३।

२०. रामायण, बालकाण्ड, २, १५।

२१. वही, २, १८।

२२. संकरन, ए०, सम आस्पेक्ट्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत, १६२६, पृष्ठ ६-७।

२३. रामायण, अयोध्याकाण्ड, ४२, ३।

२४. वही, युद्धकाण्ड, ११३।

२५. वही, बालकाण्ड, १, ५।

२६. वही, १, ६।

२७. वही, ४, २०-२१।

२८. वही, ४, २२-२५।

२६. वही, १४, ५०-५४।

३०. वही, १८, २० व २३।

३१. वही, २५, ८।

३२. वही, २७, २।

३३. वही, २८, ११।

३४. वही, २६, २०-२१।

३५. वही, ३५, १७-१८।

३६. वही, ६५, ५-६।

३७. वही, ६६, १२-१३।

३८. वही, ७२, २३-२४।

३९. वही, ७३, २९-३०।

४०. वही, ७४, ३-५।

४१. वही, ७५, २५।

४२. वही, अयोध्याकाण्ड, ७, ३२।

४३. वही, २५, ३०-३१।

४४. वही, ३२, ११।

४५. वही, ३२, ४५।

४६. वही, ७७, २-३।

४७. वही, १०३, २७-२८।

४८. वही, ११८, १८-१९ व २२।

४९. वही, अरण्यकाण्ड, १२, ३७।

५०. वही, ३१, ८-९।

५१. वही, ६८, ३२-३३ व ३६।

५२. वही, किष्किन्धाकाण्ड, २५, ५२।

५३. वही, सुन्दरकाण्ड, १, १३९ व १४३।

५४. वही, ३, ४४।

५५. वही, ६३, २।

५६. वही, युद्धकाण्ड, १८, ३३ व ३६।

५७. वही, २२, ४३।

५८. वही, ११२, २१-२२।

५९. वही, १२१, १०।

६०. वही, १२८, ७०-८७।

६१. वही, उत्तरकाण्ड, १, १३।

६२. वही, २, ३८-४०।

६३. वही, ७६, ३०-३१ व ४६-४७।

६४. वही, ७८, २३ व २६।

६५. वही, ६२, १४-१६।

६६. वही, ६६, १८।

६७. महाभारत, आदिपर्व, ५६, ५२।

६८. विस्तृत अध्ययन के लिये दृष्टव्य, गैरोला, वाचस्पति, संस्कृत साहित्य का इतिहास।

६९. महाभारत- मंगल श्लोक।

७०. 'जय' नामेतिहासोऽयम्।

७१. महाभारत।

७२. आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३, ३, १।

७३. देखिये- भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट की पत्रिका, भाग १८, पृष्ठ १७६ एवं नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ४५, पृष्ठ १०५-६२।

७४. दृष्टव्य- गीतारहस्य, पृष्ठ ५५६-६४।

७५. हरिवंश पुराण, २४, २०; २१।

७६. महाभारत, शान्तिपर्व, २६१, १७।

७७. आश्वलायन, गृह्यसूत्र, ३, ४, ४।

७८. बौधायन धर्मसूत्र, २, २, २६।

७९. महाभारत, अदिपर्व, ७८, १०।

८०. बौधायन गृह्यसूत्र, २, २२, ६।

८१. भगवद्गीता, ६, २६।

८२. महाभारत, शान्तिपर्व, ३३६, १००।

८३. वही, अनुशासनपर्व, १४७, २५-३३।

८४. मैकडोनल्ड, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ २८५।

८५. ब्यूलर, इण्डियन स्टडीज, भाग २, १८९२, पृष्ठ ५।

८६. बाणभट्ट, हर्षचरित-प्राक्कथन रूप में श्लोक ४-१०।

८७. विण्टर्निज, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ४६४।

८८. मुकर्जी, राधाकुमुद, हिन्दू सिविलाइजेशन।

८९. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय७१।

९०. वही, वनपर्व, अध्याय २७४-२९१।

९१. वही, अध्याय १३०।

९२. वही, अध्याय २३६।

९३. वही, अध्याय ५२-७९।

९४. वही, हरिवंशपर्व, अध्याय १६-२६।

९५. विष्णुपर्व, अध्याय १५०।

९६. वही, अध्याय १८४।

९७. महाभारत, भविष्यपर्व, अध्याय १९१-९६।

९८. वही, आदिपर्व, २, २८।

९९. वही, २, २८-८३।

१००. वही, २, ८४।

१०१. उपाध्याय, बल्देव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७१-७२।

१०२. महाभारत, अश्वमेधपर्व, ४३, २७।

१०३. वही, शांतिपर्व, अध्याय ६८।

१०४. वही, आदिपर्व, ८, १६।

१०५. वही, ६, ४; १२, ७१।

१०६. वही, ५८, ११-१३।

१०७. वही, ७४, १३०।

१०८. वही, ७९, ४।

१०९. वही, ८२, १३ व २५।

११०. वही, ८७, १३।

१११. वही, ९०, २२।

११२. वही, ९१, ३।

११३. वही, ९३, १८।

११४. वही, ९३, २३-२४।

११५. वही, ९३, १०९।

११६. वही, ११०, २७-२९।

११७. वही, ११३, ५।

११८. वही, १२५, २-३; १२६, २८।

११९. वही, १३३, २२।

१२०. वही, १६९, ३७ व ५६-५७।

१२१. वही, १७१, १८; १७२, ३३।

१२२. वही, २०६।

१२३. वही, २१३, ३२-३३।

१२४. वही, २१४,३।

१२५. वही, २१४, १०।

१२६. वही, २१८, २।

१२७. वही, २२०, ६६।

१२८. वही, सभापर्व, १, २०।

१२९. वही, ४, ४-५।

१३०. वही, १२, १५-१७।

१३१. वही, २४, ४२।

१३२. वही, ३३, ५२।

१३३. वही, ३३, ४५।

१३४. वही, ३३, ५८।

१३५. वही, वनपर्व, २, ५५ व ७५।

१३६. वही, ३, ७२-७३।

१३७. वही, २३, २।

१३८. वही, ६६, २७।

१३९. वही, ६४, २।

१४०. वही, ६५, ६।

१४१. वही, १००, २२।

१४२. वही, १०६, १६।

१४३. वही, ११४, १८।

१४४. वही, ११७, ११-१३।

१४५. वही, ११८, ७।

१४६. वही, ११८, १४।

१४७. वही, १२१, १८।

१४८. वही, १२६, ४१।

१४९. वही, १६५, ५-६।

१५०. वही, १६७, २२-२३।

१५१. वही, १६८, २६।

१५२. वही, २००, १-१२९।

१५३. वही, २६५, १६।

१५४. वही, विराटपर्व, २६५, ३४।

१५५. वही, ६७, ५।

१५६. वही, ७२, २० व २८।

१५७. वही, उद्योगपर्व, ६४, १०-११।

१५८. वही, १०४, ११ व २६।

१५६. वही, ११५, १२।

१६०. वही, १४६, २६।

१६१. वही, १५१, ६२।

१६२. वही, १५६, ३२-३३।

१६३. वही, भीष्मपर्व, २२, ८।

१६४. वही, द्रोणपर्व, १७, २६।

१६५. वही, ५६, ६।

१६६. वही, ५७, १-१२।

१६७. वही, ६०, २।

१६८. वही, ६१, २।

१६६. वही, ६४, १२।

१७०. वही, ६५, ५-८।

१७१. वही, ६६, ८-६।

१७२. वही, ६७, ६ व १६।

१७३. वही, ६६, २६-३१।

१७४. वही, ८२; १७-१६।

१७५. वही, ११२, ६१।

१७६. वही, स्त्रीपर्व, २७, ३-४।

१७७. वही, शान्तिपर्व, ३६, १-५०।

१७८. वही, ४२, २-३।

१७६. वही, ४२, ५-६।

१८०. वही, ४५, ७-६।

१८१. वही, ७६, ११।

१८२. वही, २३४, ३८

१८३. वही, अनुशासनपर्व, ६, २६-२७।

१८४. वही, २२, १-४१।

१८५. वही, ३७, १-१८।

१८६. वही, ५७, १-४४।

१८७. वही, ५८, १-३३।

१८८. वही, ५८, ३३।

१८६. वही, ५६, १-४१।

१६०. वही, ६०, १-२०।

१६१. वही, ६१, १-३८।

१६२. वही, ६२, १-६६।

१६३. वही, ६२, २।

१६४. वही, ६३, १-५२।

१६५. वही, ६४, १-३६।

१६६. वही, ६५, १-१६।

१६७. वही, ६६, १-६५।

१६८. वही, ६७, १-१६; ६८, १-३४।

१६६. वही, ६६, १-२२।

२००. वही, १३७, १-३२।

२०१. वही, १३८, १-११।

२०२. वही, अश्वमेधपर्व, ८६, ७।

२०३. वही, ६०, १-१२०।

२०४. वही, ६०, ११५ व १२०।

२०५. वही, अध्याय ६२।

२०६. वही।

२०७. वही, आश्रमवासिकपर्व, १४, ५-६।

चतुर्थ अध्याय

दान की समाजार्थिक पृष्ठभूमि

मानव का स्वभाव प्रारम्भ से ही समूह में रहने का रहा है, वह समूह के सहयोग से ही अपने जीवन का विकास और जीवन की पूर्णता के उद्देश्य को प्राप्त करता रहा है। यदि प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर हम विहंगम दृष्टि डालते हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति के व्यवहार तथा कार्यप्रणाली से ही सभ्यता का उदय हुआ है। कालान्तर में इस व्यवहार और कार्यप्रणाली को प्राकृतिक पर्यावरण भी प्रभावित करता रहा है। व्यक्ति सदैव से यह अनुभव करता रहा है कि वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वतः नहीं कर सकता, इसलिये उसे कार्य विभाजित करके स्वतः अपने लिये और दूसरों की आवश्यकताओं के लिये कार्य करना पड़ता है, इस तरह से वह व्यक्ति को सहयोग देता है और सहयोग लेता है। एकाकीपन मनुष्य का स्वभाव नहीं है इसलिये वह दूसरों को अपने अनुभव बाँटता है और दूसरों से अनुभव ग्रहण करता है, इसी सिद्धान्त के अनुसार समाज और ज्ञान की अवधारणा का जन्म हुआ, जिसने समाज और ज्ञान को ठोस स्वरूप प्रदान किया।

भारतीय सभ्यता का विकास जिसके सन्दर्भ में ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध होते हैं वह वैदिक युग हैं। चार वेद जो उपलब्ध होते हैं उन्हें हम तद्‌युगीन ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में ग्रहण करते हैं। इन वेदों से तद्‌युगीन सामाजिक जीवन की भी झलक मिलती है।

वैदिक युगीन सामाजिक व्यवस्था– ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार आर्यों ने अपने को स्थायित्व प्रदान करने के लिये यहाँ के निवासी अनार्यों को वनों की ओर ढकेल दिया और उन्हें अपना दास बना लिया। इसके पहले अनार्यों के सम्बन्ध में अनेक श्लोकों में यह बात ज्ञात होती है कि यहाँ के निवासी अनार्य, व्यभिचारी, सतीत्व हरण करने वाले, वैवाहिक विश्वासघाती, गर्भपात कराने वाले तथा चोरी और डकैती डालने वाले थे। इससे यह सिद्ध होता है कि आर्य युद्धप्रिय, प्रसन्नचित्त लोग थे। ऋग्वेद के अनुसार इस युग में सामाजिक स्वातन्त्र्य और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा प्रकट करने का अधिकार था।[१] उपरोक्त कथन से यह प्रतीत होता है कि आर्यो का सामाजिक आधार बड़ा ही सुदृढ़ था तथा जिस प्रकार से उन्होंने समाज का वर्गीकरण किया, उस वर्गीकरण से न तो असंतोष उत्पन्न हुआ और न कोई विशेष प्रकार का विवाद इस व्यवस्था से हुआ। इस व्यवस्था का विभाजन आयु, वर्ण, जाति और अनार्यों के आधार पर किया गया।

आश्रम व्यवस्था– आर्यों ने सम्पूर्ण मानव जीवन को १०० वर्ष का माना तथा उसे चार भागों में विभाजित किया। प्रथम आश्रम के रूप में ब्रह्मचर्य आश्रम को मान्यता प्रदान की गई।[२] ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था जन्म से लेकर २५ वर्ष तक की मानी गई। इस आश्रम में रहकर व्यक्ति उपनयन आदि संस्कारों से सम्पन्न होकर गुरु गृह में निवास करता था तथा[३] वेदाध्ययन करने के पश्चात वह सर्वगुण सम्पन्न बन जाता था। इसके पश्चात् वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था, वह ग्रहस्थ आश्रम में रहकर देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथि यज्ञ और भूत यज्ञ सम्पन्न करत

था और इस आश्रम में रहकर विवाह करता था तथा यज्ञ और दान आदि करता था। बौधायन धर्मसूत्र में दो प्रकार के गृहस्थों का उल्लेख मिलता है- प्रथम गृहस्थ, शालीन जिनका अपना घर और सम्पत्ति होती थी। द्वितीय गृहस्थ, यायावर कहलाते थे जो सम्पत्ति एकत्र नहीं करते थे।[४] महाभारत में भी गृहस्थ जीवन को ही श्रेष्ठ माना गया है, यथा-

"सिद्धिक्षेत्रमिदं पुण्यमयमेवाश्रमो महान।"[५]

गृहस्थाश्रम का मुख्य उद्देश्य धन और भौतिक सुखों को प्राप्त करना था, इसके पश्चात् व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। जब व्यक्ति के बाल सफेद पड़ जाते थे, शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाती थीं, उस समय वह परिवार की जिम्मेदारी योग्य व्यक्ति को सौंपकर घर गाँव से वन की ओर प्रस्थान करता था और इन्द्रियों को अपने वश में रखता था।[६] वानप्रस्थी किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं करता था। वह यज्ञ, दान आदि करके जीवन गुजारते थे। इसके पश्चात् व्यक्ति सन्यास आश्रम में प्रवेश करता था, इस आश्रम की अवधि ७५ वर्ष से जीवन के अन्त तक थी। इसमें वह सांसारिक जीवन को पूर्णरूपेर्ण त्याग देता था।[७] वह किसी पर आश्रित नहीं रहता था तथा अपने लिये भिक्षा माँगने का अधिकारी था, वह सुख-दुःख की कोई परवाह नहीं करता था तथा जीवन के अन्त तक वह सन्यास की दिनचर्या को अपनाये रहता था।

आश्रम व्यवस्था व्यक्ति के जीवन को विभाजित करके उसे महत्वपूर्ण बनाती थी तथा कर्म को धर्म से जोड़ने में सहायक थी।इस पद्धति का अनुसरणकर्ता आदर्श व्यक्ति माना जाता था।

वर्ण व्यवस्था- वैदिक युग ने जहाँ व्यक्ति के जीवन को चार भागों में विभाजित किया था, वहीं सम्पूर्ण समाज को भी चार भागों में विभाजित किया। मुख्य रूप से यदि समाज का वास्तविक विभाजन देखा जाय तो पूरे भारतवर्ष में दो ही वर्ण थे, पहला आर्यवर्ण और दूसरा दासवर्ण। इन दोनों वर्णों में संस्कृतियों और शारीरिक रंग का अन्तर था। आर्य गौरवर्ण थे और अनार्य काले वर्ण के थे, उनके बालों का रंग काला था तथा नाक चपटी थी। ऋग्वेद में इनके लिये मृध्रवाच, अकर्मन्, अयज्वन्, अदेवयु, अब्रह्मन, अव्रत, अन्यव्रत, देवपीयु और शिश्नदेव आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनकी भाषा भी आर्यों की भाषा से अलग थी तथा ये आर्यों के देवताओं को भी नहीं मानते थे। ऋग्वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्णों का उल्लेख प्राप्त होता है।[८] लेकिन दशम मण्डल में चारो वर्णों के विद्यमान होने का संकेत मिलता है।[९] उसमें लिखा है कि एक वर्ण सूर्योदय होने, उच्च आदर्श पर पहुँचने के लिये, दूसरा वर्ण उच्च महिमा प्राप्त करने के लिये और तीसरा लाभप्राप्ति के लिये तथा चौथा परिश्रम करने के लिये है। ऋग्वेद में यह उल्लेख मिलता है कि व्यवसाय चुनना वंश परम्परा के अनुसार नहीं था, इसमें एक व्यक्ति कहता है कि "मैं कवि हूँ, मेरे पिता एक वैद्य थे और मेरी माता आटा पीसती थी, हम सभी धन और पशु की कामना करते हैं।[१०]

उत्तर वैदिक काल आने पर वर्ण व्यवस्था जटिल हुयी तथा ब्राह्मणों का महत्व बढ़ गया, फिर भी शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि कोई व्यक्ति ज्ञान से ब्राह्मण बनता है,

जन्म से नहीं।[११] ऐतरेय ब्राह्मण में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में कोई भेद नहीं माना गया। यदि कोई राजा चाहे तो वह दीक्षा प्राप्त करके ब्राह्मणत्व में प्रवेश कर सकता था। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जो कोई यज्ञ करता है वह मानों प्रथम ब्राह्मण बनकर ऐसा करता है।[१२] इसका यह अर्थ है कि वैश्य भी यज्ञ के द्वारा ब्राह्मण बन सकता था। किन्तु धर्मसूत्रों के काल में जातीय बंधन कठोर कर दिये गये और उनकी संस्कार व्यवस्था भी अलग-अलग कर दी गई। पहले पुरोहित किसी भी वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकता था किन्तु सूत्रकाल में इस पर प्रतिबन्ध लग गया और ब्राह्मण को ब्राह्मण से ही विवाह करने को बाध्य कर दिया गया। सूत्र ग्रन्थों की रचना लगभग ४००ई०पू० में प्रारम्भ हुयी थी तथा यह ३००ई०पू० तक लिखे जाते रहे, इन सूत्रग्रन्थों में आपस्तम्ब धर्मसूत्र और गौतम धर्मसूत्र का महत्व अधिक है। इस युग तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्ग थे तथा इनकी भी अनेक उपजातियाँ बनीं। ये उपजातियाँ लोहार, कुम्हार, मछुवा, गणक, ग्वाले, बढ़ई, धीवर, नापित, धोबी, जुलाहे, कलवार आदि थे।

जाति व्यवस्था- जाति का आधार जन्म है अर्थात् बालक जिस जाति के माता-पिता के यहाँ जन्म लेता है वही उसकी जाति होती है। यह जाति जन्म से तथा अपनी ही जाति की कन्या से विवाह के लोक व्यवहार से, परम्पराओं से, क्रय-विक्रय से तथा नागरिक आधारों से पहचानी जाती है। जातीय नियमों का उल्लंघन सामाजिक अपराध था। इनमें पत्नी को निर्वाह के लिये धन न देना, रखैल स्त्री रखना, परस्त्रीगमन, परस्त्री का शीलभंग करना, ऋण न चुकाना और ब्राह्मण का अनादर करना सामाजिक अपराध माने जाते थे। यदि कोई परम्परागत नियमों का उल्लंघन करता था तो जातीय पंचायत का मुखिया या सरपंच उसे दंडित कर सकता था किन्तु ब्राह्मण और क्षत्रियों में पंचायत व्यवस्था नहीं थी। जातिप्रथा का उदय मुख्य रूप से ३०० ई०पू० से लेकर २०० ई० के मध्य हुआ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति में जातीय आधार पर कर्म का विभाजन हुआ। इसी समय से जाति की उत्पत्ति मानी जा सकती है। इसमें कौटिल्य ने उच्च जातियों के लिये वेदों का अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान ग्रहण करना बतलाया है। क्षत्रियों को जीवन निर्वाह के लिये शस्त्रों का प्रयोग, प्राणियों की रक्षा, वैश्यों को कृषि, पशुपालन और व्यापार विशिष्ट कर्तव्य बतलाये गये हैं, शूद्रों के चार कर्तव्य बताये गये हैं- द्विजों की सेवा करना, धन कमाना तथा कला और शिल्प में दक्ष होना।[१३] स्मृति गृन्थों तथा पुराणों में जातीय उत्पत्ति के जो सिद्धान्त दिये गये हैं वह ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सही नहीं हैं। सूत्र ग्रन्थों में जो वर्णन मिलता है, उनमें भी सैद्धान्तिक अन्तर हैं। मुख्य रूप से जातीय व्यवस्था का उदय आर्थिक विकास के साथ हुआ, जिन वस्तुओं का अन्वेषण और उत्पादन जिस परिवार के साथ होता था उसके पश्चात् वही परिवार अपने कर्म के अनुसार जाति का रूप धारण कर लेता था।

गुप्तकाल तक जातीय बंधन कोई विशेष कठोर नहीं दिखलाई देते। वाकाटक राजकुमार रुद्रसेन द्वितीय का विवाह प्रभावती गुप्ता के साथ हुआ। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार इस युग में प्रतिलोम विवाह होते थे। ईक्ष्वाकु वंश के राजा ब्राह्मण थे। उन्होंने एक शककुमारी को पुत्रवधू के

रूप में स्वीकार किया। व्यवसायों में भी कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं था, कोई भी व्यक्ति कोई भी व्यवसाय चुन सकता था किन्तु किसान, व्यापारी, पशुपालक, लोहार, बढ़ई, तेली, जुलाहे और माली आपस में ही विवाह करते थे। शूद्र लोग अछूत माने जाने लगे थे और ये नगर के बाहर रहते थे। कालान्तर में अनेक उपजातियाँ भी उत्पन्न हुयीं तथा ब्राह्मणों की एक उपजाति नागर ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध हुयी। इन लोगों ने काफी धन-सम्पत्ति एकत्रित कर ली थी। उत्तर प्रदेश और कश्मीर में ये लोग ठक्कर कहलाते थे। धीरे-धीरे अन्तर्जातीय विवाहों पर प्रतिबन्ध लगा तथा ब्राह्मणों को यह निर्देश दिया गया कि वह गायक, वैद्य, नट, सुनार, लोहार, शस्त्र बेंचने वाले, दर्जी, धोबी, शराब बनाने व बेंचने वाले, तेली, चारण, बढ़ई, ज्योतिषी, घंटा बजाने वाले, गाँव के अधिकारी, चमार, कुम्हार, पहलवान, बाँस की वस्तुऐं बनाने वाले, आदिम जाति के साहूकार के यहाँ भोजन न करें।[१४] यदि जीविकोपार्जन के लिये ब्राह्मण शस्त्र चलाकर आजीविका कमाते थे तो उसे ब्रह्मक्षत्र, जो खेती तथा व्यापार में लगे थे उन्हें वैश्य ब्राह्मण तथा जो ब्राह्मण लाख, नमक, दूध, घी, शहद, माँस और विशेष प्रकार के रंग बेंचता था उसे शूद्र ब्राह्मण कहा जाता था।[१५] अरब यात्री मसूदी जब दसवीं शती ईस्वी में भारत आया तो उसने अपने यात्रा वर्णन में लिखा कि ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे।[१६] अल्बेरुनी ने भी इस बात की पुष्टि की है। ब्राह्मणों के बाद क्षत्रिय और राजपूतों का सम्मान होता था। अल्बेरुनी लिखता है कि क्षत्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार था किन्तु पढ़ाने का नहीं। क्षत्रिय शासन करते थे, प्रजा की रक्षा करते थे, यज्ञोपवीत धारण करके यज्ञ करते थे।[१७] समाज में तीसरा स्थान वैश्यों को प्राप्त था। कृषि, पशुपालन, व्यापार और वाणिज्य के कारण इन्हें साहूकार भी कहा जाता था। चीनी यात्री हेनसांग ने वैश्यों का मुख्य व्यवसाय व्यापार बतलाया है।[१८] माघ के अनुसार ये लोग राजा की सेना के साथ आवश्यक वस्तुओं की बिक्री करने के लिये यात्रा करते थे।[१९] भविष्य कथा में भी इसका उल्लेख मिलता है।[२०]

समाज में शूद्रों का स्थान सम्मानजनक नहीं था, इनकी गणना संकर जातियों, किसानों और शिल्पियों में की गयी। नवीं सदी के एक अभिलेख में जातियों का वर्णन मिलता है। इस अभिलेख में कुम्हारों, मालियों, तमोलियों, संगतरासों, शराब बनाने वालों और तेलियों को शूद्र कहा गया है।[२१]

किसी भी शूद्र को उच्चवर्ग के साथ बराबर से बैठने का अधिकार नहीं था, ये लोग अपनी ही जाति के साथ वैवाहिक व्यवहार और खान-पान करते थे, स्कन्द पुराण में १८ जातियों को शूद्र माना गया है, इनमें ६ को उत्तम, ५ को अधम और ७ को अन्त्यज कहा गया है। स्मृतिकार भी धोबी, चमारों, नर्तकों, वरुड़ों को शूद्रों में गिनते हैं और इन्हें अन्त्यज मानते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य जातियाँ थीं, जिन्हें शूद्रों की श्रेणी में ही रखा जाता था, इनमें म्लेच्छ, कायस्थ, खत्री और जांट शामिल थे। इसके अतिरिक्त अन्य पहाड़ी जातियाँ भी इस श्रेणी में आती थीं। धीरे-धीरे अन्य जातियाँ भी निर्मित होती गईं और इनकी संख्या में क्रमशः वृद्धि होती गई।

भारतीय समाज की विशेषतायें- भारतीय समाज एक ऐसा विशिष्ट समाज था

जिसकी विशेषतायें अन्य संस्कृतियों से मेल नहीं खाती थीं तथा भारतीय भौगोलिक संरचना के अनुसार इनमें कुछ विशेषतायें संस्कृति, धर्म तथा मौलिकता के कारण उत्पन्न हुयी थीं। यह संस्कृति अत्यन्त व्यापक और विस्तृत थी। भारतीय समाज में यह व्यक्ति के आचरण, चिन्तन, क्रियाशीलता, ज्ञान, अध्यात्म तथा उसके तार्किक स्वरूप का मूल्यांकन प्रस्तुत करती थी। सुप्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार संस्कृति वह चीज है जो सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना एवं विकास में अनेक पीढ़ियों का हाथ है। जितनी पुरानी हमारी सामाजिक व्यवस्था है उतनी ही पुरानी उसकी संस्कृति है, इस सामाजिक व्यवहार ने हमें जहाँ राष्ट्रीयता की भावना प्रदान की है और अन्तर्राष्ट्रीयता का व्यापक दृष्टिकोण दिया है, वहीं यह मौलिक एकता भी हमें प्रदान करती है। भौगोलिक संरचना भिन्न होने के बावजूद भी यह अनेकता में एकता के भाव प्रकट करती है, जाति बाहुल्य होने पर भी यह सामाजिक समरसता का भाव प्रकट करती है। यह अनेक मतों का अनुसरण करती हुयी, अनेक राज्यों को सहन करती हुयी एक समन्वय की भावना प्रदान करती है। इसमें सहनशीलता, लोककल्याण की भावना निहित है। यह भारतीय समाज के प्राचीनतम् स्वरूप को प्रस्तुत करती हुयी, वर्तमान समाज की पृष्ठभूमि तैयार करती है। इसका एक व्यापक दर्शन है, इसकी दार्शनिकता सर्वव्यापी है, यहाँ धर्म को प्रधानता दी जाती है। यहाँ के लोग देवोपासना पर विश्वास करते हैं। बहुदेवों में भी एक ही ईश्वर के दर्शन करते हैं, इसमें विविध रीति-रिवाजों के साथ समन्वय करने की क्षमता है। यह सभ्यता, सहनशीलता, सत्य, अहिंसा, करुणा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर जोर देती है। यहाँ के लोग संयमी, वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था तथा संस्कार व्यवस्था का अनुसरण करते हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता 'सब जन सुखाय, सब जन हिताय' की कल्पना है। यहाँ के लोग सम्प्रदायवाद पर विश्वास नहीं करते तथा आपत्तिकाल में सभी के दुःख में सहयोग देते हैं, इस गौरवमयी संस्कृति को बनाने में भौगोलिक संरचना जलवायु ने बहुत बड़ा प्रभाव डाला है।

सामाजिक संरचना के अन्तर्गत यहाँ का समाज वर्ण, वर्ग, जाति, परिवार, आश्रम तथा संस्कार व्यवस्था पर आश्रित है, यहाँ पर विवाह से ही समस्त सामाजिक सम्बन्धों का सूत्रपात होता है। स्त्री और पुरुषों के पहनावे में विशेष अन्तर होते हुए भी गृहस्थ जीवन में एक दूसरे का सहयोग प्राप्त होता है। यहाँ के व्यक्ति पुर, ग्राम, नगर में निवास करते हैं तथा उपलब्ध संसाधनों से अपने निवास स्थान बनाते हैं। वस्त्र, श्रृंगार, आभूषण, आमोद-प्रमोद के साधन, भोजन और पेय पदार्थ उपलब्ध संसाधनों के अनुसार हैं, यहाँ के लोग धर्म और दर्शन दोनों में ही अपनी श्रद्धा रखते हैं। ये लोग अत्यन्त प्रतिभाशाली हैं, इन्होंने विज्ञान, शिक्षा, साहित्य, शास्त्र, लिपि, भाषा तथा विविध कलाओं को जन्म दिया है तथा उन्हें नया स्वरूप प्रदान किया है। भारतीय समाज तथा संस्कृति के समान कोई दूसरा समाज और संस्कृति नहीं हैं। प्राचीन काल में इसकी कुछ विशेषतायें ये भी थीं-

१. दासप्रथा- मुख्य रूप से दास उसको कहते थे जो दूसरे के लिये कार्य करता था तथा जीवन भर उसी के यहाँ रहकर अपना निर्वाह करता था। मोहनजोदड़ों और हड़प्पा में २३००

ई०पू० से लेकर १७५० ई०पू० तक के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं, यहाँ १६ ऐसे मकान मिले हैं जिसमें प्रत्येक में दो कोठरियाँ थीं, इनके निकट एक कारखाने के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं जहाँ ओखलियों में गेहूँ को कूटकर आटा तैयार किया जाता था, इन्हें मजदूरों के मकान कहा गया है, इससे यह सिद्ध होता है कि दासप्रथा अति प्राचीन है। ऋग्वेद में आर्यों और दासों के संघर्ष का उल्लेख है, इन्हें पशुओं की भाँति भेंट में दिया जाता था।[२२] ब्राह्मण ग्रन्थों में दासों को शूद्र कहा गया है लेकिन सभी शूद्र दास नहीं थे। वैदिक ग्रन्थों में यह भी उल्लेख मिलता है कि दास, दासता से मुक्त हो सकता था।[२३] महाभारत में भी दासों का वर्णन मिलता है, इनमें सभी दास अनार्य नहीं थे, इसमें वह व्यक्ति दास माना गया है जो पूर्णतया अपने स्वामी के अधीन हो, इस काल में दास का स्वामी उसकी पत्नी का भी स्वामी माना जाता था।[२४] महाभारत में युद्ध में बन्दी, जुए में हारे, दान में प्राप्त हुए स्त्री-पुरुष और खरीदे हुए स्त्री-पुरुष को दास माना गया है। सूत्र ग्रन्थों में भी दासों का उल्लेख मिलता है। इस प्रथा का विस्तार इसलिये हुआ क्योंकि कृषि का विस्तार हुआ, इसमें ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है जिनके पास १००० बैल थे। इसलिये शंखायन सूत्र में कहा गया है कि भूमि के साथ दास भी दिये जायें। जातकों में भी दासों का उल्लेख है।[२५] बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार इस काल में धन देकर व्यक्ति स्त्रियाँ खरीदते थे, ये स्त्रियाँ धरोहर में भी रखी जाती थीं।[२६] जो व्यक्ति दासी के घर में उत्पन्न होता था, धन से खरीदा जाता था, भय से दासता स्वीकार करता था, ऋण न चुका पाता था तथा अपराध करने पर दण्ड से बचने के लिये दास बन जाता था, जो जुए की हार का पैसा न चुका पाता था, वह दास बन जाता था। इसके अतिरिक्त दास दान में भी दिये जाते थे। दास रखने वालों को यह हिदायत थी कि वे दासों के साथ अच्छा व्यवहार करें। मौर्यकाल में दासों की प्रथा काफी कम हो गई थी। उस समय दासों से शव ढुलवाना, झाड़ू लगवाना, मलमूत्र उठवाना, जूटन उठवाना वर्जित था। दास कृषि का कार्य करता था, सशस्त्र दासियाँ राजा की अंगरक्षिका होती थीं, राजपरिवार को स्नान करवाती थीं तथा शरीर पर मालिश करती थीं। माला बनाती थीं तथा संगीत एवं अन्य कलाओं से राजा का मनोरंजन करती थीं। जब ये विगत यौवना हो जाती थीं और अधिक परिश्रम करने में असमर्थ हो जाती थीं, तो उन्हें भोजन बनाने, कोषागार की देखभाल करने, सूत कातने और कपड़ा बुनने के कार्य में लगाया जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में गृहजात, दायगत, लब्ध, क्रीत, ध्वजाहृत्, आत्मविक्रयी, आहितक और दण्डप्रणीत आदि दासों की कोटियों का उल्लेख किया गया है। कौटिल्य लिखता है कि १८ वर्ष से कम आयु वाले दास से अपवित्र कार्य नहीं करवाना चाहिए, उसे बाँधकर नहीं रखना चाहिए। स्मृतिकाल में भी दासों की कोटियाँ वही रहीं जो अर्थशास्त्र में वर्णित हैं। नारद ने भी १५ प्रकार के दासों का उल्लेख किया है। मृच्छकटिकम् नाटक में दासी के साथ संभोग करने को अनुचित माना गया है। गुप्तयुग तक दास प्रथा का बहुत विस्तार हो गया था। गुप्त युग के बाद ६०० ई० से १२०० ई० तक दास अधिकतर घर का कामकाज करते थे, इस युग में दासों की स्थिति में परिवर्तन हुआ, उन्हें कृषि कार्य में भी लगाया जाने लगा। मेधातिथि ने ऐसी दासियों का उल्लेख

किया है जो उपभोग के लिये रखी जाती थीं तथा जिन्हें भोजन और वस्त्र दिये जाते थे। ये शारीरिक दृष्टि से सुन्दर होती थीं। अनेक मंदिरों में भी दास और दासियाँ नियुक्त की जाती थीं। अनेक धार्मिक ग्रन्थों में दासों के साथ अच्छा व्यवहार करने की सलाह दी गई है। समाज में दासों को निर्धन वर्ग का माना जाता था और ये दया के पात्र समझे जाते थे।

संस्कार मूलक समाज– अति प्राचीन भारतीय संस्कृति में १६ संस्कारों की परिकल्पना की गई है। ये १६ संस्कार– गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि है। ये संस्कार मानव जीवन में हर्ष और विषाद दोनो प्रकार की भावनायें उत्पन्न करते हैं, इनका अनुसरण करने वाला व्यक्ति गुणवान, शीलवान, और सामाजिक मर्यादाओं का पालन करने वाला माना जाता है। इन संस्कारों का वर्णन गौतम बैखानस के श्रौत ग्रन्थों में मिलता है। गौतम ने इनकी संख्या ४० और बैखानस ने इनकी संख्या १८ बताई है।[२७] किन्तु सामाजिक मान्यता केवल १६ संस्कारों की ही है। इनमें सर्वाधिक वरीयता के आधार पर जातकर्म संस्कार धूमधाम से मनाने की परम्परा थी। मनुस्मृति के अनुसार– ''नालच्छेदन के पहले पुरुष का जातकर्म संस्कार किया जाता है। इसके वाद ही उस बालक को सुवर्ण, मधु और घी को वैदिक मंत्रों द्वारा चटाना चाहिए, यथा–

''प्रांगनाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते। मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिणाम।।[२८]

जन्म देने के पश्चात जव माता बालक का पोषण करने लगती थी उस समय यह संस्कार तीसरे यज्ञ के रूप में मनाया जाता था[२६] तथा इसके पश्चात् नामकरण संस्कार जन्म के दसवें या वाहरवें दिन में मनाया जाता था। यथा–

''नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्। पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गृणान्विते।।''[३०]

नामकरण संस्कार के अवसर पर पुरोहित अथवा आचार्य धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करने के पश्चात देवतानाम, मास नाम तथा नक्षत्र नाम के आधार पर नाम रखते थे। इसी प्रकार लड़कियों के नाम के अन्त में 'आ' अथवा 'द' शब्द लगाना अनिवार्य था। बनियों की सन्तानों के नाम धन सम्पदा सूचक शब्दों से, क्षत्रियों के नाम बलसूचक शब्दों से, ब्राह्मणों के नाम मंगल सूचक शब्दों से तथा शूद्रों के नाम निन्दा सूचक शब्दों से प्रारम्भ होते थे। यथा–

''मंगल्य ब्राह्मस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्। वैश्यश्च धनसंयुक्तम् शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्।।''[३१]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने नामों के अन्त में क्रमशः शर्मा, वर्मा, गुप्त और दास शब्द लगाते थे। यथा–

''शर्मान्त ब्राह्मणस्य, वर्मान्त क्षत्रियस्य, गुप्तान्तं वैश्यस्य... शुद्रस्य दासान्तमेव वा।''[३२]

नामकरण संस्कार के वाद निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, विधारम्भ, उपनयन आदि संस्कार होते थे। इसके पश्चात् वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन आदि संस्कार सम्पन्न होते थे उपरोक्त संस्कार मुख्यरूप से कुलीन वर्ग में होते थे छोटे वर्गो में इनकी कोई विशेष मान्यता

नहीं थी।

विवाह संस्कार- विवाह संस्कार एक ऐसा संस्कार है, जो सभी वर्णो में सम्पन्न होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद व्यक्ति जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था तो अपनी जीवनसंगिनी के रूप में किसी कन्या का वरण करता था इस संस्कार को विवाह संस्कार कहते है। इस संस्कार के अन्तर्गत वाग्दान, वरवरण, कन्यादान, विवाह, होम, पाणिग्रहण, हृदयस्पर्श, सप्तपदी, अश्मारोहण, सूर्य अवलोकन, ध्रुवदर्शन, त्रिरागव्रत तथा चतुर्थी कर्म सम्पादित होते थे।[३३] वर जब कन्या के घर जाता है तो कन्या का पिता अथवा रक्षक वर को कन्यादान करता है तथा वर अपने तथा कन्या के बीच परस्पर प्रेम उत्पन्न करने के लिये कामसूत्रों के मन्त्र का उच्चारण करता है अर्थाम् धर्म, अर्थ, काम की प्रतिज्ञा करता है और नाचित रमणी कहकर उसे वचन देता है और हवन करता है। इसके पश्चात् भांवरे पड़ती हैं, फिर वर मन्त्र पढ़ता है- मैं तुम्हारा रूप हूँ, तुम मेरा रूप हो, मैं सोम हूँ, तुम यज्ञ हो, मैं धौ हूँ, तुम पृथ्वी हो, मेरा मन तुम्हारा अनुसरण करे, तुम्हारा हृदय मेरा अनुसरण करे, इस प्रकार हम दोनों एक साथ रहते हुये एक दूसरे से मिल जाँय। यथा-

''अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽअहम्। सामाहमस्मिऽऋक्त्वं धौरहं पृथिवी त्वम्।।''[३४]

इसमें वर-वधू यह भी प्रतिज्ञा करते हैं कि वे जीवन भर समृद्धि के लिये कार्य करेंगे तथा देवताओं को प्रसन्न रखेंगे। इसमें रक्तवृद्धि, ऊर्जावृद्धि, धनवृद्धि, आनन्दवृद्धि, सन्ततिवृद्धि, आयुवृद्धि, दाम्पत्य जीवनदीर्घायु हो तथा सम्पूर्ण जीवन में एक दूसरे के बने रहे, इस बात को ध्यान में रखकर भांवरे (यज्ञवेदी) पड़ायी जाती थीं। अन्त में हवन आदि क्रियायें तथा कन्या को दहेज आदि दिया जाता था। मानव जीवन का यह सबसे बड़ा संस्कार था। तथा इसे आज भी वही सामाजिक मान्यता प्राप्त है। इस संस्कार में कन्यादान और दहेज के अतिरिक्त पुरोहितों, आचार्यों और परिजनों को दान देने की प्रथा थी।

अन्त्येष्टि संस्कार- संस्कारों का एक उद्देश्य पंचतत्वों से आच्छादित शरीर में व्याप्त आत्मा को सुगति प्रदान करना भी था। इन्द्रियों के वश में रहकर आत्मा राग, द्वेष आदि षड्रिपुओं के अधीन हो जाती थी, इन रिपुओं को परास्त करने के पश्चात् ही वह परमात्मा में विलीन होती थी। आत्मा का परमात्मा में विलीन होना ही मृत्यु है। बौधायन के अनुसार इस संकार द्वारा परलोक विजित होता है।[३५] अन्त्येष्टि संस्कार में शव को ले जाने के लिये बांस की अर्थी अथवा बैलगाड़ी का प्रयोग होता था।[३६] शवयात्रा में सगे-सम्बन्धियों के साथ मित्र आदि होते थे जिसमें ज्येष्ठ पुत्र सबसे आगे रहता था।[३७] सर्वप्रथम मृत शरीर को अर्थी सहित जलाशय में स्नान कराकर दाह संस्कार किये जाने की प्रथा थी। शव दाह हो जाने के पश्चात जलाशय में सवस्त्र स्नान करके जलांजलि दी जाती थी।[३८] इसके पश्चात् शुद्धता का कार्यक्रम होता था, यह कार्यक्रम १३ दिन में सम्पन्न होता था, इसके उपरान्त शान्ति और श्राद्ध का आयोजन होता था। पिण्डदान, श्राद्धकर्म और ब्राह्मण को भोजन कराने के बाद मृतक का परिवार शुद्ध माना जाता था। अन्त्येष्टि क्रिया का यही स्वरूप थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ आज भी विद्यमान है।

इस प्रकार यदि समाज का विहंगम अवलोकन किया जाय तो केवल तीन ही संस्कार ऐसे मिलते हैं जो पुरूषार्थ से जुड़े हुये है जिनमें व्यंक्ति आचार्यों, पुरोहितों, परिजनों और सगे सम्बन्धियों का सहयोग लेता है तथा उनका यथोचित सम्मान करता हुआ उन्हे विविध वस्तुयें दान में देता है।

सम्पूर्ण समाज को हम प्रतिष्ठा, सम्पन्नता और सामाजिक मान्यता की दृष्टि से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं-

१. साधन सम्पन्न एवं सम्भ्रान्त वर्ग– आदिकाल से समाज में एक ऐसा वर्ग है जिसे भौतिक सुखसाधन उपलब्ध हैं, ये लोग साधनसम्पन्नता के कारण बहुत कम श्रम करके संसाध ान के बलपर सर्वाजिक लाभ अर्जित करते हैं। इनके पास चल और अचल सम्पत्ति सर्वाधिक होती है। जनसंख्या की दृष्टि से ये केवल १० या १५ प्रतिशत ही हैं, किन्तु सम्पत्ति कुल सम्पत्ति का ८० या ९० प्रतिशत है। इनके पास कृषि योग्य भूमि, रहने के लिये उत्तम कोटि के मकान, सेवा के लिये दास-दासियाँ उपलब्ध रहते हैं। धन और सम्पत्ति के मद से चूर ये व्यक्ति अपने आपको राजा, सामन्त, भू-स्वामी स्वीकार करते हैं। सम्पत्ति के बल बूतेपर ही इनकी समाज में प्रतिष्ठा है और कोई भी व्यक्ति इनका मुकाबला नहीं कर सकता। यह सम्पत्ति या तो उन्हें स्वतः अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होती है अथवा वे इसे अपने बाहुबल से दूसरों को पराजित करके अर्जित करते हैं अथवा इस सम्पत्ति को बुद्धि वल से अर्जित करते है। यही सम्भ्रान्त वर्ग राजा, महाराज, सामन्त, जमींदार, पूँजीपति के नाम से विख्यात हुआ। इस वर्ग ने आवश्यकता से काफी अधिक धन अपने लिये एकत्र किया। जहाँ धन और सम्पत्ति सुख संसाधनों की वृद्धि करता है, वहीं यह ईर्ष्या, द्वेष, लोभ तथा सम्पत्ति के विवाद और संघर्ष भी पैदा करता है अधिक सम्पत्ति अशान्ति और पाप का कारण भी है तथा समुद्र के खारे जल की तरह अनुपयोगी भी है।

२. साधन हीन एवं कमजोर वर्ग– समाज में दूसरा वर्ग वह है जो साधन हीन है अथवा उसके पास बहुत कम संसाधन उपलब्ध हैं। वह अपनी जीविकोपार्जन के लिये या तो कृषि करता है अथवा छोटा मोटा उद्योग या व्यवसाय करता है अथवा दूसरों के यहाँ दासवृत्ति से अपनी जीविका उपार्जित करता है। इस वर्ग द्वारा उपार्जित धन पारिवारिक आवश्यकतायों की पूर्ति के लिये पूरा नहीं हो पाता इसके अतिरिक्त उसे राजा, महाराजाओं, सामन्तों, जमीदारों का कर भी देना पड़ता है। इस वर्ग के अधिकांश लोग अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये दूसरों से कर्ज लेते हैं, इसलिये कर्ज चुकाने के लिये और उसका ब्याज अदा करने के लिये उन्हे अपनी सम्पत्ति बेंचनी पड़ती है दूसरों के यहाँ दास बनकर जीवन गुजारना पड़ता है। ऐसे वर्ग के लोग न तो स्वतः सुखी रह पाते हैं। और न अपनी संतानों को किसी प्रकार का सुख प्रदान कर पाते हैं। यह वर्ग गरीबी का शिकार रहता है तथा सदैव दुखी रहता है। यह वर्ग भी दो भागों में विभाजित है-

अ. बुद्धिजीवी– समाज का यह वर्ग अपनी बुद्धि प्रखरता कार्य कुशलता और कलाप्रियता के कारण समाज में लोकप्रियता प्राप्त करता है और इसी को जीविकोपार्जन का साधन भी मानता है।

इस वर्ग में आचार्य, पुरोहित, अध्यापक, शिक्षाशास्त्री, धर्मोपदेशक, यज्ञकर्ता पुजारी तथा धार्मिक संस्कार कराने वाले व्यक्ति शामिल होते हैं। इसी वर्ग में साहित्यकार, नाटककार तथा दूसरे कलाविद और कलाप्रेमी व्यक्ति शामिल रहते हैं। इस वर्ग का सम्पूर्ण बोझ समाज के व्यक्तियों पर होता है। यही वर्ग धर्म का प्रणेता, उत्कृष्ट ग्रन्थों का रचयिता तथा समाज का नियन्त्रक भी होता है। इस वर्ग के व्यक्तियों को व्यक्ति बड़ी ही श्रद्धा के साथ देखते हैं और उनका आदर करते है। प्राचीन काल में राजा का सम्मान कम होता था, बुद्धिमान और स्नातक का ज्यादा। आचार्य और गुरूओं का समादर राजा-महाराजा लोग भी बड़ीश्रद्धा के साथ किया करते थे और उनके किसी आदेश की अवहेलना न करते थे। विद्वान लोग ही भारतीय संस्कृति के जन्मदाता और पल्लवित करनेवाले माने जाते हैं। अध्यात्म और षड़दर्शनों का उदय इन्ही की कुशाग्र बुद्धि के माध्यम से हुआ है। इसलिये समाज के व्यक्ति भी इनके प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हैं।

ब. श्रमजीवी– श्रमजीवी वर्ग बुद्धिमान वर्ग नहीं था यदि वह बुद्धिमान भी था तो उसकी बुद्धि को सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं थी इसलिये यह वर्ग दास बनकर तथा विविध गृह कलाओं के माध्यम से या कृषि श्रमिक बनकर या सामन्तों के यहाँ किसी प्रकार की नौकरी करके अपनी जीविका चलाता था तथा जीविकोपार्जन में इसे अनेक प्रकार के अपमान भी सहन करने पड़ते थे। इनके साथ सदैव पक्षपातपूर्ण बर्ताव किया जाता था। इस वर्ग में चांडाल जाति के लोगों को गाँव से बाहर अलग अपनी बस्तियाँ बनानी पड़ती थीं। ये लोग धार्मिक संस्कारों में भाग नहीं ले सकते थे तथा इन्हें निम्न कोटि के कार्य करने पड़ते थे। बुद्धिजीवी इनकी स्थिति से परिचित थे और इनकी दीन दशा से पूर्ण संवेदना भी रखते थे सम्पूर्ण भारतवर्ष में इस वर्ग की जनसंख्या ६५ प्रतिशत से अधिक थी। इनकी गरीबी का विश्लेषण करने वालों ने इनकी निर्धनता के निम्न कारण बतलाये हैं-

१. संसाधन की कमी– समाजशात्री और धर्मशास्त्री निर्धनता और निर्बलता का कारण संसाधन की कमी मानते हैं, उनका मानना है कि समाज में अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें यदि संसाधन उपलब्ध करा दिये जाँय तो वे कठिन परिश्रम करके अपनी कार्यकुशलता का परिचय दे सकते हैं उससे वे स्वतः अपनी जीविका चला लेगें और दूसरों को भी आर्थिक लाभ पहुँचायेंगें, किन्तु आवश्यक पहुँच न होने के कारण ये लोग संसाधन नहीं प्राप्त कर पाते और इनकी प्रतिभायें अपने आप कुंठित हो जाती हैं। व्यक्ति उनके बुद्धिचातुर्य और कार्यकुशलता से परिचित नहीं हो पाते।

२. बुद्धि की कमी– इस वर्ग में बुद्धि की कमी है इसलिये वह मनुष्य के रूप में पशु जैसा है। वह अपने पूर्वजों के कार्य को उसी प्रकार करता रहता है जैसा उसने सीखा है, उसके हृदय में कुछ और करने, कुछ और सीखने की भावना जन्म ही नहीं लेती। वह वर्तमान परिस्थितियों से सन्तुष्ट है उपलब्ध संसाधनों के अतिरिक्त वह और अधिक प्राप्त करने की इच्छा भी नहीं रखता। सांसारिक गतिविधियों, तथा देश, काल, परिस्थितियों का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे व्यक्ति गरीबी में जन्म लेते हैं, गरीबी में पलते हैं, गरीबी में ही मरते हैं और उत्तराधिकार में गरीबी

अपनी संतानों को दे जाते हैं।

३. आलस्य– कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जिनके पास अच्छा मस्तिष्क है तथा जिन्हे संसाधन आसानी से उपलब्ध भी हो जाते हैं किन्तु वे इतने आलसी हैं कि समय से लाभ उठाना उनके वश का रोग नहीं हैं। अनेक व्यक्ति जो कभी करोड़पति थे, राजा, सामन्त, जागीरदारों की सन्तान थे उन्होनें अपने पूर्वजों की अर्जित सम्पत्ति का दुरूपयोग किया। आलस्य के कारण वे कुछ भी नहीं कर सके। उनका यह सिद्धान्त था कि जब परमात्मा बैठे-बैठे खाने को दे रहा है, सभी संसाधन घर में ही मौजूद है तो कमाने की क्या आवश्यकता है? इसी भावना ने उनकी पैतृक सम्पत्ति को नष्ट कर दिया। वे अपनी ऐंठ और आलस्य के कारण कुछ नहीं कर सके और गरीब बन गये।

४. प्रोत्साहन की कमी– भारतवर्ष में प्रतिभाओं की कमीं कभी नही रही। यहाँ अनेक विद्वान और कलाकार, साहित्यकार, प्राचीन भारत में अपनी प्रतिभा और कला का प्रदर्शन करते रहे किन्तु अनेक कलाकार और प्रतिभाशाली व्यक्ति समुचित आश्रय प्राप्त न होने की वजह से अपनी प्रतिभा का विकास नहीं कर पाये इसलिये उनकी प्रतिभायें अंकुरित हुयीं, पल्लवित हुयीं किन्तु पूर्ण विकास के पहले ही वे मुरझाकर धूल धूसरित हो गयी। यदि उन्हे भी राज्याश्रित कलाकरों की भाँति प्रोत्साहन मिलता तो सम्भव है वे भी खजुराहो, देवगढ़ तथा अन्य स्थानों के वास्तु शिल्पियों की भाँति अपनी कला का प्रदर्शन करके उसे चिरस्थायी स्वरूप प्रदान करते। ऐसे व्यक्तियों की निध् र्नता का कारण केवल समुचित प्रोत्साहन न मिलना है।

यही कारण है कि भारतवर्ष में गरीब व निर्धन वर्ग जनसंख्या में अधिक होने के बावजूद भी गरीव वना हुआ है तथा ऐसी कोई विधा नहीं वन सकी जिससे उनका आर्थिक उद्धार होता। केवल विविध प्रकार के उपलब्ध दान धन से उनका कल्याण हुआ करता था।

समाज में दान की भावना का उदय– बुद्धिजीवी, जो स्वतः पराश्रित रहता है, जब उसने यह देखा कि एक वर्ग के पास असंख्य धन है और दूसरा वर्ग धन से पीड़ित है इसलिये उसने यह उपाय सोंचा कि सम्भ्रान्त वर्ग को यदि प्रोत्साहित किया जाय और निर्धन वर्ग के प्रति उनके हृदय में संवेदना पैदा की जाय तो उनसे कुछ धन गरीबों और बुद्धिजीवियों के हित में प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये उन्होंने अपने द्वारा रचित धर्मग्रन्थों में दान के महत्व की संरचना की। दान देने के लाभ को वढ़ा-चढ़ा कर दिखाया तथा यह दिखाया कि पूर्वकाल में जिन दानवीरों ने दान दिया था, उनकी गाथा उन्हें चिरस्थाई यश प्रदान कर गयी। इस गाथा को सुनकर तथा इसे धार्मिक कृत्य मानकर धन सम्पन्न व्यक्तियों ने दान देना प्रारम्भ किया। वेदों,[३९] पुराणों,[४०] स्मृति ग्रन्थों[४१] तथा महाकाव्यों[४२] में दान की यशगाथा गायी गई और उसका लाभ भी हुआ। सम्भ्रान्त वर्ग के हृदय में अपने आश्रित व्यक्तियों के प्रति मानवता की भावना उत्पन्न हुयी और उन्होंने निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये दान देना प्रारम्भ किया–

१. बुद्धिजीवियों का संरक्षण– सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने यह बात स्वीकार की कि बुद्धिजीवी जिसे ब्राह्मण वर्ग के नाम से सम्बोधित किया गया है और जो समाज के व्यक्तियों को

शिक्षित करता है, विभिन्न संस्कारों को सम्पन्न कराता है तथा समुचित ग्रन्थों की रचना करके मानव जीवन के आदर्शों को सृजित करता है, जो जप, तप, यज्ञ और ज्ञान से समाज को मानवता के आदर्शों की ओर ले जाता है, उसका संरक्षण करना सम्भ्रान्त वर्ग का कार्य है, इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर राजा महाराजाओं ने आचार्यों, गुरुओं, यज्ञकर्ताओं को समय-समय पर दान दिये तथा उनकी जीविका के समस्त साधन उन्हें उपलब्ध कराये। इसी उद्देश्य के कारण ब्राह्मण पूज्य और सम्माननीय हो गये तथा इन्हें दान का अधिकारी भी माना गया।

''यथाग्निहोत्रं सुहुतं सायंप्रातर्द्विजातिना। तथा दत्तं द्विजातिभ्यो भवत्यथ यतात्मसु।।''[४३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि योग्य ब्राह्मण जो स्वतः संस्कारयुक्त है और दूसरे को सुसंस्कृत करता है, वही दान का पात्र है।

२. कला एवं संस्कृति को प्रोत्साहन- सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने धन दान देकर कला और संस्कृति को चिरजीवी बनाया है, यदि सम्भ्रान्त व्यक्ति दुर्गों, धार्मिक स्थलों, महलों, जलाशयों, मूर्तियों आदि का निर्माण न कराते और इसके लिये उदारता पूर्वक धन व्यय न करते तो भारतीय इतिहास ही नहीं अपितु विश्व का इतिहास भी कहीं नजर न आता। इन्हीं सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने वास्तुशिल्पों, कलाकारों, साहित्यकारों को अपने यहाँ राज्याश्रय दिया तथा उन्हें विविध प्रकार के दान देकर ये निर्माण कराये जिनसे कला एवं संस्कृति चिरजीवी हुयी।

३. धर्म को प्रोत्साहन- बुद्धिजीवियों से प्रभावित होकर सम्भ्रान्त व्यक्ति धर्म, अध्यात्म और दर्शन से बहुत अधिक प्रभावित हुए और उन्होंने जीव के लक्ष्य को समझा। धार्मिक ग्रन्थों, वेदों, पुराणों और शास्त्रों का अध्ययन किया तथा उनका अनुसरण किया, उन्होंने धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की भावना से अपने पुरुषार्थ को अपने जीवन का अंग बनाया तथा विविध प्रकार के यज्ञों का आयोजन अपने जीवनकाल में किया, इसके अतिरिक्त यदि वे तीर्थस्थलों की यात्रा पर गये, कोई शुभ कार्य किये, किसी भी प्रकार के संस्कार उनके द्वारा सम्पन्न किये गये उस समय उन्होंने आचार्यों, गुरुओं और पुरोहितों को धार्मिक कार्य सम्पन्न कराने के पश्चात् विविध प्रकार के दान दिये।

''ततो युधिष्ठिरः प्रादाद् ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि।
कोटीः सहस्त्रं निष्काणां व्यासाय तु वसुंधराम।।''[४४]

इस प्रकार यह देखा गया कि सम्भ्रान्त व्यक्ति सुगति, मोक्ष प्राप्ति और देवताओं की अनुकूलता प्राप्त करने के लिये धार्मिक संस्कारों को जन्म देते थे।

४. मानवतावादी दृष्टिकोण- सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने यह विचार किया कि यदि वे गरीबों को नहीं अपनाते और विषम परिस्थितियों में अन्न, धन, वस्तु का सहयोग उन्हें नहीं प्रदान करते तो वे मानवतावादी सिद्धान्त के विपरीत कार्य करेंगे। जब परमात्मा ने समस्त मानवों को एक ही प्रकार से उत्पन्न किया है तो वे ईश्वर के रिश्ते से उनके भाई बन्धु ही हैं, इसलिये कुसमय पर वे अन्न, जल और वस्तु पानें के अधिकारी हैं, इसलिये दया और करुणा की भावना से प्रेरित

होकर जरूरतमन्द लोगों को दान देने की भावना पैदा हुयी तथा इसी भावना से प्रेरित होकर इन्होंने जन कल्याण के लिये दान दिया तथा अनेक स्थानों पर जलाशयों आदि का निर्माण कराया तथा आवश्यकता पड़ने पर अन्नदान भी किया।

"पानीयं परमं दानं दानानां मनुरब्रवीत। तस्मात् कूपांश्च वापीश्च तड़ागानि च खानयेत।।"[४५]

जलदान के पश्चात् सबसे बड़ादान अन्नदान होता है जिस प्रकार जल विभिन्न प्राणियों की जीवनरक्षा करता है उसी प्रकार अन्न भी प्राणियों को ऊर्जा और शक्ति प्रदान करता है, यदि संसार में अन्न न होता तो व्यक्ति का विकास ही न होता। इसलिये जीवन में अन्न का बहुत महत्व है। इसलिये साधन सम्पन्न व्यक्ति मानवता की भावना से प्रेरित होकर अन्न का दान करता है।

"अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति। तस्मादन्नं विशेषेण दातु मिच्छन्ति मानवाः।।"[४६]

मानवतावादी दृष्टिकोंणों के कारण ही सम्भ्रान्त व्यक्ति दया और करुणा की भावना से प्रेरित होकर दान की भावना से प्रभावित हुआ और उसने समय-समय पर साधनहीनों को विविध प्रकार के दान दिये।

५. सामाजिक प्रतिष्ठा की आकांक्षा- जब सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने धार्मिक ग्रन्थों में यह पढ़ा कि दानदाता की समाज में प्रतिष्ठा बढ़ जाती है तथा हर व्यक्ति उसे सम्मान की दृष्टि से देखने लगता है, इसलिये उसने अवसरों का लाभ उठाकर व्यक्तियों को ऐसी परिस्थिति में दान दिया जबकि उन्हें दान की आवश्यकता थी। दान प्राप्त करने वाले व्यक्तियों ने उन्हें त्यागी, तपस्वी व्यक्ति समझा तथा समाज में उनकी प्रतिष्ठा एक महान् दानी के रूप में होने लगी। शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनमें सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने महत्वपूर्ण दान देकर अपने को प्रतिष्ठित व्यक्ति बनाया।

"दीयतां भुज्यतां चेष्टं दिवारात्रमवारितम्। तं महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनाकुलम्।।
कथयन्ति स्म पुरुषा नानादेशनिवासिनः। वर्षित्वा धनधाराभिः कामै रत्नै रसैस्तथा।।"[४७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन सम्भ्रान्त व्यक्तियों का प्रतिष्ठा प्राप्त करना उद्देश्य था, उन्होंने प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये दान का सहारा लिया।

६. यश लाभ के लिये- बहुत से व्यक्ति सम्भ्रान्त होते हुए भी कुत्सित कार्यों में संलग्न होते हैं किन्तु उन्हें सामाजिक अप्रतिष्ठा एवं बदनामी का सदैव भय बना रहता है, इसलिये वे सामाजिक बदनामी से बचने के लिये तथा अपने काले कारनामों में पर्दा डालने के लिये वह दिखावे के लिये दान आदि कार्यों में सहयोग प्रदान करता है। वह सोंचता है कि दान देकर वह यशलाभ करेगा और समाज में उसे एक अच्छा व्यक्ति समझा जायेगा। राजा बलि दैत्यकुल का था, किन्तु उसने भगवान विष्णु को पृथ्वी का दान देकर स्थायी यश प्राप्त किया था।

"दास्यामि भिक्षितं त्वस्मै विष्णवे बटुरूपिणे। पात्रीभूतो ह्ययं विष्णुः सर्वकर्मफलेश्वरः।।"[४८]

इसलिये दानदाता यशलाभ को ध्यान में रखकर दान देता था।

दानग्रहीता का दान प्राप्त करने का उद्देश्य- जब एक वर्ग साधनसम्पन्न था

और दूसरा वर्ग साधनहीन, तो निश्चित ही साधनहीन वर्ग साधन सम्पन्न व्यक्ति से याचना करके विविध उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता था।याचक के उद्देश्यों को सुनकर ही दाता उसे दान देने के लिये प्रेरित होता था, इसलिये याचक उन परिस्थितियों से अवगत कराता था,जिनके समाधान के लिये उसे धन ,अन्नऔर वस्त्र की आवश्यकता है। याचक निम्न उद्देश्य से दाता से धन की याचना करता था-

१. शिक्षा एवं संस्कृति का संरक्षण- प्राचीन काल में आचार्य एवं गुरु अपने निवास स्थानों में छात्रों को विविध प्रकार की शिक्षा दिया करते थे इस समय कोई नियमित शिक्षा संगठन उपलब्ध नहीं था तथा जो गुरुकुल शिक्षा कार्य करते थे उनके पास आय के कोई स्त्रोत नहीं थे, इसलिये आचार्य लोग अपनी शिक्षण संस्थाओं के लिये, वहाँ रहने वाले विद्यार्थियों के लिये, धन और विविध प्रकार की वस्तुओं की याचना करते थे तथा याचना में मिली हुयी वस्तुओं से गुरुकुल के आचार्यों, अध्यापकों तथा शिष्यों का कल्यांण होता था। इस युग में किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था, केवल दान और दक्षिणा से ही शिक्षा संस्थाओं का काम चलता था।

"आनृशंस्यं परो धर्मो याचते यत् प्रदीयते। अयाचतः सीदमानान् सर्वोपायैर्निमन्त्र येत्।।"[४६]

याचक पहले यह प्रयास करता था कि उसे बिना याचना किये ही धन मिल जाये किन्तु जब उसे इस तरह से धन नहीं मिल पाता था तो उसे दान दाता से याचना करनी पड़ती थी।

२. कला एंव संस्कृति के विकास के लिये- यदि कोई व्यक्ति वास्तुकार, धर्मज्ञ, कवि, साहित्यकार और नाटककार हैं तो वह राज्याश्रय तथा राजा से धन की याचना अपनी कला, संस्कृति और छिपी प्रतिभा को विकसित करने के लिये किया करता था। अनेक राजाओं के यहाँ आचार्यों, कवियों, उच्चकोटि के योद्धाओं को राज्याश्रय प्राप्त था। राजा द्वारा प्रदत्त धन से ही उनकी कला प्रतिभा का विकास हुआ। उदाहरणार्थ चन्देल युग में कवियों को राज्याश्रय मिला तथा उन्होने राज्याश्रय में रहकर अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। इन कवियों में गदाधर, माधव, राम और नन्दन विशेष उल्लेखनीय हैं, इसके अतिरिक्त जन कवि जगनिक ने आल्हखण्ड की रचना की। इसके अलावा चन्देलों ने वास्तु कलाकारों कों भी प्रोत्साहित किया, जिन्होंने अनेक दुर्गों, जलाशयों, धार्मिक स्थलों और मूर्तियों का निर्माण किया।[५०]

३.जीविकोपार्जन के लिये- याचक सम्भ्रान्त व्यक्ति से अपनी जीविकोपार्जन के लिये तीन प्रकार से धन की याचना करता था। सर्वप्रथम वह स्थाई जीविकोपार्जन के लिये भूमिदान की याचना करता था, ताकि वह कृषि योग्य भूमि प्राप्त करके स्थाई रूप से आय के स्त्रोत्र प्राप्त कर ले, यदि उसके पास कृषि योग्य भूमि होती थी तो वह बैल अथवा गाय की याचना करता था, यदि वह कोई अन्य व्यवसाय करना चाहता था तो वह धन की याचना करता था, यदि वह ब्राह्मण अथवा पुरोहित होता था तो वह धार्मिक स्थल में पुजारी बनने की इच्छा रखता था। इस तरह से व्यक्ति जीवन यापन के लिये, स्थाई संसाधन के लिये, दान दाता से याचना करता था। इस याचना के फलस्वरूप दाता लोग भूमि, पशु और स्वर्णादि दान में देते थे।

"यत्किंचित कुरूते पापं पुरूषो वृत्तिकर्षितः। अपि गोचर्म मात्रेण भूमि दानेन शुध्यति।।
स नरः सर्वदा भूपः यो ददाति वसुन्धराम। भूमिदानस्य पुण्येन फलं स्वर्ग पंरदर।।"[५१]

४.विशेष परिस्थितियों में विशिष्ट उद्धेश्य की पूर्ति के लिये- जब कोई याचक विषम परिरिस्थितियों में पड़ जाता था तो उसे मजबूर होकर सम्भ्रान्त व्यक्ति से याचना करनी पड़ती थी। इनमें ऐसे भी याचक थे जिन्होंने विषम परिस्थितियों से पूर्व कभी याचना नहीं की थी, इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति किसी विशेष उद्देश्यों के लिये धन एकत्र करता था अथवा धन की याचना करके वह धर्मस्थल जलाशय अथवा यज्ञ आदि करना चाहता था, तो वह दानदाता से याचना करता था। कभी-कभी याचक और दाता के सम्मुख अनेक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती थीं। जिसमें वचनबद्धता के कारण ऐसी वस्तुएं या व्यक्ति देने पड़ते थे जिन्हे दाता हृदय से नहीं देना चाहता था किन्तु देना पड़ता था। राजा दशरथ से विस्वामित्र ने राक्षसों के वध के लिये राम-लक्षमण की याचना की थी, पहले उन्होंने देने से इन्कार किया परन्तु बाद में उन्होने राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र को सौंप दिया-

"स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथस्तदा। ददौ कुशिकपुत्राय सुप्रीतेनान्तरात्मना।।"[५२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि याचक कभी-कभी दानदाता को धर्मसंकट में डाल देता था इससे दान दाता को अपनी प्रतिष्ठा वचानी मुश्किल पड़ती थी।

दान का दुरूपयोग- कभी-कभी ऐसा होता है कि याचक दानदाता की उदारता का नाजायज फायदा उठाता है। दया और करुणा की भावना से दाता दीन-दुखियों और जरूरतमंद लोगों की सहायता करना चाहता है किन्तु याचक दान के माध्यम से आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त कर लेते हैं और लोभ और लालच से ग्रसित हो जाते हैं इसलिये धन की और वस्तु की आवश्यकता न होने पर भी वे दाता से दान लेते ही रहते हैं। बहुधा तीर्थस्थलों, धार्मिक स्थानों में अनेक ऐसे लोग देखे गये हैं जो दान के वलवूते पर ही सम्भ्रान्त एवं पूँजीपति व्यक्ति बन गये हैं, उनके दृष्टिकोण में दान लेना एक ऐसा व्यावसाय है जिसमें विना प्रयास के धन उपलब्ध होता ही रहता है यद्यपि ऐसे दान ग्रहीताओं के लिये दान न देने का शास्त्रों में निर्देश है। यथा-

"वेदाक्षर विहीनाय यत्तु पूर्वोपकारिणे। समृद्धाय च यद् दत्तं तद् दानं राजसं स्मृतम्।।"[५३]

दान के दुरूपयोग अनेक प्रकार से देखे जाते हैं ये निम्नलिखित है-

१. दान पर आधारित जातियों का उदय- दानदाताओं की उदारता के कारण सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रत्येक स्थान में एक ऐसे वर्ग का उदय हो गया है जिन्होने दान माँगना अपना व्यवसाय बना लिया है। इस वर्ग में याचना करने वाले भिखारी, जोशी, पंडा, विकलांग तथा अपने आप को अनाथ बताने वाले लोग आदि सम्मिलित हैं। ये लोग समाज के दान दाताओं से विविध प्रकार की वस्तुयें और धन एकत्र करते हैं। इस व्यवसाय से उन्हे अच्छी आय हो जाती है, इससे उनके और उनके परिवार के लोगों का खर्च आसनी से चल जाता है। भिक्षा माँगने की प्रथा भारतवर्ष में अति प्राचीन है। आचार्य के यहाँ पढ़ने वाला स्नातक भिक्षा माँगता था, उसके पश्चात्

बौद्ध धर्म में भिक्षुओं को धार्मिक मान्यता प्रदान की गयी तथा इनकी दान की प्रथा धर्म से जोड़ दी गयी तथा इनका एक अलग संघ बनाया गया जो बौद्ध संघ के नाम से विख्यात था। बौद्ध भिक्षुओं को यह निर्देश था कि वे कूड़े के ढेर से जीर्णवस्त्र चुनकर अपने लिये चीवर बनायें। वे अपना निर्वाह भिक्षा माँगकर करते थे।[५४] किन्तु कालान्तर में इस वृत्ति को बढ़ावा मिला और बड़ी संख्या में लोगों ने इसे अपना लिया।

२. आलस्य एवं श्रम न करने की भावना का उदय– जब दान दाताओं की ओर से याचको को अपने आप दान मिलने लगा उस समय याचकों के अन्दर इस प्रकार भी भावना का उदय हुआ कि अब उन्हें व्यवसाय के लिये श्रम करने की आवश्यकता नहीं है इसलिये उन्होने आलस्य की भावना में ही सुख की अनुभूति की तथा दान दाता को एक मूर्ख व्यक्ति माना। उन्होने सोचा कि जब तक ऐसे उदार व्यक्ति संसार में जीवित हैं, उस समय तक उदरपूर्ति अपने आप होती रहेगी, यदि उसे दान का धन प्राप्त न होता तो निश्चित ही वह श्रम करता और परिवार पालने के लिये वह व्यवसाय की खोज करता। कालान्तर में धार्मिक अनुष्ठानों में तथा सामाजिक संस्कारों में ब्राह्मणों की योग्यता एवं क्षमता का बिना पता लगाये उन्हें दान देना प्रारम्भ कर दिया चाहे दान दाता को दानफल मिले या न मिले जब कि महाभारत में स्पष्ट निर्देश है कि–

> ''यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला। शकुनिर्वाप्यपक्षः स्यान्निर्मन्त्रो ब्राह्मणस्तथा।।
> ग्रामो धान्यैर्यथा शून्यो यथा कूपश्च निर्जलः। यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ।।''[५५]

इस प्रकार इन नियमों का खण्डन कर वर्तमान समय में बिना दानपात्र की परीक्षा किये दान देना प्रारम्भ हो गया है चाहे उसका कोई फल हो या न हो।

३. मिथ्याचार, आंडबर एवं अन्धविश्वास का उदय– पुरोहितों, आचार्यों, ज्योतिषियों, तान्त्रिकों, अघोरियों तथा ओझा जाति के लोगों ने भी दानदाताओं की उदारता का नाजायज लाभ उठाया। जब राष्ट्र पर कोई आपदा आती अथवा जब कोई राजा धर्मसंकट में पड़ जाता उस समय उसको यह सलाह दी जाती थी कि वह अमुक यज्ञ करे या अमुक पशु का बलिदान करे, इससे इच्छा पूर्ति होगी और देवता प्रसन्न हो जायेंगे। इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र पर दक्ष विद्वान संकटग्रस्त व्यक्ति को यह सलाह देते थे कि उसके अमुक-अमुक ग्रह, नेष्ट ग्रह है उन्हें वह शान्त कराये और विविध प्रकार की वस्तुयें वह दान में दे। इसी प्रकार जब किसी व्यक्ति को प्रेतबाधा की अनुभूति होती तो उसे भी ओझा विविध प्रकार की वस्तुयें धन आदि दान देने की सलाह देता था दान देने की उदारता ने ही दानदाताओं को ठगी का शिकार बनाया तथा कालान्तर में यह अन्धविश्वास और मिथ्या आडम्बर पूरे राष्ट्र में फैल गया।

यदि व्यक्ति दान आदर्शों को ध्यान में रखकर, उत्तम कोटि के व्यक्तियों को, उनकी आवश्यकताओं के अनुसार दान देता तो उपरोक्त दान के दुरूपयोगों का जन्म न होता।

आर्थिक परिप्रेक्ष्य में दान– भारतीय इतिहास का उदय सिन्धु घाटी की सभ्यता से होता है और उसी समय से मानव के आर्थिक जीवन का भी पता लगता है। जीविकोपार्जन के लिये जो

प्रयास वह करता है तथा जिस प्रक्रियात्मक व्यवहार को वह दूसरे के साथ सम्पन्न करता है उसे आर्थिक व्यवहार कहते हैं। सिन्धुघाटी की सभ्यता के लोग कृषि को सर्वाधिक महत्व देते थे। वह भविष्य के लिये अन्न का संग्रह भी करते थे। कृषि की सभी विधाओं से वे परिचित थे। गेहूँ, जौ, तिल, कपास, चावल आदि वे उत्पन्न करते थे, इसके अतिरिक्त शाकभाजी, फल आदि भी वे उत्पन्न करते थे। ये लोग कृषि के अतिरिक्त व्यापार भी करते थे। विविध उत्पादनों का क्रय-विक्रय इनके यहाँ होता था। ये लोग अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये अनेक वस्तुओं का उत्पादन करते थे। ये अपना तन ढकने के लिये सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्र तैयार करते थे। सिलाई के लिये सुई तथा सींगों के बटन का प्रयोग होता था। जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती थी उनका उत्पादन भी ये लोग करते थे। मुख्य रूप से कैंची, कुल्हाड़ी, हंसिया, हथौड़ा, सुई, खिलौने तथा गृह निर्माण के उपकरण बनाते थे। इस समय किस प्रकार की सांकेतिक मुद्रा का प्रचार-प्रसार था इसके ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं मिलते किन्तु जो मुद्रायें यहाँ प्राप्त हुयी हैं उन्हे सांकेतिक मुद्रा माना जा सकता है। बढ़ई, सुनार, जौहरी, चित्रकार, मूर्तिकार, रंगरेज और वास्तुकार अपनी कला से धन अर्जित करते थे। इस युग में दो वर्ग के लोग पाये गये हैं प्रथम सम्भ्रान्तवर्ग, जिनके मकान बड़े होते थे तथा द्वितीय श्रमिकवर्ग जिनके मकान छोटे होते थे।

पूर्ववैदिक काल में वेदों से तद्युगीन निवासियों की आर्थिक दशा का बोध होता है इस समय के निवासी ग्राम और नगरों में निवास करते थे, इनके मकान लकड़ी और मिट्टी के होते थे, ये हल बैल से उर्वरा भूमि में कृषि करते थे तथा कुँओं से खेतों को सींचते थे।[५६] कृषि पूर्णरूपेण वर्षा पर आधारित थी। ऋग्वेद में वर्षा की प्रार्थना के लिये अनेक मंत्र प्राप्त होते हैं।[५७] कृषि के अतिरिक्त आर्य लोग पशुपालन भी करते थे इन्हें गाय के अतिरिक्त भेंड़ और बकरियों की भी जानकारी थी। ये लोग घोड़ों का भी प्रयोग करते थे और ऊँटों का प्रयोग भी होता था। आर्य लोग कई प्रकार के गृह उद्योग भी करते थे। प्रत्येक गाँव में बढ़ई, लोहार तथा कुम्हार अनिवार्य रूप से रहते थे।[५८] अनेक प्रकार की वस्तुओं का निर्माण इस युग में होता था तथा व्यापार भी होता था। व्यापार को पाणि कहा जाता था। पूर्ववैदिक काल में विनिमय के रूप में सिक्कों का प्रयोग नहीं होता था। गाय और बैल को धन की माप और विनिमय का साधन माना जाता था।

उत्तर वैदिककाल में अर्थिक जीवन में प्रगति हुयी। जंगलों को काटकर कृषि योग्य भूमि का निर्माण किया जाने लगा। कृषि के लिये अनेक उपकरण प्रयोग में आने लगे, पशुओं की मदद से ही कृषि की जाती थी। व्यक्ति इस समय अपने उपयोग के लिये गाय, बैल, भेड़, बकरी, घोड़े, ऊँट, गदहे, कुत्ते आदि पशु पालने लगे, हाथी को भी पालतू बना लिया गया।[५९] इस युग में वाणिज्य में भी काफी प्रगति हुयी, यद्यपि व्यापारिक मार्गों में हिंसक पशुओं और दस्युओं का भय रहता था। इस समय व्यापार करने वाले बोहरे कहलाते थे तथा उद्योगों का भी अच्छा विकास हुआ। किसान, चरवाहे, गड़रिये, मछुवे, रथकार, नापित, धोबी, लकड़हारे, कुम्हार, लोहार, रंगरेज, सुनार तथा रस्सी एवं टोकरी बनाने वाले अपना उद्योग करते थे। इस युग में वस्त्र और धातु उद्योग भी पनपा।

उत्तर वैदिक युग में मुद्रा का प्रचलन हो गया था। किन्तु सामान्य व्यवहार में वस्तु विनिमय प्रचलित था।[६०]

महाकाव्य काल और धर्मसूत्रों के काल में उत्तर वैदिक काल की तरह का ही अर्थिक ढाँचा रहा जो जितना बड़ा कृषक था उसे उतना बड़ा धनाढ्य माना जाता था। चावल तथा जौ कृषि की मुख्य उपज थे। बैल तथा गाय का महत्व अधिक था। भेड़, बकरी, घोड़े तथा गधे भी उपयोग में लाये जाते थे। पशु चर्म से भी अनेक वस्तुओं का निर्माण होता था, इस युग में मिट्टी के बर्तन, कुशा के आसन, चटाई, पर्दे इत्यादि बनाना, लकड़ी के सामान का निर्माण करना, पत्थर का सामान बनाना, भाले, बरछी आदि बनाना, रेशम के वस्त्र बनाना, आदि प्रमुख उद्योग थे। इस युग में स्वर्ण, चाँदी, लोहा, ताँबा, पीतल, सीसा का प्रयोग होने लगा था, इनसे बर्तन आदि बनाये जाते थे तथा युद्धोपयोगी सामग्री भी बनती थी।

बौद्ध युग में आर्थिक जीवन का आधार व्यवसाय एवं कृषि थी। गाँव के पिछले भागों में चारागाह एवं वन होने के कारण पशुपालन में आसानी होती थी। कृषि योग्य भूमि पहाड़ों से दूर होती थी तथा सिंचाई के लिये नालियों का प्रयोग होता था। चावल, गेहूँ, जौ, तिल तथा गन्ना मुख्य रूप से उगाये जाते थे। सिंचाई, नहरों और कुँओं से होती थी। गाँव और शहरों में शिल्पकार और व्यवसायी रहते थे इनमें हाथी दाँत का काम करने वाले, शिल्पी, जुलाहे, लोहे का सामान बनाने वाले, बढ़ई, कुम्हार, चमार, स्वर्णकार, मालाकार, नलकार, रंगरेज, हलवाई, ज्योतिषी, वैद्य, नट, रजक, बधिक, मछुआरे, सर्राफ, नाविक, संगीतज्ञ, नर्तक, अभिनेता, नाई, धनुषबाण बनाने वाले, रसोइये और चित्रकार आदि प्रमुख थे। वस्त्रकार रेशमी और सूती वस्त्र बनाते थे। इस समय व्यवसायियों को अनेक श्रेणियों में बाँटा जाता था, इसमें प्रथम श्रेणी में राजगीर, लुहार, बढ़ई, चित्रकार, सौदागर तथा मालियों को रखा जाता था[६१] तथा द्वितीय श्रेणी में अन्य लोग आते थे। इन लोगों के अपने संघ भी थे, इनके प्रमुख को ज्येष्ठन या श्रेष्ठन कहते थे। इस समय व्यापार की स्थिति अच्छी थी, बाह्य और अन्तरिक दोनो प्रकार के व्यवसाय विकसित थे। व्यापार स्थल को 'नेगमगाम' के नाम से पुकारा जाता था, यहाँ अनेक वस्तुओं का क्रय-विक्रय के लिये रखा जाता था। बहुत से व्यापारी गाँव-गाँव जाकर सामान बेचते थे। विदेशी व्यापार स्थल और समुद्री मार्ग दोनों से होता था। इस युग में लंका, बर्मा, सुमात्रा, मलाया और बंगाल से हमारे व्यापार होते थे। व्यापार के लिये जहाजों और नावों का प्रयोग होता था। इस समय व्यवसाय की कठिनाई को दूर करने के लिये कार्षापण, निष्क तथा स्वर्णमुद्रा का प्रयोग होता था। उधार व्यापार भी होता था, ब्याज पर ऋण दिया जाता था।

मौर्यकाल में आर्थिक दशा का विस्तार हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल से लेकर अशोक के शासनकाल तक आर्थिक दशा में काफी सुधार हुआ। इस समय मुख्य आजीविका का साधन कृषि थी। मौर्य दरबार में आया सुप्रसिद्ध विद्वान मेगस्थनीज यह मानता है कि भारतवर्ष में अनाज कभी मंहगे नहीं हुये। कृषि की प्रगति के लिये शासन ने एक नीति बनायी थी। कृषि की

रक्षा के लिये चरवाहे नियुक्त किये जाते थे। सिंचाई की सुविधा के लिये चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक ने जूनागढ़ के निकट सुदर्शन झील का निर्माण कराया था। जूनागढ़ अभिलेख में इस सन्दर्भ में कहा गया है-

''मौर्यस्य राजस्य चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्येन पुष्यगुप्तेन कारितं,
अशोकस्य मौर्यस्य यवनराजेन तुषास्पेनाधिष्ठान प्रणालीभिलंकृतकृता।।''[६२]

कुछ जातियां सामूहिक रूप से कृषि कार्य करती थीं। इस युग में व्यापार की स्थिति अच्छी थी। व्यापार के लिये शासन का सहयोग भी प्राप्त होता था। उत्तरी मार्ग से भारतवर्ष में ऊनी वस्त्रों, घोड़ों तथा चमड़े का व्यापार होता था। दक्षिणी मार्ग से मोती, स्वर्ण, हीरे, शंखों एवं बहूमूल्य रत्नों का व्यवसाय होता था। इस काल में भारतवासियों के व्यापारिक सम्बन्ध यूनान, रोम, फारस, लंका, सुमात्रा, जावा, मिस्र, सीरिया और बोर्नियों से थे। कश्मीर, कौशल, विदर्भ प्रसिद्ध व्यावसायिक केन्द्र थे, यहाँ पर अनेक प्रकार के वस्त्र बनते थे। यहाँ पर अनेक प्रकार के खनिज पदार्थ प्राप्त होते थे जिनसे अनेक वस्तुओं का निर्माण होता था। अनेक प्रकार की सैनिक सामग्री तथा आभूषणों का निर्माण यहाँ होता था। धातुओं को शुद्ध करके वस्तुओं का निमार्ण किया जाता था। यहाँ पर व्यवसाय के लिये मुद्रा का प्रयोग होता था। ये मुद्रायें सोने, चाँदी तथा ताँबे की बनी होती थीं। ये दो प्रकार की थी- १. वैधानिक, २. व्यावहारिक। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्वर्ण, कार्षापण, पण, मापक तथा काकणी मुद्राओं का उल्लेख मिलता है। इस युग में श्रमिकों के कल्याण के लिये श्रमिक संगठन भी थे। राजनीतिक सहयोग और आपसी तालमेल के कारण काफी व्यावसायिक प्रगति मौर्य युग में देखने को मिलती है।

गुप्तकाल के पूर्व वाणिज्य और व्यापार की स्थिति उन्नतिशील बनी रही। मौर्यो ने जिस आर्थिक नीति की आधार शिला रखी थी वह गुप्तयुग के पूर्व तक बनी रही। व्यवसाय का क्षेत्र तक्षशिला से काबुल तक तथा कैस्पियन सागर और कृष्णा सागर तक विकसित हुआ। कांधार से लेकर ईरान तक व्यवसाय बढ़ा। भारतीय लोगों ने मध्य एशिया तक अपने सम्बन्ध बढ़ाये। यहाँ के रेशम व्यापार में चीन के व्यापारी भी सहयोगी बने, व्यवसाय बढ़ने के कारण वस्तु के बदले सोने, चाँदी के सिक्के यहाँ आते थे। व्यवसाय के साथ-साथ मुद्रा का विकास हुआ। रोम से आने वाला सोना सर्राफे के काम में आता था। कुषाण और बैक्ट्रियायी शासकों ने व्यापार के लिये स्वर्णमुद्राओ को व्यवसाय के लिये प्रयुक्त किया था। ये स्वर्णमुद्रायें कलात्मक एवं सुडौल थीं। इससे यह सिद्ध होता है कि यहाँ का व्यापार विकसित हुआ। वस्तुओं का निर्यात होता था और उसके बदले कीमती धातुयें वहाँ से आती थीं।

गुप्तयुग में कृषि और पशुपालन मुख्य व्यवसाय थे, इस युग की कृषि वर्षा पर निर्भर थी, सिंचाई का प्रबन्ध राज्य द्वारा किया जाता था किन्तु वह पर्याप्त नहीं था। जंगल में ईधन की लकड़ी, इमारती लकड़ी, पशुचर्म, लाख, रंग, कस्तूरी आदि मिलती थी उसका भी व्यवसाय होता था। हाथी, घोड़ा, भैंस, ऊँट, बकरी, गधे, कुत्ते, सुअर, मोर आदि पाले जाते थे। बड़े व्यवसायी

श्रमिकों की नियुक्ति खेती की रक्षा कटाई तथा व्यवसाय के लिये किया करते थे। इस युग में सुनार, जौहरी, कपड़ा, बुननेवाले, कुम्हार, हथियार बनाने वाले, मोर की पूँछ से पंखा बनाने वाले, आराकस, मोतियों में छेद बनाने वाले, रंगसाज, हाथीदाँत की वस्तुयें बनाने वाले, चूना बनाने वाले, गंधी, कम्बल बुनने वाले, धूप बनाने वाले, शराब बनाने वाले, दर्जी तथा धोबी अपना-अपना उद्योग करते थे। इस समय व्यापार करने के लिये साहूकारों, व्यापारियों के अतिरिक्त जुलाहों, तेलियों और संगतरासों की भी श्रेणियाँ थीं। इस युग में अनेक प्रकार की मुद्रायें चलती थीं। इनमें स्वर्णमुद्रायें अधिक थी चाँदी की मुद्रायें भी थीं और ताँबे के सिक्के भी चलते थे। आर्थिक स्थिति उत्तम होने के कारण ही गुप्त युग को स्वर्णयुग कहा जाता है।

गुप्तोत्तर काल में सामन्त वादी व्यवस्था का सूत्रपात हुआ यद्यपि इसका बीजारोपण गुप्त युग में हुआ था। हेनसांग के विवरण से यह प्रतीत होता है कि उस समय कृषि की स्थिति अच्छीं थी। अभिधान रत्नमाला नामक ग्रन्थ में अनेक पदार्थों के नाम प्राप्त होते हैं। इनमें तीन प्रकार के चावल, कोदों, सरसों, कालीमिर्च, चार प्रकार की दाल (मसूर, कलाय, रल्ला और आढ़क) आदि थे। मेधातिथि ने अपनी पुस्तक में १७प्रकार के अन्न, मिठाइयों, खंड, शक्कर आदि का उल्लेख किया है। कीमती खाद्य पदार्थों में कपूर और अगरू का नाम आता है। अभिधानरत्नमाला में भूमि का वर्गीकरण उसके गुणों के अनुसार किया गया है, इसमें भूमि को उर्वरा (उपजाऊ), इरिण (बंजर), खिल (परती), मरु, रेतीली और मृत्सा (उच्च) आदि नामों से पुकारा गया है। नवीं- दसवी शताब्दी के अरवी लेखकों के अनुसार यहाँ नारियल, नीबू और आम अधिक पैदा होता था। मनु के अनुसार तालाव आदि से सिंचाई होती थी तथा अनेक राजागण, कुयें, झील बाँध आदि बनवाते थे। इस समय कृषकों के दो वर्ग थे प्रथम वर्ग में भूस्वामी और द्वितीय वर्ग में स्वतन्त्र कृषक थे। इस युग में जिन ब्राह्मणों को सामन्त कुछ गाँव दान में दे देते थे वे भी सामन्त बन जाते थे। कुछ मंदिर और मट भी इस काल में जमींदार की भाँति बन गये। ऐसी दशा में कृषक को उपज का बहुत कम भाग मिल पाता था तथा जमींदार अत्यधिक कर वसूलते थे। कर न दे पाने की स्थिति में उन्हें हल बेचने पड़ते थे, किसानों की बेगार करनी पड़ती थी। इस प्रकार अधिकतर कृषक निर्धन होते जा रहे थे।[६३] इस युग में व्यापार की स्थिति उन्नतिशील थी। इस युग में उत्तरी भारत वर्ष में पाल, प्रतिहार, परमार, चौहान तथा दक्षिण में राष्ट्रकूट, चालुक्य, चोलवंशी राजाओं के राज्य में व्यापार को प्रोत्साहन मिला। सर्वाधिक प्रोत्साहन वस्त्र उद्योग को दिया गया। कपास, ऊन और रेशम से बनने वाले वस्त्रों का व्यवसाय अधिक होता था। स्त्रियाँ धागा बुनती थीं, जाली का कार्य करती थीं। दर्जी और रंगरेज सिलने और रंगने का कार्य करते थे। वस्त्र व्यापार नागपत्तन, चोलदेश, अणहिलवाड़, मुल्तान और कलिंग तथा बँग देश का उन्नतिशील था। धातुओं में लोहा, ताँबा, पीतल, टिन, चाँदी और सोने का प्रयोग अधिक होता था, इनसे अनेक वस्तुओं का निर्माण होता था। आभूषणों और रत्नों का भी प्रयोग होता था तथा इनमें नीलम, पन्ना, माणिक, मोती का प्रयोग होता था। तंजौर कला का भी विकास हुआ। वास्तुशिल्प से सम्बन्धित अनेक पुस्तकों से

इसका पता चलता है। युक्तिकल्पतरु नामक ग्रन्थ में अनेक नावों और जहाजों का उल्लेख मिलता है। चोल राज्य में विदेशी व्यवसाय विकसित हुये तथा उनसे आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुयी। चीनी यात्रियों के विवरण से यह ज्ञात होता है कि भारत से गैंडे के सींग, हाथीदाँत, चीते और शेर की खाल, कछुये की पीठ, सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा, सीसा, टिन, ईख, खाँड, काली मिर्च, सोंठ, चन्दन, काला नमक, बहुमूल्य मणियाँ विदेशों को भेजी जाती थीं। अरब को सूती कपड़ा इस देश से निर्यात होता था। इब्नखुर्दादबा के अनुसार चन्दन, कपूर, लौंग, जायफल, नारियल, कबाबचीनी, सूती कपड़े, मखमल, हाथीदाँत और मोती, अरब देशों को भेजे जाते थे तथा अन्य देशों से धूप, ताँबा, सीसा, खजूर, हाथीदाँत, और घोड़े का आयात होता था। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यावसायिक स्थिति बहुत अच्छी थी। व्यवसाय की अच्छी स्थिति के कारण राजाओं के आय के स्त्रोत बढ़े किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो किसान और श्रमिक वर्ग की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। इस स्थिति ने पूँजीवाद और सामन्तवाद को प्रोत्साहित किया।

भारत में सामन्तवाद का उदय– ईसा की छठवीं शताब्दी से लेकर १२ शताब्दी तक देश की आर्थिक स्थिति में अनेक परिवर्तन हुये इनमें सबसे बड़ा परिर्वतन भूमिदान तथा भूमि की व्यवस्था के परिणामस्वरुप आया, इसी व्यवस्था से सामन्तवाद का उदय हुआ। भूमि ही वह सबसे बड़ा संसाधन है, जिससे राज्य और समाज दोनों जुड़े हुये हैं। इस भूमि व्यवस्था के कारण राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में अनेक परिर्वतन हुये। गुप्त काल के पश्चात अनेक प्रकार के अभिलेख प्राप्त हुये हैं जिनमें यह उल्लेख मिलता है कि राजाओं ने भूमि तथा ग्राम, ब्राह्मणों, धार्मिक संस्थाओं, मठों आदि को दान स्वरुप दिये। मध्य युग में संस्थाओं को भी दान देने की प्रथा थी। इस सन्दर्भ में गाहड़वाल राजा गोविन्द चन्द्र की रानी कुमार देवी का लेख प्राप्त होता है।[६४] इसके अतिरिक्त देवपाल का भी ताम्रपात्र मिला है।[६५] यशोवर्मन देव का भी एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें भूमि दान का उल्लेख है।[६६] पाल नरेश देवपाल ने श्रीनगर भुक्ति में स्थित पाँच ग्राम दान में दिये थे।[६७]

इस समय भूस्वामित्व में अनेक परिवर्तन हुये। वैदिक युग में भूमि का स्वामी समाज को स्वीकार किया जाता था, उसके पश्चात सूत्रकारों ने यह कहा कि भूगर्भ से निकली हुयी संपत्ति पर राजा का अधिकार होना चाहिये। मनुस्मृति में भूगर्भ ही नहीं अपितु सब प्रकार की भूमि का स्वामी राजा को स्वीकार किया गया है। इस लिये राजा, जो प्रारम्भ में भूस्वामी नहीं था, वह भूस्वामी बन गया। जो गाँव ब्राह्मणों या देवालयों को दान में दिये जाते थे, उससे यह नहीं लगता कि कृषि योग्य भूमि पर राजा का स्वामित्व था क्यों कि भूमि पर स्वामित्व उन व्यक्तियों का था जो कृषि करते थे। सातवाहन नरेशों ने अपने राज्य की भूमि ब्राह्मणों तथा धार्मिक संस्थाओं को दान में देना प्रारम्भ की। प्रारम्भ में दान में दी हुयी भूमि को कर मुक्त कर दिया जाता था किन्तु कालान्तर में दान दी गयी भूमि पर ग्रहीता को भूमि की प्रभुसत्ता भी सौंप दी गयी। उत्तरी भारत के अनेक राज्यों में भूमि प्राप्त करने वालों को न्याय और दण्ड देने के अधिकार भी दिये जाने लगे। मध्य एवं पश्चिम भारत

में भूमि को दान में प्राप्त करने वालों को दीवानी मामलों में निर्णय देने का अधिकार प्राप्त था। दक्षिण भारत में दान दी गयी भूमि को ग्रहीता बेंच भी सकता था इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि भूमि से बँधे होने वाले कृषक उपज का एक निश्चित भाग भूस्वामी को देते थे इसके दुष्परिणाम स्वरुप सामन्त-व्यवस्था का उदय हुआ।

लगभग ६०० ई० से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि जातीय राज्यों की स्थापना धीरे-धीरे प्रारम्भ हुयी, पहले ये सम्राट के अधीन थे। पृथ्वीराज चौहान के साथ १५० सामन्त राजा थे। फरिश्ता के अनुसार "जब भारतीय राजा किसी पड़ोसी राज्य पर विजय प्राप्त करता है तब वह पराजित राजवंश के ही किसी व्यक्ति को उस पर शासक नियुक्त करता है और वह विजेता के नाम पर वहाँ शासन करता है।"[६८] इसी प्रकार गुर्जर, प्रतिहार, कल्चुरि, चालुक्य तथा परमार वंशी नरेशों के सामन्तों का उल्लेख मिलता है। शुक्रनीति में कहा गया है कि सामन्त अपने स्वामी के कार्य में प्राण उत्सर्ग कर दे।[६९] राजनीति रत्नाकर नामक ग्रन्थ में सामन्तों की दो कोटियाँ मिलती हैं सकर और अकर।[७०] सकर सम्राट को कर देता था और अकर विशेष अवसरों पर सम्राट को उपहार देता था। भूस्वामित्व व्यवस्था के परिवर्तन के कारण सामन्तीय व्यवस्था अथवा जागीरदारी व्यवस्था का उदय हुआ। इसने प्रशासनिक ढाँचे को प्रभावित किया, इस व्यवस्था के कारण भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटने लगी। प्राप्त भूमि अन्य लोगो को दान में दी जाने लगी इससे राज्य की आय छोटे-टोटे टुकड़ों में बिखर गयी। कृषक और राजा दोनों की स्थिति दुर्बल हो गयी। आय का प्रमुख भाग सामन्तों के हाथ में जाने लगा। ब्राह्मण को दी जाने वाली भूमि कर मुक्त थी जिससे राजस्व की भारी क्षति हुयी, ऐसे सामन्त उत्पन्न हो गये जो कृषकों से १/३ भाग कर के रूप में वसूलने लगे। करों के इस बोझ के कारण बेगार प्रथा का जन्म हुआ। सामन्त, नौकरशाही से मुक्त हो गये, उन्हें स्वतः न्याय और प्रशासनिक अधिकार भी मिल गये। राजा के पास राज्य की भूमि का एक बड़ा हिस्सा रहता था तथा उनके सम्बन्ध ग्राम अधिकारियों से अलग-अलग ढंग के होते थे। सामन्तशाही अर्थव्यवस्था के कारण यह गतिशीलता समाप्त हो गयी। राजाओं की शक्ति कमजोर हुयी और भूमि छोटे-छाटे टुकड़ों में बंट गयी। व्यापार में भी गिरावट आयी। कृषकों के सामने जीविकोपार्जन की समस्या पैदा हो गयी। व्यापार की गतिशीलता स्थिर हो जाने के कारण व्यापारी भी किसानों का शोषण करने लगे। सामन्त भी किसानों का शोषण करते थे इस प्रकार से किसान गरीब, दुर्बल और समस्याग्रस्त हो गया। पहले कृषकों की गणना वैश्यों की कोटि में होती थी, अब वह शूद्र की कोटि में गिना जाने लगा।

जब सूत्र ग्रन्थों की रचना हुयी एवं कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दक का नीतिशास्त्र, महाभारत, आदि ग्रन्थ लिखे गये उस समय देश में सामन्तशाही पद्धति नहीं थी। ऐसा कोई भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता जिसमें सामन्तवाद के सन्दर्भ में कुछ भी वर्णन दिया गया हो। कभी-कभी इस पद्धति से अराजकता भी उत्पन्न हो जाती थी। इसने एक ओर सामन्तों को धनवान बनाया तो दूसरी ओर कृषकों और उत्पादकों को गरीबों की श्रेणी में खड़ाकर दिया।

दानदाता के आय के स्त्रोत– दान दाता के आर्थिक स्त्रोतों का सर्वप्रथम पता लगाना इसलिये आवश्यक है क्योकि जब तक उनके धन के स्त्रोत का पता नहीं लगता, उस समय तक दान दिये जाने वाले धन का स्त्रोत भी पता नहीं लग सकता। अधिकांश स्मृतियों में दान दाताओं के बारे में यही पता लगता है कि वे उच्च और समृद्धिशाली व्यक्ति थे तथा उनके पास धन की कोई कमीं नहीं थी। यही लोग दान दिया करते थे। राजाओं की यह परम्परा थी कि वे दान का वितरण करें क्योकि यह उन्हें उत्तराधिकार से प्राप्त हुआ था। वेदों में भी इसका उल्लेख मिलता है।[७१] राजाओं के पास उपलव्ध सम्पत्ति के सन्दर्भ में उनके आय के स्त्रोतों को निम्न दृष्टिकोणों से मूल्यांकित कर सकते हैं-

१. उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति– प्रत्येक सामन्त अथवा राजा उत्तराधिकार में अपने राज्य के साथ-साथ एक विपुल सम्पदा भी प्राप्त करता था। इस सम्पदा में चल और अचल दोनों प्रकार की सम्पत्ति होती थी। अचल सम्पत्ति के रूप में उसे दुर्ग, राजमहल आदि प्राप्त होते थे। चल सम्पत्ति के रूप में उसे भरा पूरा राजकोष जिसमें स्वर्ण, रजत, रत्न, आभूषण तथा अन्य कीमती वस्तुयें शामिल थीं, प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त भोग विलास के अन्य साधन भी उसे उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होते थे। इस संसाधन का प्रयोग वह या तो कुल परम्परा के अनुसार करता था अथवा निजी इच्छा से करता था। वह अपने धन को राजतिलक, पुत्रजन्मोत्सव, विवाहोत्सव एवं विभिन्न प्रकार के धार्मिक यज्ञों के अवसर पर, ग्रहीता वर्ग को दान में देता था। दान देना राजा की इच्छा पर निर्भर होता था क्योंकि वही धन का स्वामी होता था। वह जिसे चाहे अपनी इच्छानुसार दान दे सकता था[७२] और दान में कोई भी वस्तु देने का वह अधिकारी था। ईसा का चौथी शताब्दी में राजाओं के मध्य यह धारणा उत्पन्न हुयी कि दान देने से भिखारियों के माध्यम से उनका यश चारों ओर फैलता है। इस तरह से उनकी समृद्धि और यश उन्हें गौरव प्रदान करती थी।[७३] राजागण अपनी ही सम्पत्ति से भूमिदान आदि करते थे तथा उस पर लगान भी माफ कर देते थे। इस लगानमाफी से राज्य को काफी आर्थिक नुकसान उठाना पड़ता था। ऐसा प्रतीत होता है कि तद्युगीन राजागण दान की भावना से बहुत अधिक प्रभावित थे। राजा का यह नैतिक कर्तव्य था कि दान देकर वह लोगों का समर्थन प्राप्त करे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[७४] तथा मनुस्मृति[७५] में इसके उदाहरण प्राप्त होते हैं।

२. कर द्वारा प्राप्त आय– सामन्त अथवा राजा अपने राज्य में कृषि, व्यापार, उद्योग, वन एवं खनिज सम्पदा में विशेष प्रकार के कर लगाया करता था। मनुस्मृति में कर के सन्दर्भ में विस्तार से चर्चा की गयी है यथा-

> ''क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्। योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्।।
> यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम। तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान्।।''[७६]

अर्थात् व्यापारी के माल की खरीद व ब्रिक्री तथा पूरा खाने पीने का खर्च, माल की हिफाजत में जो खर्च हुआ इन सब बातों का विचार कर राजा उनसे कर लेवे। जिससे राजा और

व्यापार कृषि आदि करने वाले व्यवसायियों को लाभ हो, इसका विचार कर राजा सदा कर की कल्पना करे।

''यथाल्पाल्पमदन्त्याघं वार्योकोवत्स षट्पदाः। तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्रादाज्ञाब्दिकः करः।।
पंचाशद्भाग आदेयो राजा पशुहिरण्ययोः। धान्यनामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा।।''[७७]

जिस प्रकार जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़ा-थोड़ा अपना भक्ष्य खाते हैं उसी प्रकार राजा को प्रजाओं से थोड़ा-थोड़ा ही वार्षिक कर लेना चाहिये। राजा को व्यापारियों से पशु और सोने के लाभ का पचासवां भाग और कृषको अन्न का छठा, आठवां या बारहवां भाग लेना चाहिये।

''आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्। गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च।।
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च। मृन्मयानां च माण्डानां सर्वस्याश्मयस्य च।।''[७८]

अर्थात् पेड़, माँस, मधु, घी, गंध, औषध, रस, फूल, फल कन्दमूल, पत्ते, साग, तृण, चमड़ा, बाँस के बर्तन, मिट्टी और पत्थर के बर्तन, इन सबके लाभ को छठा भाग लेना चाहिये।

कर द्वारा प्राप्त आय राजा या सामन्त अपनी इच्छा से व्यय करता था तथा इस सम्पत्ति को वह दान में भी दे सकता था। यदि राजा यज्ञ आदि करता था और उसके पश्चात् दान अथवा दक्षिणा के रूप में पशु, मुद्रा, आभूषण ब्राह्मणों आदि को प्रदान करता था तो उसकी प्रतिष्ठा समाज में बढ़ जाती थी।[७९]

३. उपहारादि से प्राप्त होने वाली आय– जब कोई राजा या सामन्त विशेष उत्सव आयोजित करता था उस समय राजा या सामन्त को उपहार देने की प्रथा थी। मुख्य रूप से राजतिलक जन्मोत्सव कन्या विवाह तथा युद्ध जीतने के अवसर पर राजा को अनेक प्रकार के उपहार प्राप्त होते थे। राजघरानों में यह सामान्य नियम था कि जब कोई राजा से सामान्य रूप से भी मिलने जाता था तो वह राजा के लिये कुछ न कुछ उपहार लेकर जाता था। राजा के अधीनस्थ सकर और अकर सामन्त भी राजा को उपहार दिया करते थे। इससे राजा को अच्छी आय प्राप्त हो जाती थी। उदाहरणार्थ जब युधिष्ठिर ने अश्वमेघ यज्ञ किया उस समय अनेक नरेश और सामन्त युधिष्ठिर के लिये उपहार लेकर उपस्थित हुये।

''ते प्रियांर्थ कुरूपतेराययुर्नृपसत्तम्। रत्नान्यनेकान्यादाय स्त्रियोऽश्वानायुधानि च।।''[८०]

अर्थात् निमन्त्रण पाकर वे सभी नरेश कुरुराज युधिष्ठिर का प्रिय करने के लिये अनेकानेक रत्न, स्त्रियाँ, घोड़े और भाँति-भाँति के अस्त्र-शस्त्र लेकर वहाँ उपस्थित हुये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा को भेंट या उपहारादि से काफी धन की प्राप्ति हो जाती थी। यह भेंट या उपहार या तो वह स्वयं रख लेता था या दूसरों को दान में दे देता था।

४. युद्ध में विजय आदि से होने वाली आय– जब राजा अपनी यश प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये दूसरे राजाओं के साथ अपनी शक्ति अथवा पौरुष का प्रदर्शन करता था और युद्ध करता था उस समय उसे हारे हुये नरेश का राज्य और उसकी धन सम्पत्ति प्राप्त हो जाती थी। वहाँ के नौकर चाकर और नागरिको को जीता हुआ राजा दास के रूप में स्वीकार करता था, इस

प्रक्रिया से भी राजाओं को अपार सम्पत्ति प्राप्त हो जाती थी, तथा वह जीत को एक महोत्सव के रूप में मनाता था, इस तरह वह विजित देश की सम्पत्ति का आधा भाग वह अपने उपयोग में लाता था और उसे महलों में राजकोष में रखने के लिये भेज देता था, बाकी सम्पत्ति का आधा भाग वह ब्राह्मणों, यज्ञकर्ताओं, वन्दीजनों और भिखारियों में बाँट देता था।[८१] राजा, जो धन व्यय करता था विपरीत परिस्थितियों में उसकी उगाही भय और आतंक दिखाकर किया करता था।

५. कृषि से प्राप्त आय– राजा के पास उसके अधिकार की भूमि का एक बड़ा हिस्सा होता था जिस पर राज्य की ओर से कृषि होती थी, इसमें जब कोई व्यक्ति, राजा, सामन्त या जागीरदार का कृषि पर निर्धारित कर न अदा कर पाता था, उस समय उस कृषक की समस्त भूमि राजा अथवा सामन्त हथिया लेता था इस प्रकार सामन्त अथवा राजा अच्छी खासी भूमि का स्वामी बन जाता था वह इस भूमि को दूसरों को कृषि करने को दे देता था उससे इसे काफी आर्थिक आय होती थी।[८२]

६. व्यवसायों एवं व्यापार से प्राप्त होने वाली आय– अनेक सामन्त तथा पूँजीपति व्यवसाय में भी दिलचस्पी लेते थे, वे कृषि उपज तथा दस्तकारों की बनायी हुयी वस्तुओं को लागत मूल्य से कुछ अधिक देकर खरीद लेते थे और उनका संग्रह किया करते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर उन्हीं वस्तुओं को अधिक मूल्य लेकर दूसरे व्यक्तियों को बेंच दिया करते थे। भारत में दस्तकार उत्तम कोटि का सामान तैयार किया करते थे। यह अन्य देशों को निर्यात किया जाता था जिससे अच्छी खासी आय प्राप्त हो जाती थी। उत्पादक स्वतः अपना व्यवसाय करने में असमर्थ था इसलिये पूँजीपति अथवा सामन्त इस प्रकार के व्यवसाय से लाभ उठाते थे।[८३] यदि सामन्त अथवा राजा व्यवसाय नहीं भी करता था तो उसे आयात-निर्यात की वस्तुओं में व्यापार कर (चुंगी) से आय की प्राप्ति होती थी।

दानदाता द्वारा दान देने का अवधारणा– जब किसी भी व्यक्ति के पास सीमा से अधिक धन एकत्र हो जाता था तो उसके सामने एक समस्या यह पैदा होती थी कि वह धन की इस विशाल राशि का क्या सुदपयोग करे क्योंकि यह धन उसकी व्यक्तिगत आवश्यकता की पूर्ति से काफी अधिक होता था इसलिये वेदों और स्मृति ग्रन्थों से उसे यह आदेश प्राप्त थे कि वह धन का उपयोग जनकल्याण में करे। उस समय ऐसे-ऐसे भी लोग थे जो विविध संसाधनों से धन एकत्र करके धनी तो बन गये थे किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम था कि वे धन का क्या करें। इसलिये वे निम्न भावनाओं को ध्यान में रखकर दान देकर व्यक्तियों को आर्थिक लाभ पहुँचाते थे-

१. एकत्रित धन को गतिशील बनाये रखने के लिये– धनवान दानदाताओं को यह सुझाव दिया गया था कि जिस प्रकार समुद्र अपने जल को मेंघों में परिवर्तित करके पृथ्वी पर वर्षा के माध्यम से वितरित करता है उसी प्रकार धनवान व्यक्ति भी अपने धन को दान की वर्षा से ग्रहीताओं अथवा याचकों को लाभ पहुँचाता है। इसमें एक रहस्य और छिपा हुआ है कि जिस प्रकार वर्षा का जल पुनः नदी-नालों के माध्यम से समुद्र में दुवारा एकत्र हो जाता है उसी प्रकार

दान किया हुआ धन ग्रहीता से उसे कर व्यवसाय, कृषि आदि माध्यमों से दुबारा वापिस मिल जायेगा। इस प्रकार से दानदाता ग्रहीता का आर्थिक सहयोग करता रहता था और ग्रहीता का धन दुबारा उसके पास संग्रहीत होने आ जाता था। इस प्रकार धन का आवागमन सुनिश्चित होता रहा।

२. जनकल्याण के लिये- दानदाताओं के हृदय में इस भावना ने जन्म लिया कि मनुष्य का जन्म जीव को बहुत मुश्किल से प्राप्त होता है इसलिये यदि वह सद्गति और मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो वह जनकल्याण की भावना अपने हृदय में उत्पन्न करे तभी वह उत्तम गति को प्राप्त कर पायेगा। इसके लिये शास्त्रों में अनेक उदाहरण उपलब्ध होते है जिन्होने जनकल्याण के लिये दान और त्याग के मार्ग को चुना था। महर्षि अत्रेय, उशीनर कुमार शिवि, काशी नरेश प्रतर्दन, संकृति के पुत्र राजा रन्तिदेव, देवावृध, अम्बर्रास, कर्ण, वृषादर्भि, राजानिमि, परशुराम, वसिष्ठ, राम, राजा कच्छसेन, महाराज मरुत्त, ब्रह्मदत्त, राजामित्रसह, सुद्युम्न, सहस्त्रचित्य, शतद्युम्न, द्युतिमान, मदिराश्व, लोमपाद, भगीरथ आदि नरेशों और महान व्यक्तियों ने लोक कल्याण की भावना से प्ररित होकर दान दिये।[८४]

३. मान-सम्मान, प्रतिष्ठा, यश एवं दिखावे के लिये- कभी-कभी दानदाता विशेषकर राजा और सामन्तगण अपनी आर्थिक समृद्धि को प्रदर्शित करने के लिये भी दान दिया करते थे। इस प्रकार से वे यह प्रदर्शन किया करते थे कि वे सर्वाधिक धनी है धन के सन्दर्भ में कोई दूसरा व्यक्ति उनका मुकाबला नहीं कर सकता। इसीलिये वे सबसे बड़े दानदाता भी हैं वे दूसरे पड़ोसी राजाओं को आर्थिक समृद्धता दिखाने के लिये दान आदि के कृत्य प्रत्येक महीने के सुनिश्चित दिनों में किया करते थे। दान की यह भावना अपने आप को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये होती थी।[८५] इस प्रकार के दानों ने अर्थव्यवस्था को बहुत अधिक प्रभावित किया। जब कोई राजा जनकल्याण के लिये कोई नीति बनाता था, उस समय जनकल्याण और लोकहित के लिये दान की राशि अलग कर देता था।[८६] यदि इस प्रकार के कोष को अलग नही भी रखा जाता था तो भी राजा अपने व्यक्तिगत कोष से दान देता था। मौर्य साम्राज्य मे भी यह प्रथा थी। राजा अजातशत्रु, उदयन, नन्द, अशोक और खारवेल के समय तक यह प्रथा अनवरत चलती रही। इसके बाद भी सम्राट हर्षवर्द्धन के समय तक इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। फाह्यान और ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरणों में इस बात का उल्लेख किया है कि उनके जमाने में भारतवर्ष में ऐसे सामन्त थे जिनके पास असीमित भूमि और असंख्य धन था तथा उनके ग्रहीता भी इसी प्रकार के थे जो धर्म के नाम पर असीमित भूमि और असंख्य धन का उपभोग करते थे।[८७] इस प्रकार इस युग में सामन्त वर्ग अपनी प्रतिष्ठा और शक्ति का प्रदर्शन दान देकर किया करता था।

दी जाने वाली वस्तुओं से ग्रहीताओं को आर्थिक लाभ- दानदाता ग्रहीताओं को जो वस्तुयें दान में देता था उन वस्तुओं से उसकी आवश्यकता की पूर्ति होती थी और उसे आर्थिक लाभ भी मिलता था। यदि वह स्वतः अपने निजी धन से आवश्यकता की वस्तुयें खरीदता तो उसकी आर्थिक हानि होती। यदि वे वस्तुयें उसे निःशुल्क उपलब्ध हो गयीं हैं तो उसे

आर्थिक लाभ हुआ और दानदाता को आर्थिक हानि हुयी। दाता को दान के बदले में केवल पुरुषार्थ और कीर्ति का ही लाभ हुआ। निम्न वस्तुयें जो ग्रहीता को दान में दी जाती थीं, उनके आर्थिक लाभ को भी चिन्तन का विषय बनाना आवश्यक है-

१. भूमि- यदि ग्रहीता घर बनाने के लिये भूमि प्राप्त करता है तो वह अपने लिये स्थाई निवास बनाकर सुख से उसमें रह सकता है। जो व्यक्ति जीविका के कोई साधन नहीं रखता तथा वह बिना अन्न के भूखों मरता है यदि वह व्यक्ति उपजाऊ भूमि दान में पा लेता है तो निश्चित ही उसका कल्याण होता है। इसी प्रकार ग्रहीता यदि जोती बोई उपजी फसल वाली भूमि दान में प्राप्त करता है और उसे बना बनाया मकान प्राप्त होता है तो वह आर्थिक समस्या से मुक्त हो जाता है[८८] तथा दान दाता को हृदय से आशीर्वाद देता है भूमि के बदले दान दाता को केवल उत्तमगति, यश देवलोक और मोक्ष का ही आशीर्वाद प्राप्त होता है।

२. गाय- भारतीय संस्कृति में गाय का विशेष महत्व है। यह व्यक्ति को दूध प्रदान करती है जिसे पीकर व्यक्ति बलिष्ठ बनता है। गाय का बछड़ा बैल बनकर कृषि कार्यो में सहयोग प्रदान करता है। गोमूत्र एवं गोबर, लिपाई पुताई एवं धार्मिक कार्यों में काम देता है। गाय के सींग से पलंग की बिनाई आदि में मदद मिलती है। मृत गाय के चर्म से जूते चप्पल आदि का निर्माण होता है। इसलिये गाय का आर्थिक लाभ ग्रहीता के लिये बहुत अधिक है। गाय से ग्रहीता को घी और दूध की प्राप्ति होती है तथा यह घी और दूध यज्ञ आदि कार्यों में भी काम आता है। गाय भारतीय संस्कृति की पूज्य माता है तथा इसके त्वचा रोम, सींग, बाल सबकुछ उपयोगी होते हैं। गाय से प्रयोजन की सिद्धि होती है वह दूध से जीवन की रक्षा करती है। गायें परम पावन तथा बहुत सा लाभ प्रदान करने वाली हैं। गायों की तुलना लक्ष्मी से की गयी है, जिस प्रकार कामधेनु समस्त कामनाओं की पूर्ति करती है उसी प्रकार गाय थी समस्त कामनाओं को पूरा करती है इसलिये ग्रहीता के लिये गाय बहुत ही लाभकारी है। दाता के लिये भी गोदान सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[८९] ग्रहीता को यदि गाय दान में मिलती है तो वह अपने धन को बचा लेता है और दाता को गोदान करने से आर्थिक हानि के बदले में पुण्य और पुरूषार्थ का लाभ मिलता है।

३. अन्न- इस जीवन में मनुष्य के लिये अन्न से बढ़कर कोई अन्य वस्तु नहीं है। अन्य मनुष्य को नवजीवन प्रदान करता है उससे शरीर को ऊर्जा और शक्ति मिलती है तथा उसका शारीरिक विकास भी अन्न से ही होता है इसलिये ग्रहीता के लिये अन्न का दान प्राप्त करना आर्थिक दृष्टि से लाभकारी है क्योंकि ग्रहीता को अन्न से बुद्धि और स्फूर्ति प्राप्त होती है इससे शरीर का बल बढ़ता है। संसार के सारे मनुष्य गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा भिक्षा माँगने वाले अन्न से ही अपने जीवन की रक्षा करते हैं। अन्न से ही बाल बच्चों का पोषण होता है, अन्न से ही थके-माँदे बूढ़े व्यक्ति को संतोष मिलता है और उसकी भूख मिटती है। कोई भी व्यक्ति परिचित हो अथवा अपरिचित अन्न प्राप्त करके स्वतः और अतिथियों को सन्तुष्ट करता है। अन्न का दान, दाता और ग्रहीता दोनों को फल देने वाला होता है यह धर्म और अर्थ की दृष्टि से भी उत्तम होता

है। ग्रहीता अन्न का दान प्राप्त करता है तो उसे अर्थिक लाभ के साथ-साथ उसकी क्षुधा शान्त होती है तथा उसकी शारीरिक शक्ति कार्य करने योग्य बनी रहती है इस दान से दाता को भी कोई अधिक आर्थिक हानि नहीं होती। किसी व्यक्ति को अन्न दान करने या भोजन करा देने से कोई विशेष कष्ट दाता को नहीं होता।[६०]

४. जल एवं अन्न सम्बन्धित वस्तुयें- इस संसार में जल से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है, यदि व्यक्ति प्यासा है और उसके प्राण पानी को तरस रहे हैं तो वह पानी के महत्व को समझता है, यदि उस समय उसे पानी मिल जाय तो उसे नवजीवन की प्राप्ति हो जाती है। जल से भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है। यह कृषि का आधार है तथा अन्न को पैदा करने वाला भी है इसलिये जलदान के उद्देश्य से दाता पोखर, तालाब और कूप का निर्माण करवाते हैं। गाँव में तालाब का निर्माण कराने से अनेक प्राणियों को आश्रय प्राप्त होता है। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पितर, नाग, राक्षस तथा समस्त प्राणी जल का लाभ उठाते हैं। इन जलाशयों में वर्ष भर पानी उपलब्ध रहता है। ये शिशिर ऋतु, वसन्त ऋतु और ग्रीष्म ऋतु में प्राणियों की प्राण रक्षा करते हैं। इन जलाशयों में प्यासे पशु पक्षी भी पानी पीते है और इनसे लाभ उठाते हैं। अनेक व्यक्ति इनमें स्नान करते हैं, इनके पास विश्राम करते हैं इसलिये जलदान के माध्यम से दाता ग्रहीताओं की आत्मा को तृप्त करता है। जल केवल मनुष्य के प्राणों की रक्षा नहीं करता अपितु वृक्षों के विकास के लिये भी जल का महान योगदान है। वृक्षों से भी ग्रहीता को आर्थिक लाभ होता है, ये वृक्ष फल और फूल से व्यक्तियों की आत्मा तृप्त करते हैं।[६१] इनसे ग्रहीता को आर्थिक लाभ भी मिलता है। ग्रहीता जल संसाधन अथवा जल ग्रहण करके और वृक्षों का दान लेकर आर्थिक लाभ उठाता है जबकि दाता को आर्थिक हानि उठाकर केवल पुरुषार्थ का फल मिलता है।

५. स्वर्ण एवं अन्य वस्तुयें- इस संसार में स्वर्ण की उपयोगिता सर्वाधिक है। स्वर्ण से केवल आभूषण ही निर्मित नहीं होते, अपितु यह समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है व्यक्ति स्वर्ण बेंचकर आवश्यकता की वस्तुयें खरीद सकता है तथा आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का विक्रय करके वह स्वर्ण अर्जित कर सकता है। यही धन है, यही संचय का उत्तम साधन भी। इसी के माध्यम से वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओं का पूर्ति होती है। स्वर्ण से घर और कृषि के लिये भूमि, गृह, सुख-सुविधा के सभी साधन क्रय किये जा सकते हैं। यह हमारी सन्तुष्टि और समृद्धि का प्रतीक भी हैं, इसके माध्यम से अनेक प्रकार के यज्ञ सम्पन्न होते हैं और मनोरथों की पूर्ति भी होती है। स्वर्ण दान से ग्रहीता बहुत अधिक प्रसन्न होता है।[६२]

घृत भी दान की एक उत्तम वस्तु है, यह भोजन के अतिरिक्त यज्ञ आदि कार्यों में भी उपयोगी है इसलिये ग्रहीता को घृत का भी दान दिया जाता है। यदि घृत मिश्रित खीर दान में दी जाय तो वह भी ग्रहीता के लिये लाभकारी है।[६३]

भोजन पकाने के लिये लकड़ियों का दान सर्वोत्तम होता है। लकड़ियाँ भोजन पकाने के अतिरिक्त यज्ञ आदि के कार्य में आती है।[६४]

इसी प्रकार छाता भी एक उपयोगी वस्तु है, यह व्यक्ति को धूप और वर्षा से बचाता है। छाता से किसी भी व्यक्ति को कष्ट नहीं होता तथा इससे व्यक्ति का संकट दूर होता है।[९५]

इसी प्रकार बैलगाड़ी का दान भी उत्तम माना जाता है। व्यक्ति बैलगाड़ी के माध्यम से अपने उत्पादन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकता है और आर्थिक लाभ कमा सकता है। दूर की यात्रा के लिये भी बैलगाड़ी बहुत उपयोगी है इसलिये इसका दान भी आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभकारी है।[९६]

अत्यधिक गर्मी के कारण यात्री के पैर जलते है इसलिये इस कष्ट से दूर करने के लिये उसे जूते दान में देने का विधान है।[९७]

तिल का दान भी महत्वपूर्ण माना जाता है, यह ग्रहीता को तेल प्रदान करता है और अन्त्येष्टि संस्कार में जलांजलि के काम आता है इसलिये तिल दान भी महादान है।[९८]

दीपदान करना भी महत्वपूर्ण माना गया है। दीप अन्धकार को प्रकाश में परिणित कर देता है इसलिये पितरों का हित चाहने वालों को दीपदान करना चाहिये। दीप से नेत्रों का प्रकाश बढ़ता है और यथार्थ का बोध होता है।[९९]

रत्नों का दान भी श्रेष्ठ दान माना गया है। व्यक्ति रत्नों का दान सुपात्र को करे। रत्न भी स्वर्ण की भाँति मनोकामनाओं को पूर्ण करते हैं। ये आभूषणों में जड़कर आभूषण के सौन्दर्य और देह सौन्दर्य में वृद्धि करने वाले होते हैं। ये दाता की आर्थिक समृद्धि के परिचायक हैं तथा ग्रहीता इन्हें दान में पाकर आर्थिक समृद्धि को प्राप्त करता है। यदि ब्राह्मण को रत्न आदि दान में मिलें तो वह भी अपनी आवश्यकता से अधिक रत्नों को दूसरों को दान में दे सकता है। यदि वह चाहे तो वह दान में मिले रत्नों को बेंचकर यज्ञ आदि कर सकता है, यदि कोई रत्न उसे दान में मिले हुये हैं तो वे रत्न ग्रहीता अपने समकक्ष के दूसरे ग्रहीता को दे सकता है।[१००]

वस्त्र दान भी उत्तम कोटि का दान माना गया है उत्तम कोटि के वस्त्र नग्नता दूर करने वाले हैं, ये शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं इसलिये वस्त्र दान भी उत्तम दान माना गया है।[१०१]

दान का आर्थिक विश्लेषण– यदि दान का आर्थिक विश्लेषण किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि दान एक प्रकार का ऐसा आर्थिक सहयोग है जो समृद्धिशाली व्यक्तियों द्वारा कमजोर व्यक्तियों को उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दिया जाता है। दान की दृष्टि में दाता एक ऐसा व्यक्ति है जो आर्थिक दृष्टि से बहुत मजबूत है तथा उसके पास आवश्यकता से अधिक धन है उस धन से वह दूसरों की आर्थिक मदद कर सकता है, इससे दाता के धन का सदुपयोग होता है तथा ग्रहीता दाता के प्रति सदैव कृतज्ञता के भाव ज्ञापित करता है। सहयोग देना मानव जीवन का सबसे बड़ा पुनीत कर्तव्य है इसीलिये इसे धर्म की श्रेणी में रखा जाता है। यदि दान दाता प्रसन्नचित्त होकर निःस्वार्थ भाव से ग्रहीता को बिना याचना के दान देता है तो वह सर्वत्र प्रशंसित होता है तथा उसका दान उत्तम कोटि में आता है। यदि दान दाता याचना करने के पश्चात् ग्रहीता

को दान देता है तो वह उतना श्रेष्ठ दान नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार यदि दानदाता किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर किसी उद्देश्य पूर्ति के लिये दान करता है तो वह दान भी उत्तम कोटि का नहीं हो सकता। सुपात्र ग्रहीता को उसकी आवश्यकता के अनुसार दिया जाने वाला दान ही श्रेष्ठ माना जा सकता है।

दाता, केवल राजा और सामन्त ही नहीं होते, अपितु बड़े-बड़े कृषक, व्यापारी और कलाकार भी होते हैं। मिलिन्दपन्हों नामक ग्रन्थ में १५ प्रकार के व्यवसायियों की कोटि बतलायी गयी है जिन्होंने विविध प्रकार के दान दिये थे इनमें लोहार, धातुकर्मी, बुनकर, रंगकर्मी, स्वर्णकार, रत्न विक्रेता, जरी का काम करने वाले, बढ़ई, सुगन्ध आदि बनाने वाले, चमड़े का कार्य करने वाले, वास्तुकार और माली आदि शामिल थे।[१०२] ये लोग अपनी हैसियत के अनुसार दान दिया करते थे। इनके उल्लेख अनेक अभिलेखों में भी मिलते हैं।[१०३] इनके अतिरिक्त किसान भी दान दिया करते थे। मौर्यकाल के उपरान्त अनेक किसानों और कलाकारों के उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने अपनी स्थिति के अनुसार दान दिया। अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के बावजूद किसानों ने दान दिया।[१०४] मनु और आपस्तम्ब धर्मसूत्र में[१०५] भूस्वामी को यह निर्देश दिया गया है कि वे अपने दासों सेवकों को उनकी आवश्यकतानुसार दान दें। इसी प्रकार कलाकार जो अपनी पैतृक कला से उदरपूर्ति करते थे, जो स्वतः दूसरों के द्वारा दान में दी हुई भूमि आदि से अपना जीवन यापन करते थे, समय-समय पर वे भी दान देते थे। उनमें ऐसे भी कलाकार थे जो अपने गाँव की आवश्यकता की पूर्ति के अलावा दूसरों की आवश्यकता पूर्ति भी करते थे। इस सन्दर्भ में अनेक शिलालेख प्राप्त हुये हैं जिनमें से कुछ मथुरा में भी हैं।[१०६]

भारतवर्ष में एक छोटा व्यापारी वर्ग भी था जो फुटकर सामान की बिक्री गाँव-गाँव जाकर किया करता था। ये लोग भी जन कल्याण की भावना से दान दिया करते थे। इन्होंने अपना एक संघ बना रखा था जिसमें मंदिर, तालाब, बगीचा तथा अनाथों के लिये धन एकत्रित किया जाता था।[१०७]

अब इस बारे में यह सोंचना पड़ेगा कि ग्रहीता को दान कैसे और कब प्राप्त होता था। अनेक स्त्रियों के संदर्भ में उल्लेख आया है कि उन्होंने संतों, महन्तों तथा अनेक व्यक्तियों को दान दिया और ग्रहीताओं को अपने घर में शरण दी। इस समय अनेक उदाहरण स्त्रियों के संदर्भ में मिलते हैं जो स्वेच्छा से दान दे सकती थीं तथा जिनसे देव-स्थानों के पुजारी दान आदि ग्रहण करते थे, इस संदर्भ में दो प्रकार के ग्रंथ उपलब्ध होते हैं पहले ग्रन्थ ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं जिसमें सामाजिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुये दानदाताओं और ग्रहीताओं का उल्लेख है। साँची के बौद्ध स्तूप में महिला दानदाताओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार के अभिलेख उज्जैन, नंदीनगर और कुरारा घाट में भी प्राप्त होते हैं। इन अभिलेखों के पढ़ने से ऐसा लगता है कि दानदाता और ग्रहीता दोनों ही दान की भावनाओं से प्रभावित थे। कभी-कभी बड़े-बड़े महन्त धार्मिक आयोजन करके दान आदि दिया करते थे। इनका यह मानना था कि जो दान उन्हें प्राप्त

होता है वह जन कल्याणार्थ होता है। इसलिये उन्हें भी दान में उपलब्ध धन को जन कल्याण में ही खर्च करना चाहिये।

दान ग्रहीताओं में ब्राह्मणों का महत्वपूर्ण स्थान था। योग्य और वेदपाठी ब्राह्मणों को ही योग्य ग्रहीता माना गया है क्यों कि ये लोग धर्म के जानकार तथा यज्ञों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले थे, इनका रहन-सहन संयम और सादगी से भरा था। यद्यपि उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मणों के स्तर में कमी आयी फिर भी उनका सामाजिक सम्मान बना रहा। ब्राह्मण अपनी लोकप्रियता का आर्थिक लाभ उठाते रहे और उन्हें दान मिलता रहा। यद्यपि धर्मशास्त्रों में यह स्पष्ट लिखा है कि सुपात्र ब्राह्मण को ही दान दिया जाय। इस प्रकार से प्रमुख ग्रहीता ब्राह्मण बना रहा।

दान की भावना के कारण ही भिक्षावृत्ति का उदय हुआ तथा कुछ व्यक्तियों ने दाताओं की उदारता का आर्थिक लाभ उठाया इसमें ऐसे भिखारी शामिल थे जो इधर-उधर घूम-फिरकर दान ग्रहण करते थे तथा सामान्य व्यक्ति उनको दान दिया करते थे। भिक्षावृत्ति में कुछ ऐसे लोग भी शामिल थे जो अनाथ थे और विकलाँग भी थे, ये भी ग्रहीता वर्ग में शामिल थे। यदि भिक्षावृत्ति के कारणों का पता लगाया जाय तो एक वर्ग विशेष के पास रोजगार और धन की कमी का होना है। जिन व्यक्तियों का सामाजिक बहिष्कार होता था वे लोग भी भिक्षावृत्ति से अपना जीवन यापन कर लेते थे।

थोड़ा बहुत विचार आर्थिक दृष्टि से दान में दी जाने वाली वस्तुओं पर भी करना चाहिये। व्यक्ति कौन से पदार्थ और कौन सी वस्तुयें दान में देता था? यदि गौर से देखा जाय जो जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुयें ही दान में दी और ली जाती थी। मुख्य रुप से अन्न, वस्त्र और रहने के लिए मकान या भूमि, गाय, दान की प्रमुख वस्तुयें थीं। इन वस्तुओं की आवश्यकता व्यक्ति को सदैव रहती थी और ग्रहीता प्राथमिकता के स्तर पर इसे स्वीकार भी करते थे। ये वस्तुयें स्थानीय रीति-रिवाज और परम्परा के अनुसार दी जाती थीं। बौद्ध ग्रंथों में भी इनका उल्लेख मिलता है।[१०८] कुछ स्थानों पर भेड़-बकरी हिरन की खाल आदि दान में देने का विधान था। इस समय भोजन, पेय पदार्थ, दवा, बर्तन, दीपक, तेल, आसन, कुर्सी, जूते, पंखे, बिस्तर आदि दान देने का विधान था। इसके अतिरिक्त खाना पकाने की लकड़ी, अन्न, मधु, कन्दमूल फल, स्वर्ण, पीतल के वर्तन आदि दान में देने का विधान था। कुछ ऐसी भी वस्तुयें दान में दी जाती थीं, जो प्रतिष्ठामूलक थीं। दान से ग्रहीता को आर्थिक लाभ होता था तथा उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। ये आर्थिक लाभ ग्रहीता को उसके कर्म और योग्यता के अनुसार प्राप्त होते थे। यह ग्रहीता की विपत्ति को दूर करते थे और उसकी आवश्यकता की पूर्ति करते थे तथा यह उसके लिये जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन भी था। उदाहरण के लिए जब किसी ग्रहीता को कृषि योग्य भूमि दान दी जाती थी तो वह उसमें खेती करके जीविकोपार्जन करता था तथा जीविकोपार्जन का यह साधन अपने उत्तराधिकारियों के लिए भी छोड़ जाता था।

दान का यह सिद्धान्त अर्थशास्त्र के जनकल्याण पोषित सिद्धान्त की पुष्टि करता है।

इसके अनुसार कोई भी व्यक्ति निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही धन का उपार्जन नहीं करता अपितु वह समाज के उन व्यक्तियों का भी चिन्तन करता है जो उससे कुछ आशा करते हैं। क्यों कि अर्थशास्त्र के अनुसार पूँजी का हस्तान्तरण व्यावसायिक गतिशीलता को सुनिश्चित करता है। इससे दाता और ग्रहीता दोनों को आत्मिक संतुष्टि मिलती है।

प्राचीन भारतीय सामाजिक परिप्रेक्ष्य में दान की भूमिका एवं महाकाव्ययुगीन समाजार्थिक परिस्थितियों से उनकी तुलना- प्राचीन भारतीय समाजार्थिक परिप्रेक्ष्य में दान की भूमिका के अध्ययन के लिये सामग्री समाज एवं अर्थव्यवस्था के प्रायः असंभाव्य दृष्टिगोचर होने वाले स्त्रोतों में खोजनी पड़ती है, जिन्हें प्रायः ब्राह्य रूप से धार्मिक कर्मकाण्ड रूपी अनार्थिक गतिविधियों से संबन्धित किया जाता है वे कभी-कभी सामाजिक एवं आर्थिक विषयों पर भी प्रकाश डालते हैं और इन्हीं सामाजिक एवं आर्थिक विषयों में दान से सम्वन्धित उद्धरण भी यदा-कदा मिल जाते हैं।

प्राचीनतम साहित्यिक स्त्रोतों में पुरोहितों एवं ब्राह्मणों को 'दान-दक्षिणा' आदि देने के उल्लेख मिलते हैं। साथ ही इन उल्लेखों के साथ-साथ दान-दक्षिणा देने वाले अवसरों का भी उल्लेख मिलता है और सामान्यतया प्रत्येक अवसर के लिये उपयुक्त वस्तुओं की सूची भी दी जाती है। कालान्तर में धीरे-धीरे भेंट देने की प्रथा मनमानी न रहकर पद्धतिबद्ध हो गयी। दान की अवधारणा में निहित तत्वों एवं पक्षों से सम्बन्धित कतिपय स्मृति ग्रन्थों में की गई विवेचना से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। इनमें निश्चित रूप से छः तत्वों का उल्लेख मिलता है, दाता (देने वाला), प्रतिग्रहीता (प्राप्त करने वाला), श्रद्धा, भेंट का औचित्य तथा दान देने का स्थान एवं समय।[१०६]

अधिकतर दान देने को धार्मिक रीतियों एवं प्रतीकों से उसके सम्बन्धों के सन्दर्भ में ही देखा जाता है, किन्तु कम से कम ऐसे दो पक्ष हैं जिनका इस अध्याय में अन्वेषण किया जायेगा। पहला तो अत्यन्त स्पष्ट पक्ष दान में देने वाली वस्तुओं की सूची में होने वाले परिवर्तनों तथा आर्थिक परिवर्तनों से उनके तारतम्य का है, दूसरा दान का स्वरूप किस हद तक समाज के सामाजिक-आर्थिक ढ़ाँचे को प्रतिबिम्बित करता है। यह कहना आवश्यक नहीं है कि इस संदर्भ में दान देने वाले उल्लेख विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण अवसरों पर दिये जाने वाले प्रमुख दानों के हैं न कि छोटे पैमाने पर दिये जाने वाले दैनिक दान अथवा नित्य क्रिया रीति के।

प्राचीन भारतीय सभ्यता के प्राचीनतम् ग्रन्थों में देने के सम्बन्ध में अधिक सामान्य रुप से प्रयोग होने वाले दो शव्द हैं-दान एवं दक्षिणा। ये दोनों शव्द किसी भी प्रकार से पर्यायवाची नहीं है। इनमें से पहला तो भेंट के लिये प्रयोग होने वाला सामान्य शव्द है जिसकी व्युत्पत्ति "दा" धातु से हुयी है जिसका अर्थ होता है- देना। अतः दान का सम्बन्ध देने, प्रदान अथवा अर्पित करने, अनुदान करने, समर्पित करने एवं अदायगी के कृत्य से है-क्या और कब दिया जा रहा है इसकी परवाह किये विना। दक्षिणा का अधिक विशिष्ट लक्षण होता है हालांकि इसका अर्थ कुछ अस्पष्ट सा रहता है। इसके अर्थ का विस्तार करके ही यह भेंट कहलाती है। मूल शब्द का अर्थ दक्षिण पक्ष,

पवित्र एवं सम्मान का पक्ष होता है। इसका अर्थ उस यज्ञ को उत्तेजित एवं बलीभूत करना भी होता है जिसके उद्देश्य के लिये यज्ञ सम्पन्न करने वाले को दान दिया जाता है।[११०] अतः अर्थ विस्तार से यह पुरोहित को दी जाने वाली भेंट अथवा दान अथवा यज्ञ की दक्षिणा कहलाने लगा।[१११] देवताओं को दी गयी दक्षिणा प्रतीकात्मक हो सकती है किन्तु पुरोहितों को दी जाने वाली दक्षिणा तो वास्तविक वस्तुओं की ही होनी चाहिये। प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि दक्षिणा का अर्थ कभी वेतन अथवा यज्ञ कराने की फीस न था अपितु उसे वैदिक कालीन अर्थ व्यवस्था के एक अंग के रुप में देखना होगा।[११२] यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में वैदिक काल तक यह दक्षिणा देने की प्रथा अर्थव्यवस्था के एक अंग के रुप में रही किन्तु कालान्तर में 'मनु धर्मशास्त्र' के काल तक यह दक्षिणा अर्थव्यवस्था के एक अंग के रुप के बजाय यज्ञीय फीस समझी जाने लगी क्यों कि समाज में दान दक्षिणा आर्थिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण पक्ष न रह गया था।[११३]

आरम्भिक भारतीय ग्रन्थों के सन्दर्भ में विशेष रूप में ऐतिहासिक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में दान की भूमिका का विस्तृत विवेचन सर्वप्रथम मार्सेल माउस ने अपनी अत्यन्त प्रसिद्ध कृति 'दि गिफ्ट' में किया था। उनके अनुसार-दान कोई अवैयक्तिक भेंट नहीं है क्यों कि यह व्यक्ति अथवा वर्ग से सम्बन्धित है। अतः इसमें केवल उपयोगिता ही प्रेरक शक्ति नहीं है। स्वीकृत धन का प्रतीक महत्वपूर्ण है क्योंकि यह धन एक स्तर प्रदर्शन है, अनुयायियों को जीतकर तथा भेंट स्वीकार करने वालों को आभाराधीन करके अन्य लोगों को नियंत्रित करने का माध्यम है। यह विनिमय मुख्य रूप से उपभोग योग्य वस्तुओं एवं विलासिता की वस्तुओं का था उदाहरणार्थ-भोजन एवं वस्त्र। भेंट एकपक्षीय नहीं होती थी और उसका प्रतिनिवर्तन आवश्यक ही समझा जाता था-हालांकि वास्तविक भेंट की ही वापसी पर प्रतिवन्ध था। भेंट देने की प्रतीकात्मक प्रेरणा इस विश्वास पर आधारित थी कि यह पुनरुत्पादी है और दाता उसके पुनः एक बड़ी मात्रा में वापस पा लेगा।[११४] जनजातीय समाजों में प्रचलित भेंट (दान) की प्रथा के आधुनिकतम अध्ययनों ने कार्यात्मक पक्ष की ओर भी इंगित किया है। भेंट की प्रथा ने एक विशेष रूप से वस्तुओं एवं लोगों को परिचालित रखा। इसके अतिरिक्त प्रथा ने राजनीतिक सम्बन्धों एवं पद-विन्यास बनाये रखने के माध्यम के रूप में भी कार्य किया।[११५]

यदि हम दान की प्राचीनता पर एक दृष्टि डालें तो समाज में एक स्पष्ट कार्य के रूप में दान के सबसे पहले उल्लेख ऋग्वेद के 'दान स्तुति' मंत्रो में मिलते हैं-ये मंत्र उनकी प्रशंसा में रचे गये, जो उदार एवं सुन्दर भेंट प्रदान करते थे।[११६] इन विशेष मंत्रों का विषय या तो दाता है अथवा दान देने का उपलक्ष्य। उदाहरणार्थ, एक मंत्र में चेदि नरेश कशु का सम्मान किया गया है और एक अन्य उल्लेख में हरियूपिया की विजय का उल्लेख।[११७] दाता (दान देने वाला) कोई देवता हो सकता है मुख्यतः इन्द्र और कभी-कभी अश्विनी कुमार, विश्वदेव एवं सरस्वती सहित सोम भी, किन्तु प्रायः वह कोई राजा, जनजातीय मुखिया अथवा नायक होता था। प्रतिग्रहीता (दान पाने वाले) की श्रेणी में मंत्रकार, पुरोहित अथवा चारण सम्मिलित थे जो व्यक्ति अथवा घटना की प्रशंसा में

पद्यों की रचना करते थे। दान प्रायः मानवीय हाथों द्वारा दिया जाता था किन्तु कहीं-कहीं देवताओं के माध्यम से भी दिये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[११८] देवता से कृपादृष्टि का अनुरोध किया जाता था कि वे यज्ञ को निर्विघ्नतापूर्वक पूर्ण हो जाने दें और यदि राजा इसमें सफल हो जाता था तो वे पुरोहितों को भेंट प्रदान करते थे और पुरोहित उनको अपनी मंत्र रचनाओं में अमर कर देते थे।[११९] ऋग्वैदिक युग में दान देने का उपलक्ष्य सामान्यतया सफल युद्ध अथवा पशु पर हमला अथवा शत्रु पर विजय अथवा शत्रु का नाश होता था। इन सभी घटनाओं में इन्द्र की भूमिका सर्वप्रमुख होती थी क्योकि ऋग्वैदिक युग में इन्द्र को प्रधान देवता के रूप में मान्यता मिली हुयी थी और ऐसी मान्यता थी कि इन्द्र शत्रुओं के दुर्गो का नाश करता है एवं वह पृथक एवं सामूहिक रूप से आने वाले दासों पर आक्रमण करता है।[१२०] अतः इस युग में भेंट दान की भावना से कम और सफलता के प्रतीक के रूप में तथा भावी अवसरों और अधिक सफलता के लिये पूँजी निवेश के रूप में अधिक दी जाती थी। इस युग में दान के औचित्य का तो पर्याप्त रूप से बढ़ा चढ़ा कर वर्णन मिलता है किन्तु उसके समय एवं स्थान का उल्लेख बहुत कम मिलता है। सोम से सम्बन्धित होने का यह अर्थ लगाया जा सकता है कि दान 'सोम' संपीडन समारोह के अवसर पर दिया जाता था। स्पष्टतः ऋग्वैदिककाल में दान का उद्‌देश्य उत्तर वैदिककाल में दिये जाने वाले दान के उद्‌देश्य से बहुत भिन्न था।

ऋग्वेद की दान स्तुतियों में पर्याप्त एकरूपता है। प्रायः रचयिता के गोत्र का उल्लेख आरम्भ में ही कर दिया जाता है ताकि उसकी सामाजिक स्थिति में कोई संदेह न रहे और इससे मंत्रो को पुरोहितों की रचना मानने का भी प्रमाण मिल जाता है। देवता की आराधना की जाती है, देवता के कारनामों की प्रशंसा की जाती है तथा देवता से सहायता की प्रार्थना की जाती है। प्रायः ऐसी समान्तर स्थितियों का वर्णन किया जाता है जिनका पूर्ववर्ती काल में सफल परिणाम निकला था और जिनके पास उदार दान प्रक्रिया थी। निःसंदेह भेंट दी जाने वाली वस्तुयें धन से सम्बन्धित होती थीं और प्रायः उनका अंकन बढ़ा चढ़ा कर दिये गये आंकड़ों में मिलता है। ऋग्वैदिककाल में सर्वाधिक मूल्यवान दान एवं धन का विषय पशु थे जिनकी संख्या एक सौ गायों से लेकर ६०००० मवेशियों तक होती थी।[१२१] प्राथमिकता सूची में उसके बाद घोड़े आते हैं। यद्यपि उनकी संख्या छोटी ही है किन्तु प्रायः गायों की तुलना में उनका वर्णन अधिक विवरणपूर्ण होता है। घोड़ों की सामान्य संख्या दस है किन्तु कभी-कभी हजारों युद्धाश्वों का भी उल्लेख मिलता है-एक उदाहरण तो ६०००० का भी है।[१२२] घोड़ियों की तुलना में घोड़ों को प्राथमिकता दी जाती थी, जबकि मवेशी रूपी सम्पत्ति में गायों को महत्व दिया जाता था। ऋग्वैदिककाल में दान दी जाने वाली अन्य वस्तुओं में बैलगाड़ियाँ, रथ, दास कन्यायें, कुमारियाँ, ऊँट, कोष-मंजूषायें, वस्त्र एवं कपड़े, वर्णांश और कभी-कभी धातु के कड़ाह भी सम्मिलित होते थे।[१२३] ऐसा प्रतीत होता है कि दान स्तुतियों का सार तो स्वंय दक्षिण का ही स्तुति गान है। उनमें दक्षिणा के उदारदाताओं अर्थात् 'यजमानों' को संर्वोच्च स्वर्ग के अमर निवासी, किसी भी प्रकार की क्षति से सुरक्षित, युद्ध में

विजयी तथा अपनी पत्नी सहित नित्य सुख में रहने वालों के रूप में वर्णित किया गया है।[१२४]

ऋग्वेद के 'दान स्तुति' मंत्र वीरतापूर्ण काव्य की अभिव्यक्ति हैं। 'दान' देने वाले जनजाति के नायक है जिन्हें कभी-कभी जनजाति के समान ही मान लिया जाता है और वे प्रायः निजी नाम के स्थान पर जनजाति के नाम का ही प्रयोग करते हैं। धन संपत्ति का सूच्यांकन स्तर प्रदर्शन का रूप था क्योंकि चेदि नरेश कशु, दिवोदास, पृथुस्त्रवस अथवा यादवों जैसे राजा बड़े 'दान' देते थे और वे आसंग तथा सॉड जैसे छोटे दानियों की तुलना में कहीं अधिक शक्तिशाली माने जाते थे। दान में दी जाने वाली वस्तुयें धन का प्रतीक ही नहीं अपितु वास्तव में उपयोगी वस्तुयें होती थीं। इस स्थिति में जो संभवतः एक अस्पष्ट निशानी मात्र होता था, वह वास्तविक चीज नहीं होती थी अपितु पर्याप्त बढ़ा चढ़ा कर दिये गये आंकड़े थे।

ऋग्वेद में दान दी जाने वाली वस्तुओं में भूमि की अनुपस्थिति विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। और ऐसा संभवतः इस कारण से था क्योंकि ऋग्वैदिक काल में स्पष्ट रूप से मवेशी ही संपत्ति के पर्याय थे।[१२५] यह इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जाता है कि मवेशियों के भौतिक जीवन के अन्य पक्षों के पर्याय रूप में प्रयोग होने वाले शब्दों एवं अभिव्यक्तितों की कितनी बार आवृत्ति हुई है- उदाहरण के लिये हम 'गविष्टि' 'गोपति' अथवा 'गोपत्' जैसे शब्दों के विस्तरित अर्थों को ही ले सकते हैं। यहाँ तक कि 'दान' की वस्तुओं में अनाज का उल्लेख भी दुर्लभ ही है। यह इस बात की ओर इंगित करना है कि इस युग में आर्थिक इकाई के यप में भूमि की सापेक्षिक महत्ता कम ही थी।

आर.एस. शर्मा जैसे कुछ विद्वानों द्वारा यह तर्क दिया गया है कि ऋग्वैदिक साक्ष्य इस बात की ओर इंगित करते हैं कि राजा मुख्य रूप से मवेशियों का रक्षक था न कि भूमि का, परिणामस्वरूप अंतर्जनजातीय संघर्षों का स्त्रोत भी मवेशी थे न कि भूमि।[१२६] इसका अर्थ यह हो सकता है कि भूमि का स्वामित्व सम्पूर्ण जाति के पास संयुक्त रूप से था और इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण ऋग्वेद में जगह-जगह बिखरे हुये कृषि सम्बन्धी गतिविधियों के उल्लेखों के बावजूद भूमि को अब भी मूलतः क्षेत्रों एवं चरागाहों से युक्त समझा जाता था। कृषि क्षेत्रों के अतिक्रमण की अपेक्षा मवेशियों का हरण कहीं अधिक गंभीर समस्या थी। लोग पणियों से डरते थे क्योंकि वे मवेशियों के चोर होने के अतिरिक्त पशु सम्पत्ति की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध भी थे। 'रयि' (सम्पत्ति) की गणना मुख्यतः मवेशियों से ही होती थी।[१२७] ऋग्वेद का यह भी एक दृष्टव्य तथ्य है कि उसमें 'दान' के लिये पुरूष दास का उल्लेख बहुत कम मिलता है जबकि स्त्री दासों को 'दान' की वस्तु के रूप में स्वीकार किया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि धनी वर्ग में सम्भवतः घरेलू दास प्रथा ऐश्वर्य के एक स्त्रोत के रूप में विद्यमान भी किन्तु आर्थिक उत्पादन में दास प्रथा के प्रयोग की प्रथा प्रचलित न थी।[१२८] भूमि का जनजातीय स्वामित्व जारी रहना राजा विश्वकर्मन यौवन की कथा में प्रतिविम्बित होता है- इस कथा में उसे इस बात के लिये पृथ्वी द्वारा प्रताड़ित किया जाता है क्योंकि उसने अपने अश्वमेध यज्ञ द्वारा विजित भूमि को कश्यप को दान देने की चेष्टा की थी।[१२९] परन्तु

यह विवरण अपवादस्वरूप ही है क्योंकि उसी उत्तरकालीन वैदिक साहित्य के अन्य खंडों में भूमि को मान्यताप्राप्त 'दान' के भाग के रूप में सम्मिलित किया गया है।

ऋग्वेद की दान स्तुतियों का अवलोकन करने के उपरान्त ऐसा लगता है कि आरम्भिक समाजों में दान देने का उद्देश्य तीन प्रकार का है, ब्राह्म रूप से तो यह जादू टोने का कार्य करता है जहाँ भेंट मानवोपरि शक्ति से समागम का प्रतीक है। वास्तव में इसके दो अन्य उद्देश्य हैं जो किंचित अस्पष्ट हैः एक तो यह कि दाता एवं प्रतिग्रहीता दोनों एक दूसरे को स्तर प्रदान करते हैं- हालाँकि प्रत्येक दृष्टांत में तत्सम्बन्धी स्तर का स्त्रोत भिन्न हो सकता है। दूसरा यह कि दान देना आर्थिक संपत्ति के पुनर्वितरण एवं विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करता है।

ऋग्वेद की दान स्तुतियों में राजन्य (क्षत्रिय) का उल्लेख दाता के रूप में तथा ब्राह्मणों का उल्लेख दानग्रहीता के रूप में मिलता है। इनसे पूर्वोक्त अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रियों की ओर से देवताओं से संपर्क स्थापित करते हैं तथा युद्ध एवं मवेशियों के अपहरण की सफलता के लिये कार्य करते हैं- यही सफलता क्षत्रियों को शक्ति एवं राजनीतिक स्तर से विभूषित करती है। इसके बदले में वे पुरोहितों को धनदान देते है और इस प्रकार उनकी जीविका के प्रमुख स्त्रोत का प्रबन्ध करते हैं, इसके साथ-साथ सफलता प्राप्त कराने की प्रक्रिया में निहित ब्राह्मणों की चित्ताकर्षक शक्ति को भी उन्होने (क्षत्रियों) स्वीकार कर लिया। यहाँ पर यह दृष्टव्य है कि ऋग्वेद के इन मंत्रों की रचना के समय तक दान देने या दाता के रूप में एक अत्यन्त सीमित सामाजिक वर्ग ही शामिल था। फिर भी इनसे पूर्ववर्ती चरण के लिये एक अधिक विस्तृत दान के स्वरूप के अस्तित्व का प्रतिपादन किया जा सकता है।[१३०] ऋग्वैदिक काल में एक सफल युद्ध अथवा मवेशियों पर किये गये आक्रमण के फलस्वरूप विजयी जनजाति द्वारा सम्पत्ति को बलपूर्वक हस्तगत कर लिया जाता था।

किन्तु दान-दक्षिण की प्रक्रिया यदि यज्ञ सम्पन्न करने के माध्यम से होती थी तो वह कहीं अधिक समतावादी होती थी। स्वयं यज्ञ को जनजातियों में प्रचलित धन वितरण के माध्यम का एक भिन्न रूप माना जा सकता है। जहाँ तक धन के पुनर्वितरण का प्रश्न था, ऐसा प्रतीत होता है कि अब तक यज्ञ में भी वह उन्हीं दो सामाजिक वर्गों 'क्षत्रियों' एवं 'ब्राह्मणों' तक सीमित था। इस प्रकार युद्ध एवं शान्ति के दौरान 'विश' के परिश्रम से प्राप्त जनजातीय सम्पत्ति राजा के माध्यम से 'दान' अथवा यज्ञ में दी जाने वाली दक्षिण के रूप में पुरोहितों के पास पहुँच जाती थी। यह सम्भव है कि आरंभिक काल में जबकि यह समझा जाता था कि जनजाति यज्ञ में भाग लेती थी, सम्पत्ति का कुछ अंश कुछ अधिक बड़े वर्ग में पुनर्वितरित किया जाता हो, किन्तु ऋग्वेद के रचनाकाल के समय तक पुनर्वितरण एवं जनजाति का यज्ञ में भाग लेना-दोनों बातें अधिक सीमित थीं।

ऐसी स्थिति में यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि धनी वर्गो एवं जनजाति के अन्य लोगों के बीच अन्तर रहा होगा। सम्भव है कि इन्ही धनी वर्गो को 'आर्य' शब्द से अभिव्यक्त किया गया हो। इस पर बेली ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया है और इस

विश्लेषण के आधार पर उन्होने यह कहा है कि धन का स्वामी 'आर्य' कहलाता था।[131] कुछ ऐसा ही सुझाव 'निघुंट' में भी मिलता है जिसमें आर्य को ईश्वर (स्वामी/मालिक) के बराबर माना गया है।[132] पाणिनि ने भी इस विषय में उपरोक्त से मिलते जुलते विचार व्यक्त किये हैं।[133] सम्पत्ति के स्वामी के रूप में आर्यों को विश अर्थात् जनजाति के शेश भाग से भिन्न माना जाता था- विश अब जनजातीय सम्पत्ति में बराबरी के भागीदार नहीं यह गये थे। जैसाकि बेली का कहना है कि सम्पत्ति एवं स्वामित्व के सम्बन्ध से कुलीन वर्ग का आभास मिलता है न कि किसी जातीय समूह का। 'आर्य-वर्ण' में जन्म होने का महत्व 'आर्य' को सामाजिक स्तर एवं सम्पत्ति से सम्बन्धित करता है न कि जाति विशेष से।

उत्तर वैदिक काल में धीरे-धीरे दान की अवधारणा में परिवर्तन आ गया। अब वह उदार संरक्षक द्वारा अपनी सफलता के समारोह पर होने वाली मनमानी उदारता न रह गयी थी। अब वह सम्पत्ति के पुनर्वितरण का माध्यम कम और निश्चित रूप से आयोजित विनिमय का माध्यम अधिक थी। यह बदलता हुआ स्वरूप 'दक्षिणा' शब्द के अधिक सक्रिय प्रयोग की अभिव्यक्ति में मिलता है। सम्भवतः विनिमय के विचार का दृढ़ीकरण इस वक्तव्य में सर्वोत्तम रूप में समाहित है-'देहि में ददामि ते नि में देहि नि ति दधे।[134] उत्तरवैदिककाल में दाता एवं प्रतिग्रहीता वही रहे। दान के औचित्य को और जिस श्रद्धा भाव से वह दिया जाता था, उसको पर्याप्त महत्व दिया गया तथा स्थान और समय को भी और निश्चित रूप से अभिव्यक्त किया गया। ऐसा 'दक्षिणा' के माध्यम से दान देने को यज्ञीय कर्मकांड से और अधिक घनिष्ठ रूप से जोड़कर किया गया। 'दान' की तर्कसंगति को भी विस्तारपूर्वक वर्णित किया गया है। इस काल में हम देखते है कि दो प्रकार के देव है : स्वयं देवता तथा वेदों में पारंगत ब्राह्मण। दोनों को संतुष्ट करना पड़ता था-देवताओं को 'यज्ञों' एवं ब्राह्मणों को 'दान' के माध्यम से।[135] इसी संदर्भ में दान के लिये उचित वस्तुओं के रूप में क्षेत्रों एवं ग्रामों का उल्लेख भी मिलता है हालांकि ये संदर्भ इस काल में कम ही मिलते हैं।[136] यद्यपि पशु अर्थात् पशु सम्पत्ति का अब भी महत्व था किन्तु कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जो दान के रूप में पशुओं की स्वीकृति को मान्यता प्रदान नहीं करते और सम्भवतः उनके स्थान पर स्वर्ण एवं भूमिदान को प्राथमिकता देते हैं।[137] यह आश्चर्यजनक नहीं है क्योकि प्रथम शताब्दी ई.पू. के मध्य तक आर्थिक सम्पदा के रूप में पशु सम्पत्ति की अवधारणा का स्थान धीरे-धीरे भूमि लेती जा रही थी। दान में दी जाने वाली वस्तुओं की सूची में परिवर्तन आने का एक महत्वपूर्ण तथ्य राजसूय यज्ञ के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। सम्पूर्ण प्रक्रिया में 'इष्टिपुर्त' की अवधारणा को और अधिक केन्द्रीय स्थान मिल गया और अब 'इष्टि' एवं 'पुर्त' में ही नहीं अपितु 'इष्टि' एवं 'दक्षिणा' में भी अन्तर किया जाने लगा। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि यह एक रीतिबद्ध अन्तर तो अवश्य है किन्तु पूर्ण रूप से मवेशियों के प्रजनन में पतन एवं कृषि के विकास से असंबन्धित नहीं है। यज्ञ सम्पन्न करने के दौरान देवताओं को भेंट दी जाने वाली 'इष्टि' प्रायः एक प्रकार से अनाजों का मिश्रण अथवा टिकिया सी होती थी-सर्वाधिक प्रयोग में आने वाला अनाज था चावल तथा उसकी

अनेक किस्में। इसके विपरीत अधिकांशतः दक्षिणा के रूप में बैल, गाय अथवा सांड़ दिये जाते थे समान्यतया विशिष्ट लक्षणों से युक्त एक ही पशु होता था अथवा स्वर्ण की इकाई।[१३८] ऋग्वैदिक 'दान स्तुतियों' में उल्लिखित संख्या की तुलना में पशुओं के दान देने की संख्या उत्तरवैदिक काल तक आते-आते काफी कम हो गयी। कभी-कभी मौसमी यज्ञों के लिये दक्षिणा में रथ एवं घोड़ियां अथवा घोड़े भी सम्मिलित किये जा सकते थे।[१३९] किन्तु अब भी सर्वाधिक भव्य दक्षिणा मवेशियों के रूप में ही थी जो उदाहरणार्थ राजसूय यज्ञ के 'सोम' कर्मकांडों के दौरान दी जाती थी। सूची में एक हजार से लेकर चार हजार गायों तक के दान में देने का उल्लेख है और कुछ ग्रन्थों में तो यह संख्या कुल मिलाकर दस हजार तक पहुँच जाती है। एक धनी राजा द्वारा दी जाने वाली 'दक्षिणा' के लिये उपयुक्त संख्या पाँच से तीस हजार तक होती थी जबकि कुछ ग्रन्थों में यह संख्या एक लाख मिलती है। निश्चय ही यह संख्या अत्यन्त बढ़ा-चढ़ा कर दी गयी है।[१४०] इतना तो निश्चित ही है कि मवेशियों के दान में दिये जाने के यह संख्या सम्बन्धी आँकड़े ऋग्वेद में दी गयी संख्याओं से तो कम थे ही। चूँकि आरम्भिक एवं उत्तरकालीन ग्रन्थों में दिये गये अधिकांश उच्च आंकड़े बढ़ा-चढ़ा कर दिये गये है अतः उनकी महत्ता वास्तविक निहित संख्या की अपेक्षा पशुओं के प्रयोग की प्रतीक अधिक है।

प्रमुख यज्ञों के अभिन्न अंग के रूप में विशिष्ट राजकीय कर्मकांडो से सम्बन्धित 'दक्षिणा' प्रायः उस कर्म में प्रयोग की जाने वाली सर्वाधिक मूल्यवान वस्तुओं को ब्राह्मण को ही भेंट देनी होती थी। उदाहरणार्थ, एक ग्रन्थ में हम देखते है कि अध्वर्यु को यजमान का रथ तथा प्रतीकात्मक खेल में प्रयोग किया जाने वाला सोने का पाँसा प्राप्त होता है, अन्य पुरोहितों को गाड़ियां तथा कृत्रिम पशु हमलों में प्रयोग किये जाने वाली एक हजार गायें वितरित कर दी जाती थीं।[१४१] राजसूय यज्ञ के समय शुनः शेष की कथा सुनाने वाल 'अध्वर्यु' एवं 'होतृ' को कुछ गायों के अतिरिक्त वह स्वर्ण आसन भी मिल जाता था जिस पर बैठकर वे पाठ करते थे।[१४२] इस यज्ञ के ही सम्वन्ध में पुरोहित को दी जाने वाली 'दक्षिणा' की सूची में एक अन्य रूप 'चतुष्पत् क्षेत्र' (चार भागों से युक्त क्षेत्र) का भी है।[१४३] यह प्रस्तावित किया गया है कि यह 'राजसूय' अंग के रूप में शाही कर्षण प्रथा में प्रयोग की जाने वाली भूमि होती थी तथा अल्पविकसित कृषि सम्बन्धी जननक्षमता के धार्मिक कृत्य का एक अतीत स्मृति चिन्ह मात्र था।

इन सभी दृष्टान्तों में 'दक्षिणा' स्पष्ट रूप से विशेष कर्मकांड अथवा संस्कार से जुड़ी हुयी है। हेस्टरमैन ने विस्तारपूर्वक तर्क दिया है कि 'दक्षिणा' यज्ञीय शुल्क अथवा वेतन नहीं है अपितु वह भेंट-विनिमय के एक अधिक व्यापक क्षेत्र का अंग थी।[१४४] उनका मुख्य तर्क यह है कि 'दक्षिणा' ऋत्विज्ञ अर्थात् राजकीय पुरोहित तथा 'प्रसर्पक' श्रेणी के ब्राह्मणों जैसे अन्य लोगों को भी दी जाती थी। इन प्रसर्पक ब्राह्मणों की भूमिका मुख्यतः सदेयों में बैठे प्रेक्षकों जैसी होती थी। एक ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सदस्यों को दी गयी दक्षिणा उन्हे सोम रस के पान से विचलित करने के लिये होती थी।[१४५] एक अन्य ग्रन्थानुसार दक्षिणा द्वारा यजमान स्वयं को पुरोहित

के एहसानों से मुक्त कर लेता है।[१४६] कर्मकाण्डीय कहीं तोड़ दी जाती है अथवा स्तरीय कड़ी में रूपान्तरित कर दी जाती है, किन्तु सभी ग्रन्थ यह स्वीकार नहीं करते कि कड़ी टूट जाती है। दक्षिणा को यदि प्राप्तकर्ता को दाता का अहसानमंद बनाने वाला कृत्य नहीं तो कम से कम दाता एवं प्रतिग्रहीता के बीच एक महत्वपूर्ण बंधन के रूप में देखा जाता है। इसमें एक खतरा निहित है और केवल दान, स्थान एवं समय के औचित्य का ध्यानपूर्वक विचार करके ही खतरे से बचाव किया जा सकता है।[१४७] यह विवादास्पद प्रश्न है कि निहित खतरे का आशय कर्मकांडीय सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ अथवा वह 'दक्षिणा' को 'शुल्क' समझने में ध्यान को विकेन्द्रित करने का माध्यम था।

हेस्टरमैन ने सुझाव दिया है कि 'दक्षिणा' सम्भवतः उस आरम्भिक अवस्था को प्रतिबिम्बित करती है जब सम्पूर्ण जाति कर्म विधान में भाग लेती थी और सम्पत्ति का बराबर बँटवारा होता था। इसे धन वितरण व्यवस्था की ही विलक्षणता मानना चाहिये। कालान्तर में यह कर्म विधान यज्ञीय पुरोहितों के हाथ में आ गया होगा और अन्य लोग प्रेक्षक बन गये होंगे।[१४८] समाज में भूमि के बढ़ते हुये महत्व एवं लाभ के बावजूद मवेशियों को दान में देने की प्रथा जारी रही, इससे दक्षिणा का प्रतीकात्मक रूप स्पष्ट होता है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि निश्चय ही स्वर्णमय आसन एवं स्वर्णमय पासों को पुरोहितों को और अधिक लौलिक वस्तुओं में परिणत करना पड़ता होगा ताकि वे इन भेंटों से अपनी जीविकार्जन कर सके। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या दक्षिणा पुरोहित की जीवनवृत्ति के अतिरिक्त होती थी अथवा वह उसकी आय का मुख्य स्त्रोत थी। उत्तरवैदिककालीन समाज के स्वरूप को ध्यान में रखें तो पता चलता है कि भूमिसम्पन्न अथवा मवेशियों की बड़ी संख्या के मालिक ब्राह्मणों के उल्लेख अधिक नहीं है, अतः यह अत्यन्त सम्भव है कि कर्मकांड कराने वाले ब्राह्मणों के लिये राजा की ओर से दी गयी 'दक्षिणा' प्रायः उनकी जीविका का मूल स्त्रोत थी।

कालान्तर में दक्षिणा संग्रह का कार्य विशाल यज्ञों तक ही सीमित न रह गया था क्योंकि धीरे-धीरे आर्य जीवन अब संस्कारों से घिर चुका था। ये वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित रीतियाँ थीं जिनके निर्देश एवं कार्यान्वयन से सुख समृद्धि निश्चित की जाती थी। धीरे-धीरे दाता की परिभाषा और अधिक विस्तृत हो गयी, जिसमें राजा अथवा जनजातीय मुखिया के अतिरिक्त अन्य लोगों द्वारा भी संस्कारों का समापन अपेक्षित था। सामाजिक श्रेणियों के रूप में इस प्रकार के परिभाषीय विस्तृतीकरण में मनु के काल तक पहुँचते-पहुँचते एक गुणात्मक परिवर्तन आ गया जिसकी तार्किक पराकाष्ठा इस वक्तव्य में मिलती है कि दान के बारे में विचार करना गृहस्थ का कर्तव्य है।[१४९] इस काल तक आते-आते जनजातीय संदर्भ अथवा धन वितरण सम्बन्धी गतिविधियों में दान-दक्षिणा की सार्थकता कम होती हुयी प्रतीत होती है।

कालान्तर में हम देखते हैं कि महाकाव्यों के युग तक दान के स्वरूप में काफी परिवर्तन हो चुका था। रामायण में दान से सम्बन्धित उल्लेख तो छिटपुट रूप में प्राप्त होते हैं लेकिन

महाभारत में दान की विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है। मार्सेल माउस ने दान-दक्षिणा से सम्बन्धित सर्वोत्तम खंड के रूप में अनुशासन पर्व का विशेष रूप से उल्लेख किया है।[१५०] इसमें हमें दान की श्रेणियों का और अधिक विस्तृत विवरण मिलता है। उदाहरणार्थ, 'इष्ट' एवं 'पुर्त' के अन्तर पर महत्व दिया गया है। 'गृह्म' एवं श्रौत कर्मकांडीय अग्नि में अर्पित किया जाने वाला 'इष्ट' है जबकि 'पुर्त' एक अधिक बड़ा कार्य था जिसमें कूपों, सरोवरों, मंदिरों उद्यानों एवं भूमियों के दान सम्मिलित थे।[१५१] एक विशिष्ट श्रेणी के रूप में अचल सम्पत्ति का दान सापेक्षिक रूप से एक नवीन अवधारण है। अब तक तो दान पशु, स्वर्ण, दास, भोजन, वस्त्र, रथ आदि के होते थे। 'पुर्त' में सम्मिलित की जाने वाली वस्तुओं के सूच्यांकन का अपना ही महत्व है, क्योंकि यह स्पष्ट रूप से कृषि सम्बन्धी अर्थव्यवस्था की स्थापना की ओर इंगित करता है जिसमें कूप, सरोवर, उद्यान एवं भूमि की ऐसी उपयोगिता है जो मुख्यतः पशुचारण अर्थव्यवस्था में हो सकती। वैधानिक साहित्य में विकसित किये जाने वाले इस अन्तर का एक अन्य रोचक पक्ष यह है कि 'इष्ट' केवल धार्मिक दृष्टि से पवित्र हाथों द्वारा ही सम्भव था किन्तु 'पुर्त-दान' जो आर्थिक दृष्टि से अधिक प्रभावशाली था, शूद्रों द्वारा भी दिया जा सकता था।[१५२]

केवल दान की वस्तुओं की सूची में ही नहीं अपितु दान के आशय की भावना में भी इस समय तक अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। अब यह केवल किसी घटना की खुशी अथवा वीरतापूर्ण व्यक्तित्व अथवा किसी समारोह के सम्बन्ध में ही नहीं दिया जाता था बल्कि अब यह एक ऐसे नवीन विचार से सम्बंधित था जो कुछ अंश तक 'दक्षिणा' से लिया गया था, यथा दान देने जैसे कृत्य के समापन का नैतिक पक्ष। दान देने का आशय अब भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा किन्तु मूर्त धन के बदले में दाता को पुण्य प्राप्त होता है ऐसी आम धारणा बनने लगी थी। इसका यह अर्थ नहीं है कि महाभारत के अनुशासन पर्व में विवेचित सम्पूर्ण दान का उद्देश्य पुण्य प्राप्ति ही था। ऐसा कहा जाता है कि दान से भौतिक समृद्धि की वृद्धि होती है फिर भी दान के प्रत्येक कृत्य में चाहे वह आतिथेयि द्वारा अतिथ की 'पंचदक्षिणा' सेवा हो अथवा कर्मकांड में अर्पण, अन्तिम उद्देश्य पुण्य प्राप्ति ही था।[१५३] दान देने की प्रथा ने निजी धर्म रीतियों का विकास किया जिसमें 'स्मृति' साहित्य में अभिव्यक्त दान की छः प्रकार की परिभाषाओं को पर्याप्त महत्व दिया गया है। 'प्रतिग्रहीता' की परिभाषा को भी और अधिक परिष्कृत किया गया और यह कहा गया है कि दान पाने वाला 'दान' के लायक होना चाहिये।[१५४] इनकी प्रासांगिकता न केवल इस तथ्य से है कि पुण्य प्राप्ति तभी सम्भव है जबकि दान सुपात्र को दिया गया हो अपितु इसमें भावी प्रतिग्रहीताओं के बीच प्रतिस्पर्धा की ओर भी इशारा है। यह प्रतिस्पर्धा आर्थिक दृष्टि से सम्माननीय स्तर की प्राप्ति के लिये थी क्योंकि पूर्वकालीन व्यवस्था की तुलना में अब आर्थिक श्रेष्ठता पर ही अधिक ध्यान दिया जाता था। अतः ऐसे ब्राह्मण दान के पात्र नहीं हो सकते थे जो चिकित्सक, मूर्तिपूजक, नर्तक, संगीतकार थे, जो शूद्रों के लिये धार्मिक रीतियाँ सम्पन्न करवाते थे और जो सूदखोरी करते थे। दान के सुपात्र ब्राह्मण वे थे जो ग्रन्थों में निर्देशित आवश्यक धर्म रीतियों का पालन करते थे, जो कुलीन वंश में

जन्में थे तथा जो भिक्षा पर जीवन व्यतीत करते थे। यदि इस श्रेणी में से किसी को कृषि अथवा सैनिक जैसे व्यवसाय अपनाने भी पड़तें थे, तब भी वे दान के योग्य समझे जाते थे। दान देने के काल एवं समय पर दिये जाने वाले महत्व के साथ-साथ यह भी धमकी दी जाती थी कि असामयिक दान राक्षसों के पास पहुँचता है। दान प्राप्त करने वालों की योग्यता पर जो बल दिया जाता था वह भी दाता संरक्षकों के लिये होने वाली प्रतिस्पर्धा को प्रतिबिम्बित करता है। यह प्रतिस्पर्धा केवल ब्राह्मणीय मतों तक ही सीमित न थी अपितु बौद्ध, जैन एवं अन्य मत भी इसमें सम्मिलित थे, इन अवरोक्त मतों में से अनेक को समृद्ध संरक्षकों का संरक्षण प्राप्त था।

पुण्य के बदले में दान की भावना में दान सम्बन्धी बौद्ध आशय की प्रतिध्वनि मिलती है। अतः यह सम्भव है कि यह अवधारणा बौद्ध स्त्रोतों पर आधारित हो अथवा बदलते हुये सामाजिक स्वरूप के फलस्वरूप स्वतंत्र रूप से विकसित हुयी हो। बौद्ध धर्म के लिये दान पर बल देना अत्यावश्यक था क्योंकि लौकिक स्तर पर भी बौद्ध धार्मिक संगठन अर्थात् संघ से अपेक्षा की जाती थी कि वह सामान्य अनुयायियों द्वारा दी गयी भिक्षा एवं दान से अपना भरण पोषण करें। इस दान के बदले में भिक्षु अथवा संघ दाता को पुण्य ही दे सकता था क्योंकि यह दान आर्थिक दृष्टि से समाज के दो असमान वर्गो के बीच था। अपनी आरम्भिक अवस्था में, जबकि बौद्ध धर्म एक प्रभावशाली आन्दोलन नहीं बन पाया था वह न तो अपने समर्थकों को सामाजिक श्रेष्ठता ही प्रदान कर सकता था और न ही उसके सैद्धान्तिक विचार अमरत्व अथवा स्वर्गीय सुख का आश्वासन देते थे अधिकाधिक वह यही कह सका कि भौतिक दान के बदले में बौद्ध नैतिकी के प्रवचन मिलेंगे और यही नैतिकी दाताओं को एक अवलोकन शक्ति एवं प्रबोधन रूपी भेंट देगी। प्रलोभन देने में पौराणिक ग्रन्थ बिल्कुल स्पष्ट है उदाहरणार्थ, हम देखते है कि दान द्वारा प्राप्त पुण्य व्यक्ति को पुर्नजन्म के बंधनों से मुक्त कर देता है।[१५५]

दान एवं पुण्य का आदान-प्रदान सम्भवतः इस तथ्य से भी प्रभावित हुआ होगा कि बौद्ध समर्थकों वाले बड़े नगरों में भेंट विनिमयिक अर्थव्यवथा का पतन हो रहा था और उसके स्थान पर धीरे-धीरे वाणिज्य की अवैयक्तिक बाजारी अर्थव्यवस्था से मिलती जुलती व्यवस्था आ रही थी जिसमें विनिमय की इकाई मुद्रा प्रणाली थी। ऐसे वातावरण में भेंट-विनिमय निरर्थक हो गया और दान-पुण्य का आदान प्रदान ही दाता के लिये मुआवजे का रूप प्रस्तुत करता था। यह महत्व की बात है कि अनुशासन पर्व में सूचित कुपात्र ब्राह्मण वे लोग हैं जो सूदखोरी करते हैं और जिनका व्यवसाय व्यापार है ये दोनों गतिविधियाँ बाजार व्यवस्था से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। बाजार व्यवस्था के विपरीत 'दान' एक अवैयाक्तिक विनिमय नहीं है। इसमें स्पष्ट रूप से परिभाषित दो दल सम्मिलित हैं और उनके सम्बन्ध 'दान' से प्रभावित होते है। इसके साथ-साथ एक अत्यन्त विस्तृत शिष्टाचार भी चलता है जो ऋग्वेद में दान के लिये की गयी स्पष्ट याचना अथवा यज्ञों एवं संस्कारों की आंशिक रूप से छद्मवेशी 'दक्षिणा' से भी कहीं अधिक विस्तृत है।[१५६] ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में दान की प्रथा और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले सम्बन्ध पर बल देने से बाजार

की व्यवस्था की महत्ता को उल्टा करने एवं भेंट-विनिमय की महत्ता को पुनः लाने का प्रयत्न किया गया था।

इसी काल में अन्न को 'दान' के रूप में स्वीकार करने की ओर ध्यान दिया गया। मनु ने अनपके भोजन की विभिन्न श्रेणियों की सूची दी है जो ब्राह्मण के लिये न्यायोचित 'दान' माने जाते थे।[१५७] यदि कोई ब्राह्मण अनजाने से निषिद्ध भोजन स्वीकार कर ले तो उसे तीन दिन तक व्रत करके प्रायश्चित करना पड़ता था। अनपके भोजन के प्रकारों में से कृषि की उपज, अनाज ही सर्वाधिक स्वीकार है। मनु इस उक्ति को पुनः दोहराता है कि दाता को बदले में कई गुना मिल जायेगा किन्तु उसके साथ-साथ वह यह भी कहता है कि दाता एवं प्रतिग्रहीता दोनों स्वर्ग जाते है। विशेष रूप से ब्राह्मणों को दिये गये अन्नदान की प्रशस्ति उत्तरकालीन पुराण साहित्य में भी मिलती है जहाँ अन्नदान को कभी-कभी दान का सर्वोच्च रूप माना गया है।[१५८] अनपके भोजन की सापेक्षिक पवित्रता बौद्ध एवं जैन मतों के विचारों के विपरीत है क्योंकि उनके अनुसार पका हुआ भोजन सर्वाधिक स्वीकार्य माना गया है।[१५६] दान के माध्यम से स्तर प्रदान करने की दृष्टि से जातीय प्रतिष्ठा और अन्नदान का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है क्योंकि विशेष प्रकार के भोजन की स्वीकार्यता सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर रहती है। अतः दान के रूप में भोजन का विवेचन भी जातीय समाज की अभिवृद्धि का ही संकेत है।

पुरोहितों को भूमिदान देने की प्रथा का प्रारम्भ प्राग्मौर्य काल और मौर्य काल में ही देखा जा सकता है। कौटिल्य कहता है कि नयी बस्तियों में ब्रह्मदेय्य भू-स्वामित्व की शर्तों में कर और दण्ड से मुक्ति भी शामिल है।[१६०] इस काल में हम देखते हैं कि अन्य वस्तुओं की तुलना में भूमिदान ने प्राथमिकता प्राप्त करनी आरम्भ कर दी थी, ऐसा संभवतः कृषि में बढ़ती हुयी दिलचस्पी एवं इस तथ्य को प्रतिबिम्बित करता है कि मवेशियों की तुलना में भूमि कहीं अधिक लाभदायक थी। यह निश्चय ही मौर्य एवं उत्तर मौर्ययुगीन कृषि अर्थव्यवस्था के विस्तार के ज्ञान से अधिक मेल खाता है। पशुचारण का सामान्य पतन इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि अब भी गायों का दान होता अवश्य था किन्तु मुख्य वस्तु के रूप में नहीं अपितु वह धीरे-धीरे दान की प्रक्रिया का प्रतीक मात्र बनता जा रहा था। यद्यपि भूमि दान की भी कुछ निजी समस्यायें थीं जैसे कि वह अचल एवं अनश्वर थी, वह पशु वृंद अथवा अन्य वस्तुओं की भाँति स्थानान्तरित नहीं की जा सकती थी और न ही वह प्रतिग्रहीता के जीवन काल के दौरान समाप्त होने वाली थी। भूमि दायाद एवं हस्तान्तरणीय थी और इसीलिये उसे भूमि विक्रय एवं दायादीय सम्बन्धी व्यवस्था के पर्यलोकन क्षेत्र में सम्मिलित किया गया था। इस कारण से भूमि दान का अंकन होना आवश्यक था ताकि यदि प्राप्तकर्ता अपना निवास स्थान बदल ले अथवा मर जाय तब भी वह उसके अथवा उसके परिवार के ही पास रहे। भूमिदान अपने पूर्ववर्ती युगों के दान दक्षिणा से और अधिक हटकर था क्यों कि वह कई पीढ़ियों तक प्राप्तकर्ता के परिवार की स्थापना में सहायक हो सकता था और इस दृष्टि से वह एक क्षणिक घटना न होकर भविष्य के लिए एक प्रकार का पूँजी निवेश था।

प्राग्मौर्यकाल के पालि साहित्य में कोसल और मगध के राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को दान दिये गये गाँवों का उल्लेख मिलता है। लेकिन इन राजाओं ने इन गावों के प्रशासन के अधिकार भी ग्रहीता ब्राह्मणों को दे दिये हों ऐसा कोई उल्लेख इन ग्रन्थों में नहीं मिलता। भूमिदान का सबसे प्राचीन अभिलेखीय प्रमाण ई०पू० की पहली शताब्दी के एक सातवाहन अभिलेख में मिलता है जिसमें अश्वमेध यज्ञ में एक गाँव दान करने की चर्चा है।[१६१] प्रारम्भ में जो गाँव या भूमि दान में दी जाती थी उस पर प्रशासनिक अधिकार राजा का होता था किन्तु कालान्तर में गाँव तथा भूमि दान के साथ-साथ उस क्षेत्र पर प्रशासनिक अधिकार भी ग्रहीता को सौंप दिये गये। इस प्रकार का अभिलेखीय प्रमाण दूसरी शताब्दी में बौद्ध भिक्षुओं को दान किये गये गाँवों के सिलसिले में मिलता है। यह दान सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि ने दिया था। उन भिक्षुओं को दान की गयी जमीन में राजा की सेना का प्रवेश वर्जित था, राज्याधिकारी वहाँ के जीवन क्रम में कोई विघ्न बाधा नहीं डाल सकते थे और न जिला पुलिस के लोग ही उस क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप कर सकते थे।[१६२] पाँचवीं शताब्दी में ऐसे अनुदानों की प्रवृत्ति खूब बढ़ी। इनकी दो महत्वपूर्ण विशेषतायें थीं- एक तो राजस्व के समस्त साधनों का ग्रहीता के नाम हस्तान्तरण और दूसरी दान लेने वाले पर आन्तरिक सुरक्षा और प्रशासनिक दायित्वों का बोझ डाल देना। दूसरी शताब्दी के अनुदानों में राजस्व के सिर्फ एक साधन अर्थात नमक पर राजा के अधिकार के हस्तान्तरण का उल्लेख मिलता है इससे यह अर्थ निकलता है कि संभवतः राजस्व के कुछ दूसरे साधनों पर राजा अपना अधिकार कायम रखता था। कालिदासकृत रघुवंश के अनुसार पृथ्वी की रक्षा करने के लिये राजा के वेतन का एक साधन खान भी है।[१६३] चौथी और पाँचवीं शताब्दियों के कुछ दानपत्रों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों को दान किये गये गावों की भूगर्भ संपदा के उपभोग का अधिकार भी उन्हें दे दिया जाता था।[१६४] इससे सिद्ध होता है कि खानों का राजकीय स्वामित्व भी ग्रहीता को दे दिया जाता था। और यह ध्यान देने की बात है कि खानों का स्वामित्व राजा की प्रभुसत्ता का एक महत्वपूर्ण प्रतीक था।

यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि इस काल तक दाता राजस्व उगाहने के साथ-साथ दान किये गये गाँवों के निवासियों पर शासन करने का अधिकार भी ग्रहीता को दे देता था। गुप्त काल में मध्य भारत के बड़े-बड़े सामन्त राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को दान स्वरुप बसे-बसाये गाँव देने के ऐसे लगभग आधे दर्जन उदाहरण मिलते हैं। इन अनुदानों में सामन्त राजाओं ने सम्बन्धित गाँवों के निवासियों को जिनमें किसान और कारीगर दोनों को सम्मिलित थे, स्पष्ट निर्देश दिया है कि वे ग्रहीताओं को केवल प्रचलित कर ही नहीं दें बल्कि उनके आदेशों का भी पालन करें। गुप्तोत्तरकाल के दो अन्य भूमि अनुदानों में सर्वाध्यक्ष के पद पर काम करने वाले सरकारी अमलों तथा वेतनभोगी नियमित सैनिकों और छत्रधरों को इस आशय के राज्यादेश दिये गये हैं कि वे ब्राह्मणों के जीवनक्रम में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें।[१६५] ये तमाम उदाहरण राज्य द्वारा अपने प्रशासनिक अधिकारों के त्याग के स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

पाँचवीं शताब्दी के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजा चोरों को दण्डित करने का

अधिकार आमतौर पर नहीं छोड़ता था। यह अधिकार राज्य सत्ता का एक मुख्य आधार था। लेकिन आगे चलकर राजा केवल चोरों को दण्डित करने का अधिकार ही नहीं बल्कि परिवार सम्पत्ति और व्यक्ति के प्रति अपराध करने वालों को दण्ड देने का अधिकार भी ब्राह्मणों को देने लगा और इस प्रकार विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया अपनी स्वाभाविक परिणति पर पहुँच गयी। मध्य भारत और पश्चिमी भारत के कुछ उदार शासकों ने दान किये गये गाँवों में मुकदमों की सुनवायी का अधिकार भी ग्रहीताओं को सौंप दिया, उनके दान पत्रों में 'अभ्यंतरसिद्धि'[१६६] शब्द का प्रयोग हुआ है। अलग-अलग विद्वानों ने इसके अलग-अलग अर्थ लगाये हैं।[१६७] किन्तु यदि हम इसका अर्थ गाँवों के आन्तरिक विवादों का निपटारा लगायें तो संभवतः असंगत न होगा।[१६८] ग्रहीता को यह अधिकार मिलने के बाद सम्बन्धित गाँव स्वभावतः सर्वथा आत्मनिर्भर राजनीतिक इकाई बन जाता था।

प्राचीन साहित्य और अभिलेखों में राज्य की शक्ति के जिन सात अंगो का उल्लेख मिलता है।[१६९] उनमें सबसे महत्वपूर्ण स्थान कर वसूल करने और दण्ड देने के अधिकार को दिया गया है और यह ठीक भी है क्यों कि इन दोनों अधिकारों का त्याग करते ही स्वभावतः राज्य की शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती थी, लेकिन ब्राह्मणों को दिये गये दानों से जो स्थिति उत्पन्न हुयी वह बिल्कुल ऐसी ही थी। दान-क्षेत्र आमतौर पर सूर्य-चन्द्र के अस्तित्वपर्यन्त के लिये दिये जाते थे, इसका अर्थ यह था कि राज्य की अखंण्डता हमेशा के लिये टूट जाती थी। पुरोहितों को भूमिदान देने की प्रथा का प्रारम्भ वैसे तो प्राग्मौर्य और मौर्य काल में ही देखा जा सकता है। कौटिल्य के अनुसार नयी बस्तियों में ब्रह्मदेय्य भू-स्वामित्व के अनुसार भूमिदान करना चाहिये और ब्रह्मदेय्य भू-स्वामित्व की शर्तों में कर और दण्ड से मुक्ति भी शामिल थी लेकिन आगे चलकर गुप्त काल में यह स्थिति बदल जाती है। प्रारम्भिक पालि साहित्य में उल्लिखित ब्रह्मदेय्य शब्द की टीका करते हुये पाँचवीं शताब्दी में बुद्धघोष कहते हैं कि ब्रह्मदेय्य अनुदान में न्यायिक और प्रशासनिक अधिकार भी शामिल हैं।[१७०] समकालीन अभिलेखीय साक्ष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है किन्तु ब्रह्मदेय्य शब्द की इस व्याख्या से प्राग्मौर्य कालीन स्थिति का बोध नहीं होता, इससे दरअसल टीकाकार के समय की ही स्थिति प्रकट होती है। इस प्रकार गुप्त काल में भूमिदान के व्यापक प्रचलन ने ऐसे ब्राह्मण सामन्तों के आविर्भाव का मार्ग प्रशस्त कर दिया जो राजकीय अधिकारियों की सत्ता से लगभग स्वतन्त्र रहकर अनुदत्त क्षेत्रों का प्रशासन चलाते थे। जैसे-जैसे भूमिधर ब्राह्मणों की संख्या बढ़ती गयी उनमें से कुछ लोग धीरे-धीरे पुरोहितायी का काम छोड़कर अपना ध्यान मुख्यतः अपनी भू-संपत्ति की व्यवस्था पर केन्द्रित करने लगे। ऐसे ब्राह्मणों के लिये सांसारिक काम-काज धार्मिक कर्तव्यों से अधिक महत्वपूर्ण हो गये। लेकिन ब्राह्मणों को भूमिदान देने का सबसे बड़ा नतीजा यह निकला कि शासनतंत्र पर से केन्द्र का वह सक्षम और व्यापक नियन्त्रण, जिसके लिये मौर्यों का राज्य प्रसिद्ध था, मौर्योत्तरकाल और गुप्तकाल में लुप्त होने लगा और उसका स्थान सत्ता का विकेन्द्रीकरण लेने लगा।

दान पत्रों को देखने से यह ज्ञात होता है कि भूमि अनुदानों के बदले पुरोहितों को

दाताओं या उनके पूर्वजों के आध्यात्मिक कल्याण के लिये पूजा प्रार्थना करनी पड़ती थी। प्रायः दानपत्रों में दानग्रहीताओं के सांसारिक कर्तव्यों के निर्देश भी कर दिये गये हैं उदाहरण के लिये वाकाटक राजा प्रवरसेन द्वितीय का चम्मक ताम्रपत्र। इस दानपत्र में एक सहस्त्र ब्राह्मणों को एक गाँव दान किये जाने तथा उनके लिये कुछ कर्तव्य भी निर्धारित किये जाने का उल्लेख मिलता है।[१७१] उन्हें हिदायत दी गयी है कि वे राजा और राज्य के विरुद्ध द्रोह नहीं करेंगे, चोरी और व्यभिचार नहीं करेंगे, ब्रह्म-हत्या नहीं करेंगे और राजा को अपथ्य अर्थात विष नहीं देंगे, इसके अतिरिक्त वे दूसरे गाँवों से लड़ाई भी नहीं करेंगे और न ही उनका कोई अनिष्ट करेंगे।[१७२] ये सभी दायित्व निषेधात्मक हैं जिसका मतलब यह हुआ कि पुरोहित लोग इस शर्त पर भूमि का उपभोग करते थे कि वे प्रचलित सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध कोई काम नहीं करेंगे। दूसरे दानपत्रों में भोक्ता पुरोहितों ने इन निषेधों को सम्भवतः एक सर्वमान्य तथ्य के रुप में यों ही स्वीकार कर लिया जिससे इनके उल्लेख की जरुरत नहीं समझी गयी। लेकिन ऐसा मानना स्वाभाविक ही होगा कि ब्राह्मणों ने अपने उदार दाताओं से जितना पाया बदले में उन्हें उससे अधिक ही दिया। उन्होंने अपने अधीनस्थ क्षेत्रों में शान्ति-सुव्यवस्था कायम रखी, प्रजा को वर्ण धर्म के निर्वाह का पवित्र कर्तव्य समझाया तथा उसके मन में राजा के प्रति, जो गुप्तकाल से विभिन्न देवताओं के गुणों से विभूषित बताया जाने लगा था, यह भाव जगाया कि उसकी आज्ञा का पालन करना भी पुनीत कार्य है। अतएव दाताओं की मंशा चाहे जो रही हो ऐसा मानना गलत होगा कि इन अनुदानों से सिर्फ धार्मिक उद्देश्यों की ही सिद्धि होती थी।

भूमिदान को अंकित करने की आवश्यकता का विवेचन इस ओर संकेत करता है कि वह रिकार्ड भावी राजाओं के लिये दान प्राप्तकर्ता एवं उसके परिवार के वैधानिक अधिकार का कार्य करे।[१७३] अतः रिकार्ड का स्थायी, हस्ताक्षरयुक्त, राजा की वंशावली का उल्लेख करने वाली मुद्राकिंत घोषणा प्राप्तकर्ता की शिनाख्त के उल्लेख से युक्त दान में दी गयी भूमि की सीमायें एवं विलक्षणताओं से युक्त, दानपत्र से सम्बन्धित अधिकारियों के मुद्रांकन का होना और कुछ ग्रंथों के अनुसार इस घोषणा का होना भी आवश्यक था कि इसे उत्तरकाल में पुनः जारी नहीं किया जायेगा। गुप्तकाल एवं उसके बाद जारी किये जाने वाले ताम्रपत्रों एवं अन्य रिकार्डो में अंकित ऐसे भूमिदानों के उल्लेखों से स्पष्ट है कि इन सभी निर्देशों का अत्यधिक सावधानी से पालन किया गया था।[१७४] कालान्तर में धीरे-धीरे ब्राह्मणों को भूमि एवं ग्राम देना इतना अधिक संस्थात्मक हो गया कि उसे 'अग्रहार' रूपी विशेष शब्द से उल्लिखित किया जाता था। कालान्तर में 'अग्रहारिक' नामक अधिकारी की नियुक्ति की जाने लगी जो इन सभी दानों की देखभाल करता था।

भूमिदान की प्रथा के आरम्भ होने से अन्य वस्तुओं के दान का महत्व कम हो गया। एक अपवाद निश्चय ही स्वर्ण का था जो अब भी आर्थिक दृष्टि से मूल्यवान था। स्वर्ण पर आध ारित दानों की एक विशेष श्रेणी का जन्म हुआ जिसे 'महादान' कहा जाता था।[१७५] ये दान अत्यन्त विशिष्ट अवसरों पर दिये जाते थे और इसीलिये दान लेने की सामान्य प्रथा में उसका अंकन होना

कठिन ही था। कुछ उल्लिखित महादानों में तुला-पुरुष (पुरुष को सोने से तौलना) एवं हिरण्यगर्भ (स्वर्णिम गर्भाशय से प्रतीकात्मक पुनर्जन्म, जो प्रायः सिंहासनारोहण के समय संपन्न किया जाता था) प्रमुख हैं। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि उपरोक्त समारोह उन राजाओं से विशेष रूप से सम्बन्धित रहा है जो क्षत्रिय पद का दावा कर रहे थे। प्रायः महादानों में १६ वस्तुयें सूच्यांकित की गयी हैं जिनमें वृक्ष, गाय, घोड़ा, रथ, बर्तन आदि सम्मिलित हैं। ये सभी सोने की बनी होती थीं और समारोह के समापन पर ब्राह्मणों को दे दी जाती थी। दस हजार मवेशियों के जिस दान की प्रशंसा ऋग्वैदिक पुरोहितों ने की है उसकी तुलना में बहुमूल्य रत्नों से जड़ित गाय के दान का स्वरुप अत्यन्त भिन्न था। महादान स्पष्टतः एक भिन्न श्रेणी एवं भिन्न काल से सम्बन्धित है।

भूमिदानों में वे बीज निहित थे जिन्होंने परवर्ती काल में एक नवीन कृषक ढाँचे का विकास किया और सामाजिक एवं आर्थिक संरचनाओं की दृष्टि से इस ढाँचे के अपने ही निहितार्थ थे।[१७६] उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि एक विस्तृत पैमाने पर दिये जाने वाले भूमिदान ने दान-दक्षिणा के अंग के रूप में 'दान' के स्वरुप को ही परिवर्तित कर दिया। दान को एक संस्थात्मक रूप देने की एक नवीन प्रक्रिया आरम्भ हुयी जो पूर्वकालीन सामाजिक-आर्थिक प्रणाली से प्रस्थान तथा दाता एवं प्रतिग्रहीता के लिये परिवर्तित रूपक को विकसित करने की प्रक्रिया, दोनों को प्रतिबिम्बित करती है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. बेनीप्रसाद, हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता।

२. ऋग्वेद, १०, १०६, ४।

३. आश्वलायन गृह्यसूत्र, १, २०, ११।

४. बौधायन धर्मसूत्र, ३, १, १-३५।

५. महाभारत, शान्तिपर्व, ११, १५।

६. गौतम धर्मसूत्र, ३, २७; मनुस्मृति, ६, १-४; याज्ञवल्क्य स्मृति, ३, ४५।

७. मनुस्मृति, ६, ३३-३४।

८. ऋग्वेद, ८, ३५, १६-१८।

९. वही, १, ११३, १६।

१०. वही, ६, ११२, ३।

११. शतपथ ब्राह्मण, २, २, १०।

१२. वही, १३, ४, १, ३।

१३. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, संपा०, शामाशास्त्री, पृष्ठ ६; मनुस्मृति, १, ८८-६१।

१४. अपरार्क, पृष्ठ ११७७-७६।

१५. अत्रिस्मृति, ३७२-८२।

१६. इलियट और डाउसन, जिल्द २, पृष्ठ १६।

१७. सचाऊ, जिल्द २, पृष्ठ १३६।

१८. वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १६८।

१९. माघ, शिशुपाल वध ५, २४।

२०. भविष्यकथा, ३, २२।

२१. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृष्ठ ४३३-३४।

२२. ऋग्वेद, ८, ५६, ३१६-३६; १२६, ३१०, ८६-५।

२३. वही, ६, १०-२२।

२४. महाभारत, शान्तिपर्व, २३६-४५; भीष्मपर्व, ४१५।

२५. उरग जातक।

२६. बौधायन धर्मसूत्र, १, ११, २१, २; गौतम धर्मसूत्र, १२, २६; वसिष्ठ धर्मसूत्र, १६, १८।

२७. गौतम धर्मसूत्र, १, ८२२; वैखानस धर्मसूत्र।

२८. मनुस्मृति, २, २६।

२९. अल्बरुनी, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृष्ठ २२१।

३०. मनुस्मृति, २, ३०।

३१. वही, २, ३१।
३२. बौधायन गृह्यसूत्र, १, १, १०।
३३. पारस्कर गृह्यसूत्र, १, ८, १।
३४. वही।
३५. बौधायन गृह्यसूत्र, १, ४३।
३६. आश्वलायन गृह्यसूत्र, ४, १।
३७. पारस्कर गृह्यसूत्र, ३, १६।
३८. विष्णु पुराण, ३, १३, ७-१२; पारस्कर गृह्यसूत्र, ३, १६; ३, १०।
३६. ऋग्वेद, १०, ११७, १-८।
४०. स्कन्द पुराण, माहेश्वरखण्ड-कुमारिकाखण्ड, २, ६-७१; ३, २६-१७४; अग्नि पुराण, २०८-१३।
४१. मनुस्मृति, ४, २२६-३६।
४२. महाभारत, अनुशासनपर्व (दान-धर्म पर्व)।
४३. वही, ५६, १६।
४४. वही, ८६, ८-६।
४५. वही, ६५, ३।
४६. वही, ६३, ६।
४७. वही, ८६, ४३-४४।
४८. स्कन्द पुराण, माहेश्वरखण्ड-केदारखण्ड, १८, २।
४६. महाभारत, अनुशासनपर्व, ६०, ६।
५०. ए गाइड टु खजुराहो, पृष्ठ १०; ए स्टडी ऑफ इण्डो-आर्यन सिविलाइजेशन, पृष्ठ २१२।
५१. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, दिल्ली, १६६१, पृष्ठ १४७।
५२. रामायण, बालकाण्ड, २२, ३।
५३. महाभारत, अश्वमेधपर्व, ६२।
५४. द्वारा उद्धृत- ईश्वरी प्रसाद एवं शर्मा, शैलेन्द्र, प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म, दर्शन, पंचम संस्करण, इलाहाबाद, १६६०, पृष्ठ ६८१।
५५. महाभारत, शान्तिपर्व, ३६, ४७-४८।
५६. ऋग्वेद, १, ५५, ८।
५७. वही, ४, ५७, १।
५८. वही, ६, ११२, १; ३, ३३, ६; १०, ७२, २; ५, ६, ५; ६, ६१, ७; १, ११७, ५।
५६. अथर्ववेद, ३, २२, ६।
६०. शतपथ ब्राह्मण, १३, ४, ३-११।

६१. जातक, १, ३६८; ३६६; ३२०; २३१।

६२. एपिग्रैफिया इण्डिका, पृष्ठ ४२-४३।

६३. ईश्वरी प्रसाद एवं शर्मा, शैलेन्द्र, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ६३१।

६४. एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ६, पृष्ठ ३२१।

६५. वही, जिल्द १७, पृष्ठ ३१०।

६६. वही, जिल्द २०, पृष्ठ ४३।

६७. वही, जिल्द १७, पृष्ठ ३२२।

६८. ब्रिग्स, तारीख-ए-फिरिश्ता, भाग १, पृष्ठ १७५।

६६. शुक्रनीति, १, ३१६।

७०. राजनीति रत्नाकर, पृष्ठ ३।

७१. शर्मा, रामशरण, दि लेटर वैदिक फेस, १६७५, पृष्ठ १।

७२. महाभारत, उद्योगपर्व, ११६, १३-१४।

७३. जातकमाला भाग २, पृष्ठ ६, अनुवादक, स्पीयर, पृष्ठ १०।

७४. अर्थशास्त्र, १३, ५, ४; १३, ५, ११।

७५. मनुस्मृति, ७, २००।

७६. वही, ७, १२७-२८।

७७. वही, ७, १२६-३०।

७८. वही, ७, १३१-३२।

७६. वेबर, मैक्स, दि रिलिजन्स् ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १६।

८०. महाभारत, अश्वमेधपर्व, ८५, १८।

८१. संयुक्त निकाय, भाग २, ३, ३।

८२. ईश्वरी प्रसाद एवं शर्मा, शैलेन्द्र, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ६४४-४५।

८३. वही, पृष्ठ ६३७-३८।

८४. महाभारत, अनुशासनपर्व, १३७, १-३२।

८५. थापर, रोमिला, फर्स्ट मिलेनियम बी०सी०, पृष्ठ ११६-२०।

८६. धम्मपद, १३, कहानी न० १०।

८७. नियोगी, पुष्पा, आर्गेनाइजेशन ऑफ बुद्धिष्ट मोनास्ट्रीज इन ऐंसिएन्ट बंगाल एण्ड बिहार, पृष्ठ, ५३४।

८८. महाभारत, अनुशासनपर्व, ६२, १-६६।

८६. वही, ८३, १-५२।

६०. वही, ६३, १-५२।

६१. वही, ५८, १-३३।

९२. वही, ६५, १-२।

९३. वही, ६५, ८-११।

९४. वही, ६५, १५।

९५. वही, ६५, १७-१८।

९६. वही, ६५, १६।

९७. वही, ६६, १-३।

९८. वही, ६६, ६-१५।

९९. वही, ६६, २७-२८।

१००. वही, ६६, २६-३१।

१०१. वही, ६६, ३२।

१०२. मिलिन्दपन्हो, भाग ४।

१०३. कन्हेरी बुद्धिस्ट केव इन्सक्रृप्सन्स, न० ६८७।

१०४. मनुस्मृति, ८, २४३।

१०५. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १, ६, १८; २०।

१०६. लीडर्स, एच०, ए लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इन्सक्रृप्सन्स, पृष्ठ ३-२४।

१०७. गवर्नमेन्ट एपिग्रेफिस्ट रिपोर्ट, १६१५, पृष्ठ १०४; बुच, एम०ए०, ३६२।

१०८. हितोपदेश, मित्रलाभ, कहानी २, १५।

१०६. काणे, पाण्डुरंग वामन, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पूना, १६४१, पृष्ठ ८४३।

११०. शतपथ ब्राह्मण, २, २, २, १-२; ६, ३, ४, १-२।

१११. मनुस्मृति, ३, १२८-३७।

११२. हेस्टरमैन, जे०सी०, दि ऐंसिएन्ट इण्डियन रॉयल कांसीक्रेशन, हेग, १६५७, पृष्ठ १६४।

११३. मनुस्मृति, ८, २८-४०।

११४. माउस, मार्शल, दि गिफ्ट, लन्दन, १६५४, पृष्ठ ४५ और उसके बाद, पृष्ठ ५३ और उसके बाद, पृष्ठ ७१ और उसके बाद।

११५. ओबेरांय, जे०पी०एस०, पालिटिक्स ऑफ दि कुल रिंग, मैनचेस्टर, १६६२।

११६. ऋग्वेद, ६, ६३, ६; ५, २७; ५, ३०, १२-१४; ६, ४७; ८, १, ३३; ८, ५-३७; ८, ६, ४७; १०, २६, ३।

११७. वही, ८, ५; ६, २७।

११८. वही, ८, ४६; १०, ६३।

११६. वही, ६, ४७।

१२०. वही, ६, ४७; ८, १।

१२१. वही, ६, ४७; १, १२६।

१२२. वही, ६, ३३, १०; ६, ६३, ६; ८, ४६, २१-२४।

१२३. वही, ५, ३०, १५; ६, ४७।

१२४. वही, १०, १०७।

१२५. शर्मा, रामशरण, फार्म्स ऑफ प्रापर्टी इन दि अर्ली पोर्शन्स ऑफ दि ऋग्वेद, प्रोसीडिंग्स ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री कॉंग्रेस, १६७३, नई दिल्ली, १६७४।

१२६. वही।

१२७. ऋग्वेद, १, ३३, ३; ६, २८, ७; ५, ३४, ५; ६, १३, ३; ८, ६४,२।

१२८. शर्मा रामशरण, पूर्वोद्धृत।

१२६. ऐतरेय ब्राह्मण, ८, २१; शतपथ ब्राह्मण, १३, ७, १, १३-१५।

१३०. यह तर्क देते हुये कि संभवतः विदथ एक जनजातीय सभा थी, के०पी० जायसवाल ने अपनी कृति 'हिन्दू पालिटी' में ऐसा ही सुझाव दिया है। इसका और अधिक विवेचनआर०एस० शर्मा ने 'पालिटिकल आइडियाज् एण्ड इंस्टीट्यूशन्स इन ऐंसिएन्ट इन्डिया', दिल्ली १६५६, पृष्ठ ३६-८०, तथा जे०पी० शर्मा ने 'रिपब्लिक्स इन ऐंसिएन्ट इन्डिया' लाइडेन, १६६८, में पृष्ठ ७० और उसके बाद के पृष्ठों में किया है। इनके अतिरिक्त और भी दृष्टव्य है- ऋग्वेद, १, २४, ३; १, २७, ६; १, १०२, ४; १, २४१, १; ३, २, १२; ७, ५२, २१; ७, ७६, ४५।

१३१. बेली, एच०डब्लू०, ईरानियन आर्य एण्ड दह ट्रासेक्शन्स् ऑफ दि फिलोलाजिकल सोसायटी, १६५६, पृष्ठ ७१ और उसके बाद।

१३२. निघंटु, २, ६।

१३३. "आर्यः स्वामि वैश्ययोः।"

-पाणिनि, अष्टाध्यायी, ३, १, १०३।

१३४. तैत्तिरीय संहिता, १, ८, ४, १।

१३५. शतपथ ब्राह्मण, २, २, १०, ६।

१३६. ऐतरेय ब्राह्मण, ८, २०; छान्दोग्य उपनिषद, ४, २, ४-५।

१३७. काणे, पाण्डुरंग वामन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ८३७ और उसके बाद।

१३८. तैत्तिरीय संहिता, १, ८, ६; १, ७, ३; हेस्टरमैन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ४६ एवं १७४।

१३६. आश्वलायन श्रौतसूत्र, ५, २३, ५; ६, ३०, ७।

१४०. हेस्टरमैन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ १६२।

१४१. बौधायन श्रौतसूत्र, १२, ७; ६५, १५ और उसके बाद।

१४२. ऐतरेय ब्राह्मण, ७, १८।

१४३. हेस्टरमैन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ १६६।

१४४. हेस्टरमैन, रिफ्लेक्शन्स आन दि सिग्निफिकेंस ऑफ दक्षिणा, ग्रेवेनहेग, १६५६, पृष्ठ २४१-५८।

१४५. कात्यायन श्रौतसूत्र, २८, ५।

१४६. आश्वलायन श्रौतसूत्र, १३, ६, ४।

१४७. शतपथ ब्राह्मण, ६, ५, २, १६; आश्वलायन श्रौतसूत्र, १३, ६, ४-६; कात्यायन श्रौतसूत्र, २८, १५८, ४; १५६, १६।

१४८. हेस्टरमैन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ १८२।

१४६. मनुस्मृति, ३, ७८।

१५०. माउस, मार्शल, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ५३ और उसके बाद।

१५१. काणे, पाण्डुरंग वामन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ८४४।

१५२. वही, पृष्ठ ८४५।

१५३. महाभारत, अनुशासनपर्व, २; ७; ८; ६।

१५४. वही, २३।

१५५. अग्नि पुराण, २०६, १-२।

१५६. महाभारत; अनुशासनपर्व, (दान, धर्म, पर्व)।

१५७. मनुस्मृति, ४, २०५, २५; २३५-५०।

१५८. अग्नि पुराण, २११, ४४-४६; पद्म पुराण, ५, १६, २८६-३०७; ब्रह्माण्ड पुराण, २१८, १०, ३२।

१५६. उदाहरणार्थ- आचारांगसूत्र, २, १-१० में; किन्तु मनु, ६, ३८, इस बात पर बल देते हैं कि सन्यासी को केवल पका भोजन ही स्वीकार करना चाहिये और इसका कारण यह हो सकता है कि वह सामाजिक नियमों के मानकों के बाहर था।

१६०. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, २, १।

१६१. सि०इं०, पृष्ठ १८८, पंक्ति ११।

१६२. वही, पृष्ठ १६२, व १६४-६५।

१६३. स०, १७, श्लोक ६६।

१६४. कार्पस इंस्क्रृप्सनम इंडिकेरम,जिल्द ३, नं० ४१, पंक्ति ८; सि०इं०, पृष्ठ ४२२, पंक्ति २६।

१६५. शर्मा, रामशरण, पालिटिको-लिगल आस्पेक्ट्स ऑफ दि कास्ट सिस्टम, जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसायटी, पटना, ३६, ३२५।

१६६. "अभ्यंतर सिद्धिकाः", कार्पस इंस्क्रृप्सनम् इंडिकेरम, जिल्द ४, नं० ३१, पंक्ति ४१।

१६७. कार्पस इंस्क्रृप्सनम् इंडिकेरम, जिल्द ४, पृष्ठ १५४।

१६८. वही।

१६६. राज्य के सात अंग निम्नलिखित हैं- स्वामी, अमात्य, भू-प्रदेश, दुर्ग, कोष, सेना तथा मित्र।

१७०. पा०टे०सो०, पॉली-इंगलिश डिक्शनरी, 'ब्रह्मदेय्य' शब्द।

१७१. कार्पस इंस्क्रृप्सनम् इंडिकेरम्, जिल्द ३, नं० ५५।

१७२. वही, पंक्तियाँ ३६-४३।

१७३. याज्ञवल्क्य स्मृति, १, ३१८-२०।

१७४. शिवस्कन्द वर्मन का अभिलेख, एपिग्रैफिया इंडिका १, ७; मैत्रक व्याघ्रसेन के लिये वही ११, २२१, १०७, १११।

१७५. अग्नि पुराण, २०६-१०; मत्स्य पुराण, २७४-८६; लिंग पुराण, २, २८।

१७६. कौसांबी, डी०डी०, इंट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, १६५६, पृष्ठ २७५, और उसके बाद; शर्मा, रामशरण, इण्डियन फ्यूडलिज्म, कलकत्ता, १६६५।

पंचम अध्याय

दान का धार्मिक महत्व

धर्म, भारतीय संस्कृति का मूलाधार है जो स्वरूप भारतीय संस्कृति का व्यावहारिक रूप में दिखलाई देता है उसका जन्म धर्म से ही हुआ है। धर्म उस लक्ष्मण रेखा के रूप में प्राप्त होता है जिसका उल्लंघन कोई भी भारतीय नहीं कर सकता किन्तु अभी तक धर्म को परिभाषित नहीं किया जा सका। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है यथा-

''पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम।''[१]

''इममंजस्पामुभये अकृण्वत धर्माणमग्निं विदथस्य साधनम्।''[२]

''त्वे धर्माण आसते जुहूभिः सिंचतीखि।''[३]

यदि धर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो इसका अर्थ उन प्राचीन विधियों से लगाया जा सकता है जिनका अनुपालन व्यक्ति किया करता था, इसके अतिरिक्त मानव जीवन के लिये जिन नियमों व सिद्धान्तों का सृजन किया गया था, उनका अभिप्राय भी धर्म है। ऋग्वेद के अतिरिक्त अथर्ववेद में भी धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, यथा-

''अचित्या चेत्तव धर्मा युयोपिम।''[४]

लेकिन अथर्ववेद में धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया संस्कार करने से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है।

''ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमों धर्मश्चकर्मच। भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले।''[५]

ऐतरेय ब्राह्मण में धर्म का अर्थ धार्मिक कर्तव्य माना गया है।

''धर्मस्य गोप्ताजनीति तमभ्युत्कृष्ट मेवंविदभिषेक्ष्यन्नेतयार्चाभि मन्त्रयेत।''[६]

छान्दोग्य उपनिषद में धर्म को तीन शाखाओं में विभाजित किया गया है इसकी प्रथम शाखा यज्ञ, अध्ययन एवं दान अर्थात् गृहस्थ धर्म है इसकी द्वितीय शाखा तापस अर्थात् तापस धर्म है, इसकी तृतीय शाखा ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य के घर में निवास करना है। यथा-

''त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप ऐवेति द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी,
तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।''[७]

इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म में मानव के विशेष अधिकार, कर्तव्य, सामाजिक सम्बन्ध, आर्यो के व्यावहारिक नियम आदि शामिल हैं। य़ाज्ञवल्क्यस्मृति और मनुस्मृति में वर्णधर्म का उल्लेख मिलता है। तन्त्रवार्तिक नामक ग्रन्थ में भी इसका समर्थन किया गया है। स्मृतिकारों ने धर्म के पाँच स्वरूप स्वीकार किये है।[८]

१. वर्णधर्म २. आश्रमधर्म ३. वर्णाश्रम धर्म ४. नैमित्तिक धर्म ५. गुण धर्म।

पूर्वमीमांसा सूत्र में जैमिनि ने वेद समर्थित नियमों को धर्म माना है अर्थात् धर्म का सम्बन्ध उन क्रिया संस्कारों से है जिनसे आनन्द मिलता है और जो वेदों द्वारा प्रेरित एवं प्रशंसित है। यथा-

"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।"[९]

वैशेषिक सूत्रकार ने भी धर्म को कुछ इसी प्रकार से परिभाषित किया है- 'धर्म वही है जिससे आनन्द एवं निःश्रेयस की सिद्धि हो।' यथा-

"आथातो धर्म व्याख्यास्यामः। यतोऽभ्युदय निःश्रेयसिद्धिः स धर्मः।"[१०]

महाभारत में अहिंसा को परम धर्म स्वीकार किया गया है।

"अहिंसा परमों धर्म इत्युक्तं बहुशस्त्वया।"[११]

महाभारत के ही वन पर्व में धर्म को 'आनृशंस्यं परो धर्मः' कहा गया गया है।[१२] मनुस्मृति में 'आचारः परमो धर्मः' अर्थात् आचरण को परम धर्म माना गया है।[१३] बौद्धधर्म में धर्म को कई अर्थो में लिया गया है इसके अनुसार बौद्ध धर्म की शिक्षायें, जीव अस्तित्व का एक तत्व अर्थात् जड़ तत्व एवं मन तत्व को धर्म माना गया है।[१४]

धर्म के अंग- गौतमधर्मसूत्र के अनुसार वेद धर्म के मूल हैं।

"वेदो धर्म मूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले।"[१५]

आपस्तम्ब धर्म सूत्र का कथन है कि जो धर्मज्ञ हैं, जो वेदो को जानेते है उनका मत ही धर्म प्रमाण है।

"धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च।"[१६]

इसी बात का समर्थन वसिष्ठ धर्मसूत्र में भी किया गया है-

"श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्। शिष्टः पुनरकामात्मा।"[१७]

मनुस्मृति में धर्म के पाँच उपादान माने गये हैं।[१८] १. वेद २. वेदाज्ञा ३. परम्परा एवं व्यवहार ४. साधुओं का आचार ५. आत्मसंतुष्टि।

याज्ञवल्क्य स्मृति में वेद, स्मृति ज्ञान, सदाचार, संकल्प से उत्पन्न आकांक्षा और परम्परा को धर्म के उपादन माना गया है।[१९] धर्म को उन परम्पराओं से जोड़ा गया है जिनका अनुपालन समाज लम्बी अवधि से कर रहा है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, सदाचार आदि को भी धर्म से जोड़ा गया है। वेदाध्ययन तथा पाँच यज्ञों को भी धर्म से जोड़ा गया है। ऋग्वेद में दान को धर्म से जोड़ा गया है तथा गाय, घोड़ा, सोना और परिधानों का दान उत्तम कोटि का माना गया है। यथा-

"उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्रतिरन्त आयुः।।"[२०]

ऋग्वेद में उस व्यक्ति की निनदा की गयी है जो केवल अपना स्वार्थ देखता है। यथा "केवलाघो भवति केवलादी।"[२१]

स्मृति ग्रन्थों के अनुसार धर्म को विविध भागों में विभाजित किया गया है। धर्म के ये स्वरूप जिसमें आश्रम धर्म, गृहस्थ धर्म, स्त्री धर्म, वानप्रस्थ और सन्यास आदि आते हैं सामान्य धर्म के अन्तर्गत गिने जाते हैं। धर्म शास्त्रकारों के अनुसार धर्म का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय या मत से नहीं है अपितु यह जीवन का एक ढंग है जिसे आचरण संहिता का नाम दिया जा सकता है।

इसी दृष्टिकोण से धर्म को दो भागों में विभाजित किया गया है। १. श्रौतधर्म (वेदों पर आधारित) २. स्मार्तधर्म (स्मृतियों पर आधारित)।

अन्य धर्मशास्त्रकारों के अनुसार धर्म को ६ भागों में विभाजित किया गया है ये धर्म वर्णधर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुण धर्म, नैमित्तिक धर्म, साधारण धर्म के नाम से विख्यात हैं।

सामान्य धर्म के अन्तर्गत सत्य को सर्वोपरि माना गया है। तथा यज्ञ को सत्य की रक्षा करने वाला कहा गया है। आचरण को सत्य के बाद पाँच गुण विशेष से जोड़ा गया है ये गुण विशेष दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन तथा व्यावहारिक जीवन में सत्य आचरण हैं। इस धर्म के अन्तर्गत गलत आचरणों की निन्दा की गयी है और निर्देश दिया गया कि व्यक्ति सोने की चोरी, सुरापान, ब्रह्महत्या और गुरु शय्या को अपवित्र न करे। कठोपनिषद में आत्मज्ञान के लिये दुराचरण त्याग, मन शान्ति और मनोयोग को आवश्यक बतलाया गया है। यथा-

"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।"[२२]

सामान्य धर्म में अच्छे आचरण की ही सर्वत्र प्रशंसा की गयी है।

धर्म की द्वितीय कोटि वर्ण धर्म की है, वर्ण से जाति के उद्‌गम का बोध होता है। कतिपय ग्रन्थकार वर्ण को वर्ग या व्यवसाय से जोड़ते हैं तथा इसके कुछ विशेष गुण भी थे। वर्ण, वंश परम्परा के अनुसार निर्धारित होते थे और जन्म से ही व्यक्ति उस वर्ण का सदस्य बन जाता था। वर्ण की दूसरी विशेषता यह थी कि वह अपनी जाति के भीतर ही अपने गोत्र को छोड़कर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करे। इसकी तीसरी विशेषता यह थी कि वह भोजन और निमन्त्रण आदि में जातीय परम्परा और निर्देशों का अनुपालन करें। वह अपनी जाति में होने वाले व्यवसाय को ही अपनाये। ये जातियाँ उच्च और निम्न श्रेणी में विभाजित थी। प्रत्येक जाति में जातीय पंचायत होती थी। जो नियम आदि को उल्लंघन पर दंड की व्यवस्था करती थी। वेदों में कई स्थानों पर वर्ण का प्रयोग हुआ है।[२३]

भारतवर्ष में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार प्रमुख वर्ण माने गये हैं। इसमें ब्राह्मणों को श्रुति आचरण वाला, धार्मिक संस्कार कराने वाला तथा अध्यापन कराने वाला माना गया है। क्षत्रियों को राज्य करने वाला, प्रजा की रक्षा करने वाला माना गया है। वैश्यों को कृषि और व्यवसाय करने वाला और शूद्रों को सेवा करने वाला बतलाया गया है। वैदिक युग में वर्ण परिवर्तन कठोर नही थे लेकिन बाद के युगों में ये बंधन कठोर हो गये।

भारतीय संस्कृति में सम्पूर्ण जीवन को आयु के अनुसार चार भागों में विभक्त किया गया है- ये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के नाम से विख्यात हैं। जन्म से लेकर २५ वर्ष तक व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम धर्म का पालन करता था, २५ वर्ष से लेकर ५० वर्ष तक वह गृहस्थ आश्रम में रहता था, ५० वर्ष से लेकर ७५ वर्ष तक वह वानप्रस्थ आश्रम धर्म का पालन करता था ७५ वर्ष से लेकर मृत्युकाल तक वह सन्यास आश्रम धर्म का पालन करता था।[२४]

विभिन्न आश्रमों के अन्तर्गत व्यक्ति संस्कार धर्म का भी अनुपालन करता था इनमें

विवाह संस्कार के अतिरिक्त गृहस्थ आश्रम के क्रिया कर्म को धर्म से जोड़ा गया है, इसमें व्यक्ति को यह निर्देश दिये गये हैं कि वह प्रातः काल उठे और उठकर भगवान का स्मरण करे।[२५] वायु पुराण में कहा गया है कि प्रातः काल उठकर निम्न श्लोक पढ़ना चाहिये-

"ब्रह्मा मुरारीस्त्रिपुरान्तकारी भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम।।"[२६]

गृहस्थ व्यक्ति को मलमूत्र का त्याग प्रातःकाल करना चाहिये। अथर्ववेद में खड़े होकर पेशाब करना निन्दाजनक माना गया है।

"मेक्षाम्यूर्ध्वतिष्ठन्मा मा हिंसियुरीश्वराः।"[२७]

मलमूत्र त्याग करने के पश्चात धर्मग्रन्थो में शारीरिक स्वच्छता को विशेष महत्व दिया गया है इसके अलावा शारीरिक पवित्रता को भी धर्म से जोड़ते हुये यह निर्देश दिया गया है कि व्यक्ति अपने दिमाग, नेत्र, नासिका, मुख, जिहवा, कर्ण आदि को स्वच्छ रखे। वह जिस पात्र का प्रयोग करता है उसे साफ रखे। वह शरीर की चर्बी, वीर्य, रक्त, मज्जा, मूत्र, विष्ठा नासामल, खूँट, खखार, आँसू, नेत्रमल और पसीने से शरीर को सुरक्षित रखे। वह शौच क्रिया के पश्चात् मुख में १२ बार कुल्ला करे और जल का आचमन करे। अंगूठे और छोटी उंगली को छोड़कर जल पान करे।[२८] अपने दाँतो को स्वच्छ रखे तथा नित्य प्रति दातून करे।[२६] इसके पश्चात् व्यक्ति को नित्यप्रति स्नान के निर्देश दिये गये हैं। स्नान को ६ भांगों में बाँट गया है- नित्य, नैमित्तिक, काम्य, क्रियांग, मलापकर्षण एवं क्रिया स्नान।[३०] समयानुकूल गौण स्नान भी यदा-कदा किये जा सकते हैं ये ६ प्रकार के होते हैं- मन्त्र स्नान, भौम स्नान, आग्नेय स्नान, वायव्य स्नान, दिव्य स्नान और मानस स्नान।[३१] अनेक अवसरों पर धर्म के यह निर्देश भी हैं कि देवताओं, ऋषियों और पितरों के लिये तर्पण स्नान भी करना चाहिये।[३२] स्नान के पश्चात् गृहस्थ को सुन्दर वस्त्र धारण करने का निर्देश दिया गया है। गृहस्थ को ऊपरी और नीचे के अंगों को ढकने के लिये दो वस्त्र धारण करना चाहिये लेकिन यदि दरिद्र हो तो वह एक ही वस्त्र धारण करे।[३३] प्रत्येक गृहस्थ को स्नान के उपरान्त मस्तक पर तिलक या चिन्ह अंकित करना चहिये।[३४]

होम- प्रत्येक गृहस्थ को यह सलाह दी गयी है कि वह सन्ध्या वन्दन के उपरान्त हवन करे। इस सन्दर्भ में कुछ विद्वानों का मत है कि सूर्योदय के पूर्व हवन किया जाय तथा कुछ का मत है कि सूर्योदय के बाद हवन करना चाहिये।[३५] सायंकाल का होम तारे निकल आने के बाद होना चाहिये इसमें व्यक्ति पवित्र अग्नि में आहुतियाँ दे। इस हवन से देवता गण प्रसन्न होते हैं तथा गृहस्थ को पुण्यलाभ होता है।

जप- जप को पूजा-पाठ का एक भाग माना गया है, इसमें प्रातः होम के उपरान्त सूर्य को सम्बोधित मन्त्रों का जाप किया जाता है, यह जप तीन प्रकार का होता है वाचिक (स्पष्ट उच्चारित), उपांशु (मौन या न सुनाई देने वाला), मानस (मन में कहना)। इनमें तृतीय श्रेणी का जप सर्वोत्तम

माना जाता है। जप कुशा के आसन पर बैठकर करना चाहिये इससे पाप कट जाता है, यह जप घर, नदी के तट, गौशाला, अग्नि प्रकोष्ठ, तीर्थ स्थल और देव प्रतिमा के सामने करना चाहिये। ब्रह्मचारी तथा पवित्र अग्नि प्रज्वलित करने वाले गृहस्थ को गायत्री मन्त्र १०८ बार कहना चाहिये किन्तु वानप्रस्थ तथा यति को यह जाप १००० बार या इससे अधिक बार करना चाहिये।

''विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणः। उपांशुः स्वाच्छतगुणः साहस्त्रो मानसः स्मृतः।।
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः। सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोऽशीम्।।''[३६]

अर्थात् विधियज्ञ (दर्शपौर्णमास यज्ञ) से जप यज्ञ (प्रणवादि जप) दशगुना अधिक फल देने वाला होता है और उपान्शु जप (ओंठ और जीभ चलते हों किन्तु सुनाई न पड़े) सौगुना और उपान्शु से मानस जप हजार गुना बड़ा होता है। जो चार पाकयज्ञ (पितृकर्म, हवन, बलि, वैश्वदेव) विधि यज्ञ के बराबर है वे सभी जपयज्ञ के १६ वें भाग के बराबर भी नहीं हैं।

मंगल वस्तुओं का दर्शन– भारतीय संस्कृति में होम और जप के उपरान्त मंगल वस्तुओं का दर्शन शुभ माना जाता था, इनमें गुरुजनों का दर्शन, दर्पण या घृत में मुख दर्शन, केश सवांरना, आँख में अंजन लगाना, दुर्बा का स्पर्श शुभ माना गया है।[३७] इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, गाय, अग्नि, सोना, घृत, सूर्य, जल और राजा का दर्शन शुभ माना गया है। यात्रा करते समय ब्राह्मण, वेश्या जलपूर्ण घड़ा, दर्पण, ध्वजा, छाता, महल, पंखा, चँवर, देखना शुभ माना जाता है इसके अतिरिक्त प्रस्थान करते समय शराबी, पागल, लंगड़े, बार-बार उल्टी दस्त करने वाला, मुण्डित सिरवाला, गन्दे वस्त्र धारण करने वाला, अघोरपन्थी, साधु, बौना तथा सन्यासी को देखना अशुभ है।

पंच महायज्ञ– वैदिक ग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों में पंच यज्ञों को महत्वपूर्ण यज्ञ माना गया है, ये यज्ञ भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ के नाम से जाने जाते हैं। यथा–

''पंचैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।''[३८]

इन यज्ञों को कराने के लिये योग्य आचार्यो और पुरोहितों का चयन करना चाहिये। पंच महायज्ञों को वे व्यक्ति कर सकते है जो स्वार्थो से बहुत ऊपर उठकर अपनी आत्मा को उच्च बनायें, अपने शरीर को पवित्र रखें, उसे उच्चतर पदार्थों के योग्य बनाये तथा यज्ञों के साथ-साथ अन्य उद्देश्यों की पूर्ति भी करें। धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ अग्निकुण्डों, चक्की, झाड़ू, सूप, जलघट तथा घरेलू सामग्रियों से अनेक प्राणियों की हत्या करता है, हत्या के इस पाप से बचने के लिये पंच महायज्ञ करने चाहिये। ब्रह्मयज्ञ के माध्यम से वह वेदों का अध्ययन और अध्यापन करें। पितृ यज्ञ के माध्यम से पितरों का तर्पण करे। देवयज्ञ के माध्यम से अग्नि में आहुतियाँ देकर देवताओं को संतुष्ट करे। भूतयज्ञ के माध्यम से वह जीवों को अन्न दान दे। मनुष्य यज्ञ के माध्यम से वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार अतिथियों का स्वागत सत्कार करे और उन्हें दान दे। मनुस्मृति में इन यज्ञों को अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्मय युत एवं प्राशित नाम दिया गया है। यथा–

''अहुतं चा हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च। ब्राह्मयं हुतं प्राशितं च पंचयज्ञान्प्रचक्षते।।
जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः। ब्राह्मयं हुतं द्विजाग्रयार्चा प्राशितं पितृतर्पणम्।।''

अर्थात् आहुत हुत, प्रहुत ब्राह्मयहुत और प्रशित ये पंचयज्ञ कहलाते हैं। जप करना 'अहुत' हवन को 'हुत' भूतबलि को 'प्रहुत' ब्राह्मणों का सत्कार करना 'ब्राह्मयहुत' और पितृतर्पण प्राशित कहा गया है।

ईश्वर एवं देवों का उदय– धर्म पर विश्वास रखने वाले धर्मशास्त्री इस बात पर विश्वास करते हैं कि ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी और जीव किसी शक्ति विशेष से उत्पन्न हुये है, वह शक्ति विशेष संसार की सृजक, पालक और संहारक है, उसी ने उन पंच महाभूतों को भी उत्पन्न किया है जिनसे समस्त जीव, चल और अचल सृष्टि सृजित है उसने संसार में प्राणियों के लिये समस्त भोग्य पदार्थ भी उत्पन्न किये हैं उस शक्ति को ईश्वर के नाम से सम्बोधित किया जाता है तथा विश्व के समस्त देवता इस ईश्वर के नाम से सम्बोधित किया जाता है तथा विश्व के समस्त देवता इस ईश्वर के अधीन हैं। देवताओं में इन्द्र, विष्णु, सविता, अग्नि, वायु, वरुण, ऊषा, पूषन, रुद्र आदि वैदिकयुगीन देवी–देवताओं के नाम लिये जा सकते हैं।

पौराणिक युग में इन देवताओं को ठोस रूप प्रदान किया गया तथा इनकी मूर्तियां बनाकर इन्हें पूजा जाने लगा। इतिहासकारों का मत है कि मूर्तिपूजा शूद्रों और द्रविणों के माध्यम से ब्राह्मण धर्म में आयी। कुछ इतिहासकारों का यह मानना है कि मूर्तिपूजा का जन्म बौद्धों के प्रभाव से हुआ। जबकि कुछ इतिहासकारों का मत है कि मूर्तिपूजा स्वाभाविक विकास का प्रतिफल है। इतिहासकारों का मत है कि मूर्ति पूजा का शुभारम्भ ५६३ ई.पू. से लेकर ४८३ ई.पू. के मध्य हुआ। कुछ लोगों का मत है कि यह ई.पू. चौथी या पाँचवी शताब्दी में प्रारम्भ हुयी। इस मत का समर्थन डा० फर्कुहर ने भी किया है।[३९] मूर्तिपूजा के अन्तर्गत तीन प्रकार की मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है जिनका सम्बन्ध देवताओं से है १. पुरुषविध २. अपुरुषविध ३. उभयविध

ये मूर्तियां वास्तुशिल्प के अनुसार तैयार की गयी तथा इनका निर्माण वाराहमिहिर द्वारा रचित बृहत्संहिता (मुख्य रूप से राम, विष्णु, बल्देव, एकानंशा, ब्रह्मा, स्कन्द, गिरजा, बुद्ध, जिन, सूर्य, मातृका, यम, वरुण, कुबेर की मूर्तियों के सन्दर्भ में) के अनुसार किया गया।[४०] मूर्तियों के सन्दर्भ में मत्स्य पुराण,[४१] अग्निपुराण[४२] तथा विष्णु धर्मोत्तर[४३] में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। ये मूर्तियां रत्न, स्वर्ण, रजत, ताम्र, पित्तल, लौह, काष्ठ, मिट्टी या पत्थर से निर्मित होती थीं। प्रस्तर, काष्ठ, लौह, चन्दन, बालुका तथा रत्नों की मूर्तियां श्रेष्ठ मानी जाती थीं। इन मूर्तियों की स्थापना देवालयों के गर्भ गृह में की जाती थी। इसके अतिरिक्त कुछ मूर्तियां घर में भी पूजा के लिये रखी जाती थीं। शालिगराम की पूजा अत्यन्त प्राचीन है। मूर्ति निर्माण के लिये ५ प्रकार के पत्थर प्रयोग में लाये जाते थे। १. शिवपूजा में नर्मदा का बाण–लिंग २. विष्णु पूजा में शालग्राम ३. दुर्गा पूजा में धातुमय प्रस्तर ४. सूर्यपूजा में स्फटिक प्रस्तर एवं ५. गणेश पूजा में लाल प्रस्तर।

मूर्तिपूजा का विधान– मूर्तिपूजा का विधान मत्स्यपुराण में विस्तार से प्राप्त होता है।[४४] घर में पूजने वाली मूर्तियों का आकार १२ अंगुल से अधिक नहीं होना चाहिये। मंदिर में स्थापित होने वाली मूर्तियों का आकार १६ अंगुल से अधिक नहीं होना चाहिये। मंदिर के द्वार की ऊँचाई के

हिसाब से मूर्ति की ऊँचाई उसका आठवां भाग होना चाहिये। इस प्रकार मूर्तियां मंदिर में स्थापित की जाती थीं। ज्यादातर मूर्तियां शिव-शक्ति, विष्णु तथा अन्य देवी-देवताओं एवं पशु पक्षियों की होती थीं। ब्रह्म पुराण में उल्लेख मिलता है कि बुद्ध, विष्णु के अवतार थे तथा उन्होने ही शाक्य धर्म का प्रचार किया। सम्भवतः इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दूधर्म ने बौद्ध धर्म को अपने में समाहित कर लिया। भारतवर्ष में शिव की पूजा प्राचीनतम् है। वर्तमान में पूजा में सर्वप्रथम गणेश की पूजा होती है, गणेश की पूजा के उपरान्त ग्रहों की प्रतिमाओं की पूजा होती है तथा सरस्वती एवं अन्य देवियों की भी पूजा होती है।

देवपूजन के सन्दर्भ में यह उल्लेख मिलता है कि पूजा करने वाले व्यक्ति को अच्छी तरह स्नान करके हाँथ-पाँव धोकर पूजा करनी चाहिये और यह प्रार्थना करनी चाहिये कि अश्विन् तुम्हें प्राण दें, इसके पश्चात् विष्णु आदि देवों का आवाहन करके घुटना टेककर नमस्कार करें, शिवपूजा में विष्णुपूजा की भाँति ही भगवान शिव के मन्त्र का जाप करें। इसके पश्चात् आवाहन, आसन, पाद्य, अर्ध्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत्, अनुलेपन, गंध, पुष्प, धूप-दीप, नैवेद्य से भगवान की पूजा करें, प्रसाद चढ़ावें, नमस्कार करें, परिक्रमा करें, तब पूजा की समाप्ति करें। इस प्रकार से पूजा १६ विधियों से की जाती है। देवपूजा के समय पूजा के लिये लाया हुआ जल ताजा होना चाहिये। पूजा के लिये पवित्र आसन का उपयोग करना चाहिये। यह आसन कम्बल, रेशम अथवा मृगचर्म का होना चाहिये। अर्ध्य में दही, धान, कुशा का ऊपरी भाग, दूध, दूर्बा, मधु, यव एवं सफेद सरसों का प्रयोग किया जाता था। अर्ध्य देने के लिये शंख में जल के साथ चन्दन, पुष्प और अक्षत होने चाहिये।[४५] आचमन के जल में लौंग, इलायची, खस मिला देना चाहिये। मूर्तिस्नान के लिये दूध, दही, घृत, मधु एवं शक्कर का प्रयोग करना चाहिये। शक्कर का प्रयोग अन्त में करना चाहिये। मिट्टी की मूर्ति का स्नान न करायें। यदि अन्य पदार्थ सुलभ न हो तो तुलसी जल से स्नान करायें। स्नान के जल को आचवन के लिये परिवार के सदस्यों को दें। अनुलेप में देवदार, कस्तूरी, कपूर, कुमकुम का प्रयोग करें। आभूषण रत्न जटित असली स्वर्ण के हों। पूजा के लिये जो पुष्प चढ़ाये जाते हैं उनका प्रयोग दूसरे दिन न करें। यदि पुष्प न हों तो तुलसी पत्र का प्रयोग करें। शिवपूजा में अर्क, करवीर, बेलपत्र का प्रयोग करें। यदि पुष्प न हों तो केवल चावल का प्रयोग करें। मूर्ति के सम्मुख कपूर जलायें। प्रसाद में वर्जित भोजन न हो। बकरी और भैंस के दूध का प्रयोग न किया जाय। प्रसाद के लिये सोने, चाँदी, मिट्टी या काँसे के पात्र प्रयोग में लाये जाँय। विष्णु, शिव, सूर्य, देवी, मातृका, भूत-प्रेत को दिया गया नैवेद्य, भस्म लगाने वालों, शाप्तों, स्त्रियों एवं दरिद्र को दिया जाना चाहिये। नैवेद्य के बाद ताम्बूल चढ़ाने का विधान है। मूर्ति की प्रदक्षिणा दाहिनी ओर से प्रारम्भ करना चाहिये। तथा साष्टांग करना चाहिये।[४६]

शिवपूजा- वेदों में शिव को रूद्र के नाम से पुकारा गया है शिव का उल्लेख तैत्तिरीय संहिता में भी मिलता है।[४७] इसी प्रकार आश्वलायन गृह्यसूत्र में शिव के १२ नामों का उल्लेख मिलता है।[४८] इस ग्रन्थ के अनुसार शिव संसार की समस्त वस्तुओं के स्वामी हैं। शिव के नाम से अनेक

सम्प्रदाय प्राप्त होते हैं इनमें कपाल, नाकुल (लाकुल), वाम, भैरव तथा पाशुपत हैं। कुल मिलाकर लगभग १४ करोड़ शिवलिंग पूरे विश्व में प्राप्त होते हैं।[४९] इनमें १२ ज्योतिर्लिंग हैं। ये ज्योतिर्लिंग मान्धाता में ओंकार, उज्जयिनी में महाकाल, नासिक के पास त्रयम्बक, एलोरा में धृष्णेश्वर, अहमदनगर के पूर्व में नागनाथ, भीमा नदी के उद्गमस्थल पर भीमशंकर, गढ़वाल में केदारनाथ, वाराणसी में विश्वेश्वर, सौराष्ट्र में सोमनाथ, परली के पास वैद्यनाथ, श्री शैल पर मल्लिकार्जुन तथा दक्षिण में रामेश्वर हैं। इनकी पूजा का विधान रुद्र गायत्री मे होता है।

दुर्गापूजा– भारतवर्ष में शक्ति की उपासना अति प्राचीन काल से होती रही है। तैत्तिरीयारण्यक में दुर्गा पूजा का उल्लेख मिलता है।[५०] इस ग्रन्थ में शिव, अम्बिका अथवा उमा के पति माने गये हैं, केनोपनिषद में उमा हेमवती का इन्द्र को ब्रह्मज्ञान देना वर्णित है।[५१] शक्ति को यहाँ उमा, पार्वती, देवी, अम्बिका, गौरी, चण्डी या चण्डिका, काली, कुमारी या ललिता आदि के नाम से पुकारा गया है। इसमें दुर्गा को विन्ध्यवासिनी एवं रक्तमदिरा पीने वाली कहा गया है।[५२] देवी का स्वरूप एक महती देवी के रूप में होता था।[५३] बाणभट्ट ने कादम्बरी में चण्डिका के मन्दिर में रक्तदान, त्रिशूल एवं महिषासुर के वध का वर्णन किया है। कृत्यरत्नाकर में भी इसका उल्लेख मिलता है।[५४] देवी के लिये आश्विन मास पवित्र माना गया है। नवरात्रि के अवसर पर भैंसे या बकरे की बलि दी जाती थी। दुर्गार्चन पद्धति में दुर्गापूजा का विस्तार से वर्णन है तथा भगवतपुराण में देवीपूजा के ३ रूप वर्णित हैं, ये वैदिकी, तान्त्रिकी एवं मिश्रा के नाम से प्रसिद्ध हैं।[५५] इसमें प्रथम और तृतीय विधि उच्च वर्ग के लिये तथा द्वितीय शूद्रों के लिये है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर पर आस्था धर्म का एक मुख्य अंग था। व्यक्ति अपने विश्वास के अनुसार विभिन्न देवी देवताओं की पूजा करता था तथा ब्रह्मचारी से लेकर सन्यासी तक आस्था और विश्वास के साथ जप, तप, ज्ञान और दान के माध्यम से धार्मिक कार्य सम्पन्न करते थे। मुख्य रूप से गृहस्थ व्यक्ति, जो चार भागों में विभक्त था जिसे वार्तावृत्ति, शालीन, यायावर और घोराचारिक नाम से पुकारा जाता था।[५६] ये अपनी वृत्ति के अनुसार सूर्योदय, मध्यान्ह, अपरान्ह और सायंकाल ईश्वर उपासना किया करते थे तथा नित्य-प्रति देवताओं को पकवान का प्रसाद चढ़ाते थे।

"एते देवयज्ञभूतयज्ञपितृयज्ञा वैश्वदेव उच्यते।"[५७]

"त एते देवयज्ञभूतयज्ञपितृयज्ञास्त्रयोपि वैश्वदेवशब्देनोच्यन्ते। यत्र विश्वे देवा इज्यन्ते तद्वैश्वदेविकं कर्म। देवयज्ञे च एतन्नाम मुख्यम्। पितृयज्ञे द्व्रिन्यायेन।[५८]

भोजन के सन्दर्भ में भी कुछ धार्मिक नियम प्राप्त होते हैं। यह निर्देश दिया गया है कि जहाँ यज्ञ आदि सम्पन्न हो रहे हों, वहाँ भोजन यज्ञ की समाप्ति के बाद करना चाहिये। मनुस्मृति में ब्राह्मणों के पतन के कारण बतलाते हुये कहा गया है कि वेदाध्ययन न करने, निज कर्तव्यों को पालन न करने, आलस्य करने और भोजन सम्बन्धी दोष के कारण ब्राह्मण पतित होते हैं। यथा–

"अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्। आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रांजिघांसति।।[५९]

धर्मशास्त्रों में यह प्रश्न विवादित है कि भोजन एकान्त में करे या परिवार के सदस्यों के साथ करें लेकिन इस बात पर सभी एकमत है कि शुद्ध स्थान पर शुद्ध होकर भोजन करे तथा अभोज्य पदार्थ न खाये। भोजन पीढ़े पर या ऊन के आसन पर बैठकर करना चाहिये। टूटे पात्र में भोजन कभी न करे। भोजन हमेशा सोने, चाँदी, ताम्र, काँसे, शंख और प्रस्तर के पात्र पर करना चाहिये। यथा–

"ताम्र रजत सुवर्णशुक्त्यश्म घटितानां भिन्नमभिन्नमिति पैठीनसिः।"[६०]

इसके अतिरिक्त कमलदल या पलाशदल में भी भोजन किया जा सकता है। भोजन में घी, तेल, पकवान, सभी प्रकार के व्यंजन आदि परोसने के लिये चम्मच आदि का प्रयोग करना चाहिये तथा भोजन कराते समय प्रसन्न रहना चाहिये तथा किसी के दोष नहीं खोजना चाहिये। शास्त्रानुसार जिन वस्तुओं का भोजन वर्जित है उन्हें न खाना चाहिये। त्याज्य भक्ष्य वस्तुओं में लहसुन, गाजर, प्याज, घी में भुना हुआ गेहूँ का आटा, खीर–मालपुवा जो देवताओं के निमित्त रखे हुये हों, हाल ही में ब्याँयी गाय का दूध, ऊँटनी, घोड़ी, भेड़ का दूध, सड़े हुये फलों का रस, गिद्ध, कबूतर आदि का माँस, टिटहिरी, चटका, गौरैया, पपीहा, हंस, चकवा, ग्राम कुक्कुट, मैना आदि पक्षियों को माँस न खाये, इसी प्रकार कठफोड़ा, जलमुर्गा, बगुला और सुअर तथा सब प्रकार की मछलियाँ न खाये, बन्दर का माँस न खाये, साही, गोह, गैंड़ा, कछुआ, खरहा, खुर और दाँत वाले पशुओं का माँस न खाये।[६१]

धर्मग्रन्थों में यह भी निर्देश दिया गया है कि ब्राह्मण लोग शूद्रों के यहाँ भोजन न करें, कंजूस के यहाँ भोजन न करें, बन्दी, चोर, नपुंसक, पहलवान, अभिनय करके जीविका चलाने वाला, बांस का धन्धा करने वाला, दुष्टों की संगति करने वाला, वैद्य, चीड़फाड़ करने वाला, शिकार खेलने वाला, दूसरे की पूँजी हड़पने वाला, नीच, कपटी, जूँठा खाने वाला, विधवा, निःसन्तान, रोग से पीड़ित, मदिरापान करने वाला, अस्त्र शस्त्र बेंचने वाला, केवट, दर्जी, धोबी, रंगरेज, ज्योतिषी, तथा घंटी बजाने वालों के यहाँ भोजन न करें।

भोजन के उपरान्त (मुख्य रूप से दोपहर के भोजन में) ताम्बूल तथा इलायची आदि का प्रयोग करें। प्राचीन काल में भी लोग धूम्रपान करते थें लेकिन यह धूम्रपान सुगंधित जड़ी बूटियों से (आजकल के तम्बाकू से नहीं) निर्मित पदार्थो से होता था।[६२]

मुहूर्त– किसी भी शुभ कार्य को प्रारम्भ करने के लिये धार्मिक अनुष्ठान आवश्यक थे तथा इसके करने के लिये शुभ–अशुभ घड़ी, नक्षत्र, समय आदि पर भी विचार किया जाता था जैसे उद्घाटन उस समय होना चाहिये जब औषधियां उत्पन्न होती हों अर्थात् श्रावण मास की पूर्ण मासी को या श्रावण पंचमी को। इस अवसर पर विद्यारम्भ शुभ माना जाता था तथा प्रति छः माह बाद उत्सर्जन की क्रिया होती थी इसके लिये पौष मास की पूर्णमासी और माघ माह का शुक्लपक्ष उत्तम माना जाता है।

धर्म–आचरण– धर्म का मूल सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति सत्य भाषण करे, सत्य का चिन्तन

करे और सत्य, अहिंसा, प्रेम, सदाचार, सद्व्यवहार, दया और करुणा की भावना से प्रेरित होकर निजहित और परहित के लिये ऐसा आचरण करे जो प्रसंशित हो, कुल परम्परा के अनुसार हो तथा जिनका अनुमोदन धार्मिक ग्रन्थ करते हों। यह धर्माचरण निम्न स्वरूपों में देखा जा सकता है

१. देवोपासना– यह धर्म आचरण का प्रथम स्वरूप है जो भी व्यक्ति धर्म पर विश्वास करता है उसे उस धर्म के देवता एवं परमपिता परमेश्वर के प्रति श्रद्धा रखते हुये ईश्वर एवं देवों की उपासना धर्म के नियमों के अनुसार करनी पड़ती है। कोई भी धार्मिक व्यक्ति जो भारतीय संस्कृति का अनुसरणकर्ता हो ऐसा नहीं होगा जो देवपूजन अथवा देव-उपासना न करता हो।

२. धार्मिक स्थलों का निर्माण एवं मूर्तिस्थापना– यदि व्यक्ति धर्म पर विश्वास करता है तथा साधन सम्पन्न है तो वह धर्म की रक्षा के लिये मंदिर बनवाता है, यदि व्यक्ति मंदिर नहीं बनवाना चाहता तो वह किसी अन्य मंदिर में मूर्ति स्थापित करा सकता है यदि वह चाहे तो नदी अथवा सरोवर, पीपल के वृक्ष के नीचे अपनी इच्छा के अनुसार देव-प्रतिमा स्थापित करा सकता है। ऐसा करने के लिये उसे शास्त्रोक्त विधि का अनुसरण करना पड़ता है। भारतवर्ष के अनेक स्थलों में जो धार्मिक स्थल अथवा प्रतिमायें प्राप्त होती हैं वे ऐसे ही दान दाताओं द्वारा निर्मित हैं। इस प्रकार के दान से सम्बन्धित अनेक अभिलेख मथुरा, साँची, सारनाथ, भरहुत, बोधगया, बेसनगर, जुनार, कन्हेरी, कार्ले, कुदा और विदिशा में प्राप्त हुये हैं।[६३]

३. धार्मिक कृत्यों का अनुसरण– धर्म पर आस्था रखने वाले व्यक्ति अपने धर्म के अनुसार धार्मिक कृत्य करते हैं। वे धर्म से सम्बन्धित तीज त्योहारों को बड़े श्रद्धा के साथ मनाते हैं तथा इनमें समस्त धार्मिक विधियों का अनुसरण करते हैं। तीज-त्योहार और पुण्य तिथियों में व्रत रखना विशिष्ट रूप से उस तीज-त्योहार से सम्बन्धित कथा का श्रवण करना तथा पूजा के उपरान्त प्रसाद आदि का वितरण करना धार्मिक कृत्य माने जाते हैं। इस अवसर पर व्यक्ति त्योहार विशेष को सम्पन्न करने के लिये परम्परागत निर्देशों का अनुसरण करता है। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को यह उपदेश दिया कि व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार ज्ञानयोग या भक्तियोग का सहारा लेकर ईश्वर को जानने का प्रयत्न करता है किन्तु कर्म न करने वाला व्यक्ति कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। व्यक्ति इन्द्रियों को वश में रखकर जो प्रयत्न करता है वही उत्कृष्ट प्रयत्न है इसलिये भगवान को पाने के लिये यज्ञ रूप में कर्म करना चाहिये। इसलिये उनकी प्रसन्नता के लिये नियत कर्म करो, इस तरह तुम बंधन से मुक्त रहोगे। विष्णु के लिये जो समस्त विश्व के स्वामी हैं यज्ञ करने से तुम सुखी रहोगे और समस्त वांछित वस्तुयें तुम्हें प्राप्त हो सकेगी।

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोगोऽयं कर्मबन्धनः। तदर्थ कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचार।।
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक।।"[६४]

इस प्रकार ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये और उसकी अनुकूलता प्राप्त करने के लिये जप, तप, योग और दान आदि कर्म करना ही धर्म-आचरण है।

४. धार्मिक ग्रन्थों का श्रवण एवं पठनपाठन– भारतीय संस्कृति की प्राचीन

परम्परा रही है कि यहाँ का व्यक्ति चार वेदों, १८ पुराणों, स्मृति ग्रन्थों तथा कर्मकाण्ड की पुस्तकों पर आस्था रखता था। यदि वह अशिक्षित होता था तो वह पुरोहितों और आचार्यो से धर्म ग्रन्थों और शास्त्रों का श्रवण करता था। यदि वह पढ़ा लिखा होता था तो वह स्वतः इनका अध्ययन करता था, यदि वह आचार्य होता था तो वह अपने शिष्यों को अध्यापन कार्य के माध्यम से इन्हें पढ़ने के लिये प्रेरित करता था। धार्मिक अवसरों, यज्ञों आदि में धर्म ग्रन्थों का पाठ किया जाता था जिसे सुनने के लिये हजारों व्यक्तियों की भीड़ एकत्र होती थी। ग्रन्थ उद्दापन के अवसर पर यज्ञ, हवन भोज आदि का भी आयोजन होता था।

५. पुरुषार्थ एवं जन कल्याण के कृत्य (दान आदि)- समस्त धर्म इस बात को मानते हैं कि मनुष्य का जीवन बहुत मुश्किल से प्राप्त होता है इसलिये उसके जीवन का लक्ष्य है कि वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के माध्यम से पुरुषार्थ करे। वह अपने शरीर में व्याप्त काम क्रोध ा, मद, लोभ, ईर्ष्या, आदि दुर्गुणों का परित्याग करे। समस्त प्राणियों को समभाव की दृष्टि से देखे तथा वसुधैव कुटुम्बकम की भावना से प्रेरित होकर समस्त मानव कल्याण के लिये निजी स्वार्थ का परित्याग करके कार्य करे। शरीर को नश्वर समझता हुआ और धन तथा वैभव को चलायमान समझता हुआ वह जन कल्याणार्थ यथा सम्भव दान करे तथा जीवन में अन्त तक वह पंच यज्ञो को सम्पन्न करता हुआ श्रेष्ठ कर्मो में आसक्ति रखे।

धर्म की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि- इतिहास मानव की अति प्राचीन गतिविधियों का दर्पण है, इसमें भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों समाहित हैं। धर्म शब्द का विश्लेषण करते हुये यह कहा गया है कि जिसमें धारण करने की शक्ति है वही धर्म है- धारणाद्धर्मः। यदि व्याकरण की दृष्टि से देखा जाय तो धर्म शब्द की उत्पत्ति 'धृ' धातु से हुयी है जिसका तात्पर्य है धारण करना, आलम्बन देना या पालन करना।[६५] इसे पुल्लिंग और नपुंसकलिंग दोनो ही माना गया है। धर्म केवल हमारे आध्यात्मिक पक्ष को ही उजागर नहीं करता है। बल्कि यह हमारे लौकिक आचारों-विचारों तथा राजनीति को भी नियन्त्रित करता है। यह संस्कृति का अलौकिक पक्ष है। इसमें धर्म और कर्म दोनों शामिल हैं। यह धर्म श्रुति, स्मृतियों, पुराणों तथा अन्य ग्रंथों पर आधारित सांस्कृतिक परम्परा है। इसके अन्तर्गत सत्य, अहिंसा, सम्यक् आचरण, विश्वासनीय मानवीय गुण आदि सम्मिलित हैं। यह जीवजगत आत्मा और परमात्मा से भी सम्बन्धित है यह मानव संस्कृति का जन्मदाता है।

सिन्धु घाटी की सभ्यता के उत्खनन से प्राप्त वस्तुओं से इस बात का पता लगता है कि इस सभ्यता के व्यक्ति भी धर्म पर आस्था रखते थे। ये लोग शिव-शक्ति की पूजा, नाग, पशु, वृक्ष और पाषाण की पूजा करते थे। इनके यहाँ लिंग और योनि की पूजा भी होती थी। इस समय देवताओं का मानवीयकरण हो गया था तथा ये लोग मातृदेवी की उपासना करते थे। ये लोग सूर्य और अग्नि की पूजा भी करते थे। मोहनजोदड़ों से प्राप्त एक मुद्रा पर बकरे के समीप तेज धार वाले हथियार का अंकन है। इससे पूजा में बलि देने के विधान का पुष्टि होती है। इस समय मूर्तिपूजा भी होती थी क्यों कि उत्खनन से विभिन्न देवी-देवताओं, वृक्ष,पशु-पक्षी और नाग की

मूर्तियाँ प्राप्त हुयी हैं। सिन्धु सभ्यता के लोग अन्धविश्वासों पर भी विश्वास करते थे। उत्खनन में किसी प्रकार के मंदिरों के अवशेष प्राप्त नहीं हुये इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि देवालय थे या नहीं।[६६]

वैदिक धर्म भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम धर्म है इसकी जानकारी हमें वैदिक साहित्य से प्राप्त होती है। वैदिक साहित्य में अन्तर्दृष्टि, तर्क, आत्मा, परमात्मा, मन तथा बुद्धि के सन्दर्भ में चर्चा है, यह धर्म, कर्म और ज्ञान पर विश्वास करता है। इस धर्म में अनेक देवताओं के अस्तित्व को स्वीकारा गया है। इन देवताओं में इन्द्र प्रमुख देवता है इसके पश्चात् सूर्य की प्रमुख देवता के रूप में गणना की गयी है इसे प्रकृति का सहयोगी, प्रेरक शक्ति का दाता जीवों का मित्र तथा आकाश में विचरण करने वाला कहा गया है इसके बाद रुद्र, अग्नि, आदि देवगण आते हैं। अन्य देवताओं में अश्विन, वायु, मरुत, पर्जन्य, यम आदि आते हैं। अदिति, निस्सीम सार्वभौम भावना की देवी थी। सूर्य की प्रिया ऊषा थी और बहन रात्रि थी। सूर्य की पुत्री सूर्या थी और उसका पति अश्विन था। पृथ्वी को भी देवी का स्तर प्राप्त था उसमें प्रवाहित होने वाली सरितायें पृथ्वी के जीवों को बढ़ाने वाली थीं। वेदों में बहुदेववाद होते हुये भी एक ईश्वरवाद था अर्थात सभी देवों का नियंत्रक एक परमात्मा था।

"एकं सद् विप्राबहुधावदंति। अग्निं, यमं मातरिश्वानमाहु :।"[६७]

उत्तरवैदिक काल में धर्म की स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ, इसमें ऋषियों ने पवित्रता और सदाचार पर बल दिया तथा पाप समाप्त करने के लिये अग्नि, वैश्वानर, अग्नि गार्हपत्य, सवितृ, पूषन, मरुत, विश्वकर्मन् का आवाहन किया जाने लगा। इस युग में असत्य भाषण करने वाले, नरबधिक, कपटी, लोभी, अभिमानी, क्रोधी, क्रूर, देवनिन्दा करने वाले, दोषी, कृपण और चोरी करने वाले व्यक्तियों से नफरत की जाने लगी। निर्धन, भूखे, असहाय व्यक्तियों के प्रति दया की भावना उत्पन्न हुयी। इस युग के लोग नैतिक जीवन व्यतीत करते थे तथा दुर्गुणों दूर रहते थे। व्यभिचारी, चरित्र भ्रष्ट, ऐन्द्रवालिक व्यक्ति से नफरत करते थे। आर्य लोग अपने देवताओं की पूजा आस्था और निष्ठा से करते थे। इस युग में मूर्ति पूजा नहीं होती थी।

महाकाव्यों की रचना के समय उत्तरवैदिक युग की भाँति यज्ञों की प्रथा प्रचलित थी। रामायण काल में भगवान राम ने अनेक यज्ञ किये। महाभारत काल में कौरवों और पाण्डवों ने भी यज्ञ किये। यज्ञों में पशु बलि का प्रभाव कम हुआ। आत्मसंयम व चरित्र शुद्धि पर बल दिया गया। पंच महायज्ञ जीवन के आवश्यक कृत्य थे। यज्ञों में अनेक प्रकार के आडम्बर भी देखने को मिलते थे, अनेक प्रकार के कर्म काण्ड भी होते थे। इस समय देवताओं के स्वरूप में अन्तर आया। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, पार्वती, दुर्गा आदि की उपासना होने लगी थी। इस युग में कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का विकास हुआ। कर्म के अनुसार नरक और स्वर्ग जाने की भावना का उदय हुआ। ईश्वर के प्रसाद और आशीर्वाद का महत्व बढ़ा। महाकाव्यों में आत्मा के आवागमन के सिद्धान्त को मान्यता मिली। कर्मवाद, अवतारवाद और भक्तिवाद का विकास हुआ।

सूत्रकालीन धार्मिक जीवन में धर्म के स्वरूप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। कर्मकाण्ड को मान्यता मिली। यज्ञ अभी भी धार्मिक जीवन के प्रमुख अंग थे इस युग में अनेक नये देवी-देवताओं का उदय हुआ, इनमें रूद्र-शिव, पार्वती-रूद्राणी, शर्वाणि और भवानी की कल्पना की गयी। वासुदेव नामक देवता का उदय हुआ। मूर्तिपूजा की मान्यता बढ़ी। सार्वजनिक देवालयों की स्थापना हुयी। लोग शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, स्वर्ग और नरक की कल्पना करने लगे। स्वर्ग प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के यज्ञ होने लगे। ब्रह्मज्ञान, तत्वज्ञान तथा आत्मज्ञान की खोज होने लगी। सन्यासी उदासीन होकर तप करने लगे। यक्ष, गन्धर्व, राक्षस तथा सर्प उपासना की प्रवृत्ति छोटे वर्ग में बढ़ी।

छठी शताब्दी ई.पू. में एक नवीन धार्मिक चेतना का विकास हुआ। इस युग में अनेक परिव्राजक, दार्शनिक, मीमांसक, विचारक और उपदेशक उत्पन्न हुये। इन्होने नयी धार्मिक क्रान्ति को जन्म दिया तथा नवीन सत्य के अन्वेषण किये गये। नवीन धार्मिक व्यवस्था पर विचार किया गया। 'पहले परखो और फिर स्वीकार करो' की नीति अपनायी गयी। स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के अधिकार पर विशेष बल दिया गया। इसीलिये नवीन क्रान्ति की ओर जनता का झुकाव बढ़ा। इस नवीन क्रान्ति के कारण जिस गति से ब्राह्मण धर्म पहले चल रहा था, वह गति इस समय बहुत मंद हो गयी, उसका मूल कारण था ब्राह्मणों के प्रति जन आक्रोश का बहुत अधिक बढ़ जाना। ब्राह्मणों के अन्दर अभिमान और द्वेष की जो भावना पैदा हुयी थी उसी के कारण उनका पतन भी हुआ। छठी शताब्दी ई.पू. के धार्मिक आन्दोलन के प्रमुख महावीर स्वामी तथा महात्मा बुद्ध थे। जब यह आन्दोलन चल रहा था तो अनेक व्यक्ति मूकदर्शक बने रहे। यह आन्दोलन गणराज्यों में विकसित हुआ। तद्‌युगीन वातावरण और परिस्थितियों के कारण इस क्रान्ति का विकास हुआ। इस समय वाद विवाद और तर्क के माध्यम से शास्त्रार्थ का सहारा लेकर सत्य और असत्य के गुण दोषों को परखा गया। निरर्थक मतों को अस्वीकार कर दिया गया। हितकारी मतों को शक्ति मिली। आन्दोलन की इस आँधी में छोटे-मोटे धर्म विलीन हो गये। यह धर्म आन्दोलन राजनीति से जुड़ा। जो धर्म राज्याश्रय पा गया उसी का विकास हो गया। मानव मस्तिष्क के सोंचने का तरीका बदल गया।

मेगस्थनीज ने मौर्य काल की धार्मिक दशा पर प्रकाश डालते हुये लिखा है कि इस युग में ब्राह्मण और श्रमण प्रधान धार्मिक पंथ थे। ब्राह्मण सम्पूर्ण जगत को अण्डाकार, विनाशवान तथा ब्रह्ममय मानते थे तथा पंचतत्व की सत्ता पर विश्वास करते थे, इस समय ब्राह्मण धर्म का पुनः विकास होने लगा था और यज्ञ आदि सम्पन्न होने लगे थे। उच्चवर्ग के लोग यज्ञ, हवन, बलि, पूजा आदि ब्राह्मणों से करवाते थे। कर्मकाण्ड का प्रभाव कम हो गया था। इस समय देवताओं का महत्व घटा, जो देवता प्रचलित थे उनमें बलि, नारद, संवर, नाग और वैरोचन आदि प्रमुख थे। इस युग में मूर्तिपूजा प्रारम्भ हो गयी थी तथा मंदिरों के अस्तित्व के भी प्रमाण मिलते हैं। व्यक्ति तीर्थयात्रा करते थे, पवित्र नदियों में स्नान करते थे। वर्णाश्रम धर्म का महत्व था, व्यक्ति स्वर्ग, नरक और पाप-पुण्य पर विश्वास करते थे।

मौर्य युग में बौद्ध धर्म का विकास हुआ सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया इसलिये मौर्यकाल में बौद्ध धर्म प्रमुख धर्म बन गया।[६८] बौद्ध धर्म में सभी धर्मों के श्रेष्ठ नियमों एवं व्यवहारों का समन्वय था। सम्राट अशोक का काल बौद्ध धर्म का स्वर्ण युग था इस समय बौद्ध
धर्म का प्रचार प्रसार विदेशों तक हुआ। बौद्ध धर्म की दो प्रमुख शाखायें, स्थविरवादी तथा महासान्धिक नाम से विख्यात थीं। अशोक ने अनेक बौद्ध स्तूपों और विहारों का निर्माण कराया तथा पुराने बौद्ध धर्म स्थलों का जीर्णोद्धार कराया।

मौर्यकाल में जैनधर्म मंथर गति से चल रहा था जो लोग ब्राह्मण धर्म की कर्मकाण्डता तथा बौद्ध धर्म की अति व्यावहारिकता को अस्वीकार करते थे वे लोग जैन धर्म ग्रहण करते थे। इस युग में जैन धर्म का भी सम्मान था। चन्द्रगुप्त मौर्य जो अपने जीवन के प्रारम्भ में वैष्णव धर्म का अवलम्बी था, वह जीवन के अन्त में जैन धर्म का अनुयायी हो गया। अशोक का पौत्र सम्प्रति भी जैन धर्म का अनुयायी था। जैन धर्म भी इस युग में प्रमुख धर्म था।

मौर्यकाल में प्रमुख धर्मों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय एवं धर्म भी थे इनमें आजीवक सम्प्रदाय प्रमुख था।[६९] ये लोग नंगे रहकर सन्यासियों की भाँति जीवन व्यतीत करते थे। सम्राट अशोक ने इन्हे रहने के लिये गुफायें दान में दी थीं।[७०] अशोक ने अपने सातवे शिलालेख में संघ, ब्राह्मण, आजीविकों तथा निर्ग्रन्थ सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों का नाम भर लिया है तथा उनके नाम नहीं दिये हैं।[७१] इस आधार पर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि इस समय अन्य छोटे-बड़े अनेक धार्मिक सम्प्रदाय तथा मत प्रचलित थे। अन्य धर्मों का होना इस बात का परिचायक है कि मौर्यशासक बड़े उदार तथा धार्मिक सहिष्णु शासक थे। मत भिन्न होने पर भी व्यावहारिकता के आधार पर वे एक दूसरे का सहयोग करते थे और दूसरे मतों का सम्मान करते थे।

२०० ई.पू. से लेकर ३०० ई. तक के काल में धार्मिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुये। पुरानी मान्यतायें नये परिवेश में आयीं। बौद्ध धर्म में भी नवीन परिवर्तन हुआ। यूनानियों, शकों, पर्सियन और कुषाणों का भारतीयगण हो गया। स्मृतिकारों ने इन्हें पतित क्षत्रियों के रूप में स्वीकार कर लिया। कुछ लोगों को वैष्णव धर्म में दीक्षित कर लिया गया, कुछ ने बौद्ध धर्म अपना लिया। यूनानी नरेश मिनेण्डर ने बौद्ध धर्म स्वीकारा। आचार्य नागसेन के साथ मिनेण्डर के प्रश्नोत्तर अत्यन्त रोचक हैं। कुषाण लोग शैव और बौद्धों के प्रति समान भाव रखते थे। दक्षिण में सातवाहन नरेशों ने अपने को ब्राह्मण बतलाकर वैदिक धर्म का प्रचार किया। उन्होनें वैदिक यज्ञों का प्रचार भी किया। ये लोग बौद्धों के प्रति भी श्रद्धा रखते थे तथा इन्होने बौद्धों को भी दन दिया। इस युग में शासन और धर्म के मध्य गहरा सम्बन्ध रहा। बौद्धधर्म में महायान सम्प्रदाय का उदय भी इसी युग में हुआ। इस सम्प्रदाय में सम्यक ज्ञान के माध्यम से मानव जीवन के निर्माण की स्थिति स्पष्ट की यगी। ये लोग उदारवादी, मूर्तिपूजक और बुद्ध को ईश्वर मानते थे। इन्होने बुद्ध को उदारवादी,

कष्टों को दूर करने वाला माना तथा बुद्ध के जीवन्त की अनेक कथाओं का सृजन भी किया। महायान सम्प्रदाय में हीनात्मा को मिथ्या माना गया है। इसके स्थान पर महात्मा का अस्तित्व स्थापित किया गया।

गुप्त युग में भागवत धर्म का प्रचुर प्रचार, बौद्ध धर्म का उद्धार और जैनधर्म का विस्तार हुआ।[७२] ब्राह्मण धर्म जो बौद्ध ध्सर्म के विकास के कारण कमजोर पड़ गया था उसका पुनरूत्थान इसी काल में हुआ। गुप्तों के पूर्व सातवाहनों ने इसे विकसित करने का प्रयास किया था। गुप्तवंश ने इसे और अधिक विकसित किया और समयानुकूल बनाया। इस समय हिन्दूधर्म के प्रमुख अंग के रूप में वैष्णव धर्म, शैवधर्म, शाक्तधर्म, सूर्योपासना तथा अन्य देवों की उपासना का विकास हुआ। मुख्य रूप से पार्वती के पुत्र गणेश और स्वामी कार्तिकेय की पूजा होने लगी। त्रिमूर्ति के रूप में ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी पूजे जाने लगे। इसके अतिरिक्त नागों की पूजा का प्रचलन बढ़ा। यक्ष और यक्षणियों की उपासना की जाने लगी। अनेक मतों पर आस्था होने के कारण उपासना का सम्बन्ध भक्तिवाद से हो गया। प्रजाजन और राजा वैदिक यज्ञों का सम्पादन करने लगे।

इस समय बौद्ध धर्म में विज्ञानवाद के नवीन सिद्धान्त का उदय हुआ। इसका उदय नालन्दा विश्वविद्यालय से हुआ। इस धर्म से जुड़े वसुवन्ध, असंगजीव, परमार्थ, कुमार तथा दिंगनाग ने इस सिद्धान्त का विस्तार किया। इससे प्रभावित होकर महायान की लोकप्रियता बढ़ी तथा गुप्त वंश के अनेक नरेशों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। भक्तिवाद के प्रभाव के कारण महात्मा बुद्ध की उपासना और स्तुति होने लगी।

इस युग में जैनधर्म के प्रति भी आस्था बढ़ी। वल्लभी में जैन धर्म सभा का आयोजन किया गया। भद्रबाहु द्वितीय ने जैन ग्रन्थों की टीकायें लिखीं। जैन विद्वान उमानाथ ने तत्वार्थाधिगम तथा सूरसेन ने न्यायावतार नामक जैन ग्रन्थों की रचना की। देवाधिगण, क्षयणाक, सिद्धिदिवाकर इस समय के प्रमुख विद्वान और प्रचारक थे। जैन धर्म में भी भक्तिवाद का प्रभाव पड़ा।

इस युग में भूत-प्रेत पर विश्वास बढ़ा। भूत-प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस तथा बैताल आदि पर विश्वास किया जाने लगा।[७३] राजा लोग भी शकुन और भविष्यवाणी पर विश्वास करने लगे। इस समय बौद्धों में भी तन्त्र-मंत्र का प्रचार हुआ। गुरु पूजा, ग्रन्थपूजा, पितृपूजा, पवित्र नदियों में स्नान, प्राणायाम, तीर्थयात्रा, धार्मिक व्रत और उत्सवों पर लोगों का विश्वास बढ़ा।

गुप्तयुग में दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की गयी। ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका की रचना की तथा वैशेषिक दर्शन पर पदार्थधर्मसंग्रह की रचना आचार्य प्रशस्त्रपाद ने की। आचार्य व्यास ने योगदर्शन पद्धति पर व्यास भाष्य तथा वात्स्यायन ने न्यायदर्शन पर न्यायभाष्य की रचना की। इसके अतिरिक्त वसुबन्धु, दिग्नाग, आर्यदेव, भद्रबाहु, असंग तथा आचार्य सिद्धसेन गुप्त इस युग के अच्छे दर्शनशास्त्री थे।

इस युग में धार्मिक ग्रन्थों की रचना तथा उनका सम्पादन भी हुआ। महाभारत और रामायण का सम्पादन किया गया, इसी समय ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के माहात्म्य को पुराणों में

शामिल किया गया। गुप्तकाल में ही आचार्य असंग ने बौद्ध ग्रन्थों की रचना की तथा जैन आचार्य सिद्धसेन ने तत्वसारिणी तत्वार्थ की टीका लिखी।

गुप्तकाल की धार्मिक स्थिति में थोड़ा बहुत परिवर्तन वर्द्धनकाल में हुआ, इस समय अनेक सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदाय पैदा हुये। यद्यपि इन्न सम्प्रदायों में आपसी मेलजोल था लेकिन कहीं-कहीं कटुता भी थी।[७४] इस समय पूजा पद्वति में जटिलता उत्पन्न हो गयी, अन्धविश्वास बढ़ा तथा धर्म के नाम पर अश्लीलता के व्यवहार होने लगे। इस युग में भी निम्न धर्म अस्तित्व में थे-

१. वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म- ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में भारत को ब्राह्मणों का देश कहा है। इस धर्म में वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य सम्प्रदायों के अतिरिक्त कई अन्य उपसम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे इनमें आर्हत (जैन), मस्करी (परिव्राजक), श्वेतपट (श्वेताम्बर), पाण्डु भिक्षु (श्वेतवस्त्रधारी भिक्षु), भागवत (वैष्णव), वर्णी (ब्रह्मचारी), केशलुंचक (अपने बाल उखाड़ फेंकनेवाले जैन साधु), कापिल (सांख्यमत वाले), लोकायतिक (चार्वाक आदि), जैन, बौद्ध, कणाद (वैशेषिक मत को मानने वाले) औपनिषदिक, ऐश्वरकरणिक (न्यायदर्शन को मानने वाले), करंधम (धातुवादी), धर्मशास्त्री (स्मार्त), पौराणिक, साप्ततंतव, शैव, शाब्दिक (वैयाकरण) और पांचरात्रिक (वैष्णव धर्म की शाखा) आदि सम्प्रदाय थे। ये लोग शिव, सूर्य, दुर्गा, विष्णु और उनके अनेक रूपों की पूजा करते थे। देवताओं की अनेक मूर्तियाँ मंदिर में स्थापित की जाती थीं। मूर्तियों को दूध से स्नान कराया जाता था फिर पुष्प, धूप, गंध, ध्वज, बलि, विलेपन, प्रदीप आदि समर्पित किये जाते थे। पुराणों पर आस्था बढ़ रही थी। वाममार्गी प्रवृत्तियाँ भी दिखलायी देने लगी थीं।

२. बौद्धधर्म- इस युग में बौद्ध धर्म भी अस्तित्व में था किन्तु इस धर्म को मानने वालों की संख्या घट रही थी। बौद्ध धर्म हीनयान, महायान नामक दो शाखाओं में विभक्त था तथा इसके छोटे-छोटे १८ उपविभाग भी थे। इनमें स्थविर, सम्मितीय, महासांघिक, माध्यमिक तथा योगाचार आदि अधिक प्रसिद्ध थे। इस समय बौद्ध धर्म की महायान शाखा का विकास हो रहा था। इस मत के अनुसार बुद्ध के ऐश्वर्य, अवतार, बोधिसत्व, अवलोकितेश्वर तथा उनकी मूर्तियों की पूजा, तीर्थयात्रा, स्वस्तिक और पौष्टिक कर्मकाण्ड बढ़ रहे थे। इस युग में प्राचीन बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान हुआ।

३. जैनधर्म- हर्षयुग में जैनधर्म दक्षिण की ओर खिसक रहा था इसके मानने वालों की संख्या कम हो रही थी। बाणभट्ट ने अपने ग्रन्थ में क्षपणकों तथा दिवाकरमित्र के आश्रम में जैन भिक्षुओं का उल्लेख किया है। चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय जैन धर्म का आश्रयदाता था। ह्वेनसांग ने काँची में जैनधर्म के मंदिरों का अवलोकन किया था। इस समय इनके दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदाय थे। दोनों की पूजा पद्धतियों में अन्तर था। इस काल में जैन धर्म को भी प्रोत्साहन दिया गया। इस वंश के संस्थापक पुष्यभूति शैव धर्म तथा तांत्रिक धर्म को मानते थे। इस वंश के अन्य राजा सूर्य के उपासक थे। प्रभाकरवर्द्धन का बड़ा पुत्र सौगत बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसका छोटा पुत्र हर्षवर्द्धन अपने दानपत्रों, मुद्राओं तथा अभिलेखों में माहेश्वर शब्द का प्रयोग करता

था।[७५] सभी सम्प्रदायों में इस समय तक मूर्तिपूजा प्रारम्भ हो चुकी थी। बाद में हर्षवर्द्धन ने बौद्धध ार्म के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। हर्षवर्द्धन बहुत बड़ा दानी सम्राट था, वह राज्य की आय का बहुत बड़ा भाग दान में व्यय करता था। वह प्रयाग में गंगा यमुना के संगम पर महादानभूमि में प्रति पाँचवें वर्ष दान महोत्सव अथवा महामोक्षपरिषद का आयोजन करता था, इस अवसर पर वह भिक्षुओं, अनाथों, रोगियों और दरिद्रों को करोड़ों की सम्पत्ति दान करता था। वह राज्य की पंचवर्षीय बचत का सर्वस्य दान कर केवल अपने शरीर के वस्त्रों को लेकर संतोष का अनुभव करता था।[७६]

राजपूत काल में हिन्दू और जैन तथा बौद्ध धर्म प्रमुख रूप से प्रचलित थे। हिन्दु धर्म के अन्तर्गत यज्ञों का महत्व फिर से बढ़ा। भक्ति मार्ग और पौराणिक मार्ग का उदय हुआ। शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट ने हिन्दू धर्म का प्रचार-प्रसार किया। कुमारिल भट्ट ने वैदिक कर्मकाण्ड को प्रचारित किया और शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रचार किया। इसी समय रामानुज ने विशिष्टाद्वैतवाद और भक्तिवाद को प्रोत्साहित किया। इस युग में विष्णु और शिव प्रमुख देवता थे। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, कार्तिकेय, इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण, मरुत आदि देवताओं की उपासना होती थी। देवियों में मातृका, भगवती या दुर्गा और लक्ष्मी की पूजा होती थी। इसके अतिरिक्त ग्राम देवता पूजे जाते थे। अनेक राजपूत बौद्ध भिक्षुओं के शिष्य भी थे। गोविन्दचन्द्र गाहड़वाल, राजेन्द्र चोल और कुलोतुंग ने बौद्ध विहारों को दान दिया था। यज्ञों के स्थान पर अवतारवाद को प्रोत्साहन मिला। इस युग में क्षेमेन्द्र ने 'दशावतार चरित्र' जयदेव ने गीतगोविन्द आदि ग्रन्थों की रचना की।

इस समय बौद्ध धर्म अधिक प्रभावशाली नहीं रह गया था। पश्चिमी और पूर्वी भारत में बौद्धों का प्रभाव था। बौद्ध धर्म में महायान शाखा का प्रभाव अधिक था तथा उसमें भी तांत्रिक स्वरूप विकसित हो रहा था इस समय के बौद्ध विलासी और भृष्ट हो गये थे। वाज्रयान का भी उदय हुआ। वज्रयान के अन्तर्गत मैथुन और हठयोग की प्रधानता थी। महायान सम्प्रदाय मे तारा देवी की भी पूजा होने लगी थी।

इस युग में जैनधर्म की स्थिति अच्छी थी। दक्षिण में चालुक्य और राष्ट्रकूट नरेश इस धर्म का आदर करते थे। इस समय जैनधर्म मुख्य रूप से कच्छ, काठियावाड़, गुजरात और राजस्थान में फैला। किन्तु इसे किसी शासक का अशोक, कनिष्क या हर्षवर्द्धन की भाँति राजकीय संरक्षण नहीं मिला।

राजपूत युग में सभी धर्मो में मूर्तिपूजा को प्रमुखता दी गयी, इस युग में अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ। मंदिरों के प्रांगण में ही शिक्षण संस्थायें चलती थीं। इस समय मंदिरों को प्रचुर धन दान में मिलता था। जवाहरात की मूर्तियाँ भी मंदिरों को उपहार में मिलती थीं। धार्मिक अवसरों पर मंदिरों और मूर्तियों को दान दिये जाते थे। दान में स्वर्ण मुद्रा का काफी उपयोग होता था। इस युग में विदेशी आक्रमणकारी भारतवर्ष में आये उन्होनें मंदिरों को लूटा जहाँ उन्हें प्रचुर मात्रा में

धन मिला। बहुत से लोग ऐसे भी थे जो एक साथ शिव, विष्णु, बुद्ध और तारादेवी की एक साथ उपासना करते थे। इस समय धर्म समन्वय अच्छा था।

दान का धर्म से सम्बन्ध– जब व्यक्ति के मस्तिष्क में विवेक का उदय हुआ और उसने विश्व के यथार्थ को देखा, उस समय उसके हृदय में यह तर्क उत्पन्न हुआ कि उसे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। उसकी इस भावना ने धर्म को जन्म दिया, उसने धर्म के माध यम से सृष्टि, जीव-जगत की उत्पत्ति का अध्ययन किया, उसने अपने सृजन के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त की, तथा उन पंचतत्वों के बारे में भी उसे बोध हुआ जिन तत्वों ने उसके शरीर को सृजित किया। उसने यह भी जानकारी प्राप्त की कि उसे अपने जैसे प्राणियों से कैसा व्यवहार करना चाहिये। इन सब बातों के लिये जो सिद्धान्त सृजित किये गये उन्हें धर्म के नाम से जाना गया। इस सिद्धान्तों की विशेषता यह थी कि व्यक्ति अहं भावी न बने, वह सृजेता के प्रति कृतज्ञ रहे, जीवन को नश्वर समझ कर और धन को गतिशील मानकर वह परहित की बात सोंचे। इसीलिये प्राचीनतम धर्म अन्वेषकों ने धर्म के मूल भूत सिद्धान्तों का सृजन किया। महाभारत में ध र्म के आठ मार्ग बताये गयें हैं यथा-

"इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।।"[७७]

अर्थात् यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और निर्लोभता, ये धर्म के आठ प्रकार के मार्ग बताये गये हैं।

इन आठ मार्गो मे दान भी एक मार्ग है। यदि भारतवर्ष के प्राचीनतम धर्म वैदिक धर्म का विशिष्ट अध्ययन किया जाय तो उस युग में भी दान का सम्बन्ध धर्म से जोड़ा गया। ऋग्वेद में दान के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।[७८]

"न वा उ देवाः क्षुधमिद्विधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते।।"[७९]

अर्थात् देवताओं ने केवल क्षुधा की ही सृष्टि नहीं की अपितु मृत्यु को भी बनाया है। जो बिना दान दिये ही खाता है, उस खानेवाले पुरुष को भी मृत्यु के ही समीप जाना पड़ता है। दाता का धन कभी क्षीण नहीं होता। इधर दान न करने वाले मनुष्य को कभी सुख नहीं प्राप्त होता।

यदि पौराणिक ग्रन्थों और श्रौतग्रन्थों का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि दान का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध था। मनुस्मृति में इसका उल्लेख प्राप्त होता है, यथा-

"तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।।"[८०]

अर्थात् सतयुग में तपस्या, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में दान प्रधान ध र्म माना गया है।

इसी प्रकार के अनेक उदाहरण बौद्ध धर्म ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं। छठी शताब्दी ई. पू. से लेकर दूसरी शताब्दी ई.पू. तक बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक अभिलेख पाली और संस्कृत

भाषा में प्राप्त होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि इस युग में दान की भावना का विकास हुआ।[८१] जैन धर्म में भी दान का विशेष महत्व था। चालुक्य और राष्ट्रकूट नरेशों ने जैनधर्म के संरक्षण के लिये अनेक जैन मंदिरों को दान दिया।[८२]

इससे यह स्पष्ट होता है कि धर्म को दान से तथा दान को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता। दान और धर्म का सम्बन्ध अतिप्राचीन और अटूट है।

धर्म में दान की अवधारणा का उदय- अपने लिये तो सभी जीते हैं। संसार के समस्त जीव भी निज स्वार्थसाधन में लगे रहते हैं किन्तु मनुष्य यह नहीं समझता कि वह इस संसार की समस्त वस्तुओं का स्वामी नहीं है। समस्त जीव-जन्तु भी परमात्मा की कृति हैं तथा संसार में उपलब्ध वस्तुओं पर उनका भी बराबरी का अधिकार है। पंच महाभूतों से ही शरीर का अस्तित्व है और इन्हीं से उसका विकास भी होता है। इतना होने पर भी यह संसार समस्त जीवों का स्थाई घर नहीं हैं। वीजारोपण, अंकुरण, पल्लवन, विकास और विनाश यह समस्त सृष्टि का चक्र है। इसलिये जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु भी सुनिश्चित है। जिस धन और सम्पत्ति का वह भोग कर रहा है वह भी नाशवान और गतिशील है इसलिये स्थायित्व परिकल्पित है, जो ऐश्वर्य और सम्पत्ति वह निज सुख के लिये संचित करता है, वह मृत्यु के बाद उसके साथ नहीं जा सकती। जो कर्म वह कर रहा है उसका प्रतिफल भी उसे यहाँ भोगना पड़ता है यदि वह अच्छा करेगा तो वह अच्छा पायेगा, यदि वह बुरा करेगा तो बुरा पायेगा। इसके अतिरिक्त व्यक्ति मृत्यु उपरान्त स्वर्ग या नरक में जाने की कल्पना करता है। स्वर्ग को सुखों का आगार, देवताओं के रहने का स्थान माना जाता है। इसकी उपलब्धि जीव को अच्छे कर्मो के माध्यम से होती है। इसी प्रकार नरक नाना प्रकार के कष्टों का आगार है। मृत्यु के उपरान्त जीव को नाना प्रकार का कष्ट सहन करना पड़ता है। बुरे कर्म करने के परिणामस्वरूप वह मृत्यु के उपरान्त नरक का भोग भोगता है। यहाँ जीव की एक तीसरी गति भी है वह गति अति उत्तम कोटि के कर्म की है इस गति से व्यक्ति को मोक्ष अथवा परमपद की प्राप्ति होती है। विश्व के प्रमुख धर्म उपरोक्त सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं।

मनुष्य द्वारा जो व्यावहारिक क्रिया किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये की जाती है उसे कर्म कहा जाता है। जीवन अनेक उद्देश्यों से बँधा है। जब व्यक्ति स्वावलम्बी हो जाता है। तो वह सर्वप्रथम भोजन खोजने का कार्य करता है उसके पश्चात् वह वस्त्र और आश्रयगृह की खोज करता है इसके पश्चात् वह स्पर्धा और अस्तित्व के लिये कार्य करता है इसी प्रकार उसका सम्पूर्ण जीवन स्वान्तः सुखाय में ही व्यतीत हो जाता है। वह कर्म करने के लिये मजबूर है और कर्मकरना उसका स्वभाव भी है। गीता में इसका विश्लेषण किया गया है, यथा-

''न हि कश्रित्क्षणमपि जातु तिष्टत्यकर्मकृत। कार्यते ह्यवशः कर्मः सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।''[८३]

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से अर्जित गुणों के अनुसार विवश होकर कर्म करना पड़ता है, अतः कोई भी एक क्षण के लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को कर्म करने का निश्चय करना पड़ता है बिना कर्म के वह

अपने शरीर का निर्वाह भी नहीं कर सकता। गीता में इसका उल्लेख प्राप्त होता है-

"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।"[८४]

अर्थात् अपना कर्म नियत करो क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म के बिना तो शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता।

कर्मो की दो कोटियाँ हैं, प्रथम कोटि निज हित के लिये किये जाने वाले कर्म हैं तथा द्वितीय कोटि के कर्म परमार्थ के लिये किये जाने वाले कर्म है। जब व्यक्ति यह विचार करता है कि अन्य प्राणियों में भी उसकी जैसी आत्मा निवास करती है और दूसरे व्यक्तियों की भी आवश्यकतायें उसकी जैसी हैं इसलिये वह जब किसी व्यक्ति को किसी विपत्ति में देखता है अथवा अपने से कमजोर देखता है तो उसके हृदय में दया, करुणा और सहयोग की भावना जन्म लेती है। इस भावना से प्रेरित होकर वह दूसरों को कुछ देने के लिये सोंचता है। तथा जो आदर्श कायम करता है। वह दूसरों के लिये अनुकरणीय होते हैं।

"यधदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।"[८५]

अर्थात् महापुरुष जो-जो आचरण करता है सामान्य व्यक्ति उसी का अनुसरण करते है। वह अपने अनुसरणीय कार्यो से जो आदर्श प्रस्तुत करता है, सम्पूर्ण विश्व उसका अनुसरण करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरुषार्थ की भावना से दान देने की भावना का उदय हुआ। उसके श्रद्धापूर्वक दान देने से ग्रहीता की इच्छापूर्ति होती है वह दाता के द्वारा दिये गये दान के प्रति सदैव कृतज्ञ रहता है तथा दाता के प्रति भी सहयोग की भावना रखता है। जो व्यक्ति उसके इस उदार कर्म को देखते हैं वे भी उसके इस कृत्य की प्रशंसा करते हैं। इससे दाता को यशलाभ मिलता है तथा दाता की प्रतिष्ठा समाज में बढ़ जाती है। दान का यह आत्मसंतोष मिलता है कि उसने ऐसा कर्म किया है जो प्रशंसनीय है, इस प्रकार वह परोपकार की भावना से प्रेरित होता है और यह अनुभव करता है कि यदि वह परहित करता रहेगा तो धर्मशास्त्रों के अनुसार उसे उचित गति की अथवा उचित कर्मफल की प्राप्ति होगी। इसलिये धर्माचरण में पुरुषार्थ का महत्व बढ़ा तथा पुरुषार्थ के महत्व ने ही दान की भावना को जन्म दिया तथा दान धर्म का अभिन्न अंग बन गया।

धर्म में दान का महत्व- धर्म एक नैतिक कर्तव्य का व्यावहारिक स्वरूप है। यह दृश्य और अदृश्य दोनों है। जब नैतिक कर्तव्य हमारे मस्तिष्क में जन्म लेते हैं उस समय ये अदृश्य रहते है क्योंकि कोंई व्यक्ति हमारी मनोभावनाओं को बिना अभिव्यक्ति के जान नहीं सकता इसलिये धर्म की अभिव्यक्ति नैतिक कर्तव्यों के व्यावहारिक आचरण से ही प्रकट होती है। जब हम सत्य बोलते हैं या धर्माचरण का अनुसरण करते है उस समय हमको धर्म दिखलायी देता है। जप, तप, यज्ञ, ज्ञान और दान का व्यावहारिक स्वरूप भी हमको दिखलायी देता है। जब सभी ग्रन्थों में धर्म के माध यम से दान के माहात्म्य को उजागर किया गया तभी मनुष्य उससे प्रेरित हुये। और उन्होने दान देने का निश्चय किया।

"शुभं सर्वपवित्रेभ्यो दानमेव परं द्विज। नो चेत् सर्वपवित्रेभ्यो दानमेव परं भवेत्।।"[८६]

अर्थात् जितने पवित्र कर्म हैं, उन सबमें दान ही सबसे बढ़कर पवित्र एवं कल्याणकारी है। यदि दान ही समस्त पवित्र वस्तुओं से श्रेष्ठ न होता तो वेद-शास्त्रों में उसकी इतनी प्रशंसा नहीं की जाती।

हम अपने जीवन को धर्म की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं तथा इस विभाजन के अनुसार दान का विश्लेषण भी कर सकते हैं-

१. व्यक्तिगत कर्तव्य- मनुष्य अपने परिवार में रहकर अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्य करता है। वह प्रातःकाल उठकर शौच आदि क्रियाओं से निवृत्त होकर अपने ईष्टदेव की आराधना करता है और समस्त जीवों में समभाव रखता हुआ उनके लिये कुछ न कुछ दान करता है इस दान के अन्तर्गत देवताओं को प्रसाद चढ़ाना, दरवाजे में आये हुये व्यक्तियों को अन्न, द्रव्य आदि का दान देना, अतिथियों के साथ शिष्टाचार का व्यवहार करना और उन्हें भोजन कराना, तीज-त्योहार के अनुसार धार्मिक अनुष्ठान करना, पवित्र नदियों में स्नान करना, सद्ग्रन्थों का श्रवण एवं पाठ करना, तीर्थ यात्रा करना तथा श्राद्ध आदि अन्य संस्कारों में शास्त्रानुसार दान देना आदि आते हैं।

२. समाज के प्रति कर्तव्य- व्यक्ति जिस स्थान में रहता है तथा जिस जाति, समाज, धर्म व देश का वह सदस्य है उसके प्रति भी उसके कुछ नैतिक कर्तव्य हैं। यदि वह बुद्धिजीवी है तो वह अपने आदर्शपूर्ण ज्ञान का दान अपने शिष्यों और जिज्ञासुओं को दे सकता है उसके सदोपदेश और ज्ञान, द्रव्य दान से बढ़कर होते हैं, यदि वह क्षत्रिय कुल का है तो वह प्राणियों की रक्षा करके उन्हे प्राणदान दे सकता है। अकारण किये गये अपराधों को क्षमा कर सकता है और अभयदान दे सकता है। यदि वह सम्भ्रान्त व्यक्ति है और उसके पास आवश्यकता से अधिक धन है तो वह जनकल्याण के लिये कुँआ, तालाब, बावली आदि का निर्माण करवा सकता है। वह गरीब व्यक्तियों को जूता, तिल, छाता, अन्न, वस्त्र, धन आदि का दान दे सकता है। महाभारत में दान की बड़ी प्रशंसा की गयी है, यथा-

"तिलान् ददत पानीयं दीपान् ददत जाग्रत। ज्ञातिभिः सह मोदध्वमेतत् प्रेत्य सुदुर्लभम।।"[८७]

अर्थात तिल का दान करो, जल दान करो, दीपदान करो, सदा धर्म के लिये सजग रहो तथा कुटुम्वीजनों के साथ सर्वदा धर्मपालन पूर्वक रहकर आनन्द का अनुभव करो। मृत्यु के बाद इन सत्कर्मो से परलोक में अत्यन्त दुर्लभ फल की प्राप्ति होती है।

इसलिये धर्म का स्वरूप अति व्यापक है तथा उसके अन्तर में लोक कल्याण की भावना छिपी है। अपने लिये तो सभी जीते है जो दूसरों के लिये जीते हैं, आत्मत्याग के माध्यम से परहित करते है, समाज को दान देते हैं वे ही धन्य हैं।

३. परलोक के लिये कर्तव्य- व्यक्ति धर्म को परमात्मा और विभिन्न देवी-देवताओं से जोड़ता है तथा जन्म से लेकर मृत्यु तक वह किसी न किसी धर्म का सदस्य होता है। वह परमात्मा

और देवता से सदैव भयभीत रहता है, उसे भय रहता है कि यदि वह देव उपासना नहीं करेगा, धार्मिक स्थलों, तीज-त्योहारों मे दान पुण्य नहीं करेगा तो उसके ईष्टदेव उससे नाराज हो जायेगें। बहुधा देखा गया है कि जब किसी व्यक्ति के ऊपर आपत्ति आती है तो उसे लगता है कि देवता उससे नाराज हैं। उसके ऊपर शनि की महादशा है अथवा उसे कोई प्रेतबाधा परेशान कर रही है। इनसे छुटकारा पाने के लिये वह विभिन्न प्रकार के धार्मिक कृत्य करता है तथा देवआराधन, पूजन, जप, तप, यज्ञ, दान आदि का सहारा लेकर वह आयी आपत्ति से छुटकारा पाना चाहता है। वह इस अवसर पर ब्राह्मण भोज, ज्योतिषियों एवं तांत्रिकों को दान देता है, विविध धार्मिक ग्रन्थों का पाठ कराता है। वह यह भी चाहता है कि मृत्यु के पश्चात् वह नरकगामी न हो तथा पुनर्जन्म के चक्कर में न पड़े एवं उसे मोक्ष की प्राप्ति हो इसलिये भी वह अपनी शक्ति के अनुसार धर्म, संस्कार, यज्ञ आदि करता है तथा जीवन में सदाचरण का सहारा लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति का वह जीवन जो परमात्मा को समर्पित रहता है वह दान की भावना से प्रेरित रहता है तथा वह दान को लोककल्याण का और देवता को प्रसन्न करने का साधन मानता है।

दान का विश्लेषणः धार्मिक परिप्रेक्ष्य में– दान के सन्दर्भ में जो विवरण हमें धार्मिक ग्रन्थों तथा स्मृतियों में प्राप्त होते हैं उन्हें हम तीन विशिष्ट भागों में विभाजित कर सकते हैं इस विशिष्ट विभाजन से ही दान का धार्मिक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है तथा इसी स्वरूप से प्रेरित होकर समाज का व्यक्ति दान को अंगीकार करता है यह विभाजन निम्नवत है-

१. दान उपदेश– जो भी धर्मग्रन्थ अब तक भारतवर्ष में प्राप्त हुये हैं उनमें दान की महिमा का गुणगान अति विशिष्ट रूप से हुआ है। इस महिमा का गुणगान, दानोपदेश के नाम से ग्रहण किया जाता है। जव कोई भी व्यक्ति वेदों, पुराणों, स्मृतिग्रन्थों, महाकाव्यों, का पठन-पाठन एवं श्रवण करता है तथा जब वह पुरुषार्थ अथवा दान से जुड़े हुये प्रसंग श्रवण करता है तो उसका भी प्रेम दान पुरुषार्थ के प्रति पैदा होता है। जब वह सुनता है कि राजा हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, कर्ण, शिवि, मान्धाता, दधीचि, परशुराम आदि ने दान के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये हैं तो वह भी उन आदर्शों को जीवन में अपनाता है। वेद,[८८] पुराण,[८६] ब्राह्मण,[६०] उपनिषद,[६१] स्मृति[६२] आदि ग्रन्थों में दानोपदेश को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। धर्मोपदेश के अनुसार मनुष्य का जन्म बहुत मुश्किल से प्राप्त होता है। देवतागण भी इस योनि में जन्म लेने को तरसते हैं, इसलिये जन्म लेकर व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का सहारा लेकर अपने जीवन को संस्कारयुक्त बनाना चहिये। धर्म के अंग जप, तप, यज्ञ, ज्ञान और दान के महत्व को समझते हुये उनका अनुसरण करना चाहिये। यदि व्यक्ति सामर्थ्यवान है और उसने धन स्वतः अर्जित किया है तो उसे लोककल्याण के लिये योग्य, धर्मज्ञ, चरित्रवान तथा धार्मिक क्रियाओं को जानने वाले ऐसे ब्राह्मण को दान देना चाहिये, जिसे दान की आवश्यकता है। यह दान उसे गाय, अन्न, वस्त्र, स्वर्ण, आभूषण, गृह, भूमि तथा जीवनोपयोगी वस्तुओं के रूप में दिया जा सकता है। दान को निष्कामभाव से याचना और गैरयाचना से व्यक्ति को दिया जाना चाहिये। दान, ब्राह्मणों के अतिरिक्त माता-पिता कन्या, मित्र,

सेवक तथा जरूरतमंद अपरिचित और याचना करने वाले व्यक्तियो को दिया जा सकता है। जनकल्याण के उद्देश्य से दान धर्मस्थल निर्माण, मूर्तिस्थापना, यज्ञ, विजय तथा विशिष्ट उत्सवों पर उपहार आदि के रूप में दिया जा सकता है। व्यक्ति जब पंच महायज्ञों का आयोजन करे या विविध प्रकार के संस्कारों का आयोजन करे या यात्रा आदि पर प्रस्थान करे या तीर्थयात्रा करे, उस समय वह विविध स्थानों में अपनी सामर्थ्य के अनुसार दान दे। कुछ दान ऐसे भी हैं जो दिखलायी नहीं देते फिर भी उनको देने का विधान है जैसे अभयदान, प्राणदान, क्षमादान, ज्ञानदान आदि। शास्त्रों में १६ प्रकार के महादानों का उल्लेख प्राप्त होता है। सामर्थ्यवान् व्यक्ति इन दानों का देकर भी जरूरतमंद व्यक्तियों की मदद कर सकता है। दान के लिये यह विशेष निर्देश दिये गये हैं कि दान देश, काल और परिस्थिति के अनुसार आवश्यकतानुसार ही दिये जायें। दान के इस सदोपदेश से दाता ग्रहीता को देय वस्तु देकर उसका कल्याण करता है। इसमें दाता की समृद्धि का पता लगता है तथा उसकी उदार भावनाओं का मूल्याकंन भी आसानी से हो जाता है। समस्त जीव एक दूसरे पर आश्रित हैं और जीव विशिष्ट धार्मिक चुम्बकीय शक्ति से एक दूसरे से जुड़ा हुआ है इसलिये दान देना एक नैतिक कर्तव्य के साथ-साथ पुरुषार्थ से जुड़ा हुआ धार्मिक कृत्य भी है।

धर्मोपदेशों में कुछ ऐसे भी उपदेश हैं जिसमें दानदाता को यह निर्देश दिया गया है कि वह कुपात्र, अयोग्य, अक्षम्य, दुराचारी और दान के धन का दुरुपयोग करने वाले को दान न दे। जिन व्यक्तियों को दान की आवश्यकता नहीं है और जो पहले से ही धनी हैं तथा जो दान लेकर दाता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित नहीं करते उन्हें दान देने के लिये मना किया गया है। धर्म ग्रन्थों में दान के उदाहरण तो बहुत उपलब्ध होते हैं किन्तु कुछ दानों की प्रशंसा नहीं की जा सकती जैसे राजा हरिश्चन्द्र का सर्वस्व दान, ययाति का अपनी पुत्री का दान, वशिष्ठ द्वारा सूर्य की पुत्री तपती का वासना सन्तुष्टि के लिये दिया गया दान आदि। धर्मोपदेश में कई ऐसे भी दान प्रकरण उपलब्ध होते हैं जिन्हें दान दाता ने अनिच्छापूर्वक दिया है ऐसे वाग्दानों में राजा दशरथ द्वारा विश्वामित्र को अपने पुत्रों का दान शामिल है। दान उपदेशों का दुरुपयोग भी बहुत अधिक हुआ। धर्मस्थलों एवं तीर्थस्थानों में दाता की धार्मिक भावनाओं का बेजा लाभ उठाया गया तथा उनसे धन एकत्रित करके उस धन का दुरुपयोग किया गया। दानोपदेश से ही सामन्तवाद तथा पूँजीवाद का उदय हुआ। उपदेश से प्रभावित दानदाताओं ने ग्रहीताओं के गुणों-अवगुणों पर भी ध्यान नहीं दिया। इन उपदेशों ने भिखारियों की एक बड़ी सेना खड़ी कर दी जो दान से ही जीविकोपार्जन करते हैं।

२. दान-क्रिया- व्यक्ति जब किसी सिद्धान्त से प्रभावित होता है और उसे अपने मस्तिष्क की प्रयोगशाला में कस लेता है, उस समय वह उसे कार्य रूप में परिणित करता है इस प्रक्रिया में वैदिक सिद्धान्त, मन्त्र, तंत्र और यंत्र लागू होता है। हम मंत्र को धर्मोपदेश के रूप में ग्रहण करते हैं। तंत्र के माध्यम से हम उस मंत्र को अपने प्रयत्नों से कार्य रूप में ढालते हैं और यंत्र के माध यम से प्रयोग के प्रमाण को ग्रहण करते हैं। जब दान का महात्म्य किसी ग्रन्थ में वर्णित होता है

उस समय वह केवल दान का मंत्र होता है और जब दान किसी दाता द्वारा किसी विशिष्ट विधि से याचक अथवा ग्रहीता को दिया जाता है उस समय वह तंत्र में परिणित हो जाता है। जब दाता अथवा याचक को दान के परिणामस्वरूप प्रतिष्ठा, यश, कीर्ति और उत्तम गति की प्राप्ति होती है तो वह यंत्र में बदल जाता है इस प्रकार से यह दान क्रिया, सिद्धान्त, व्यवहार और व्यावहारिक क्रिया के परिणाम पर आधारित है। दान क्रिया में दाता धर्म ग्रन्थों में वर्णित दान उपदेशों को क्रिया में परिणित करता है अर्थात् दान देता है।

दान-क्रिया में देश काल और परिस्थिति का महत्व- जब कोई व्यक्ति दान देने को उत्सुक होता है या दान क्रिया को करना चाहता है उस समय वह यह देखता है कि वह स्थान कौन सा है जहाँ दान दिया जाना है वह कौन सा देश है और कौन सा स्थल है? यदि व्यक्ति किसी तीर्थस्थान में है तो उसे दान-क्रिया वहाँ की परम्पराओं के अनुसार करनी पड़ती है। यदि कोई धार्मिक स्थल है तो उस स्थल में दान-क्रिया करते समय यह देखना होगा कि धार्मिक स्थल किस धर्म से सम्बन्धित है तथा वहाँ कौन सा देवता स्थापित है वहाँ की पूजा पद्धति के अनुसार दान-क्रिया सम्पन्न करनी होती है। यदि स्थल कोई यज्ञशाला है तो वहाँ दान की क्रिया आचार्य के निर्देशों के अनुसार करनी पड़ती है यदि दाता स्वतः यज्ञ का प्रयोजक है तो उसे आचार्यों, यज्ञकर्ताओं और पुरोहितों को दान के साथ दक्षिणा भी देनी पड़ती है। यदि दान स्थल जन्मोत्सव, विवाहोत्सव एवं अन्त्येष्टि से सम्बन्धित है तो वहाँ दान क्रिया तद्नुसार करनी पड़ती है।

दानक्रिया को सम्पन्न करते समय काल(समय) का भी विशेष ध्यान रखा जाता है। पूरे दिवस को चार पहर और आठ यामों में विभक्त किया जाता है इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण समय पल, घटी, मुहूर्त, पक्ष मास और वर्ष में विभाजित है। इसी प्रकार मनुष्य की आयु भी कालक्रमानुसार चार भागों में विभाजित है तथा इस विभाजित आयु में विभिन्न प्रकार के संस्कार सम्पन्न होते है। जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी १६ संस्कार कालक्रमों में विभाजित हैं, इन संस्कारों में जन्म, नामकरण, उपनयन, विवाह और अन्त्येष्टि में दान क्रियायें सम्पन्न होती हैं। गृहस्थाश्रम के बोझ को ढोने वाला व्यक्ति पुरुषार्थ की भावना से प्रेरित होकर पंच महायज्ञों का आयोजन करता है। इन महायज्ञों में भी वह दान क्रिया करता है इसके अतिरिक्त भी वह समयानुसार घर में और घर से बाहर यात्रा आदि के समय दानक्रिया करता है। इस तरह दान क्रिया समयानुसार ही की जाती है।

दानक्रिया में दाता और ग्रहीता दोनों की परिस्थितियों का विशेष महत्व है। यदि दाता राजा अथवा सामन्त है तो वह अपने सामर्थ्य के अनुसार भूमि, धन, वस्त्र, रत्न आदि कुछ भी दान दे सकता है। यदि दाता सामान्य व्यक्ति है तो वह अपनी हैसियत के अनुसार दानक्रिया सम्पन्न करेगा। इसी प्रकार दान दाता ग्रहीता की परिस्थिति से भी प्रभावित होता है यदि ग्रहीता योग्य, चरित्रवान, संस्कारिक व्यक्ति है तथा सन्तोषी है तो दान दाता उससे अधिक प्रभावित होकर दान क्रिया करेगा, यदि ग्रहीता अथवा याचक लोभी, चरित्रहीन, अयोग्य व्यक्ति है तो दानदाता उसके लिये दान क्रिया आसानी से नहीं करेगा। विशेष परिस्थितियों में दाता किसी भी ग्रहीता को दान क्रिया के

माध्यम से सन्तुष्ट करता है। कभी-कभी ऐसी विशेष परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि दाता याचक को इच्छानुसार क्षमादान, प्राणदान, अभयदान, कामदान आदि देकर दान क्रिया सम्पन्न करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि परिस्थिति का दान-क्रिया पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

दान के उद्देश्य (दान-क्रिया के परिप्रेक्ष्य में)- कोई भी दान दाता जब किसी व्यक्ति को दान देता है तो उसके हृदय में कुछ ऐसे उद्देश्य या मनोरथ होते हैं जिन्हें वह दान के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है। राजा-महाराजा सामन्त तथा पूँजीपति केवल एक ही उद्देश्य से दान देते है कि दान के माध्यम से उनकी यश प्रतिष्ठा में वृद्धि हो, इसलिये वे महादानों का आयोजन करते हैं, यज्ञों का आयोजन करते हैं तथा अन्य धार्मिक कार्य सम्पन्न करते हैं। धर्मस्थल तथा जलाशयों का निर्माण कराते हैं इनसे उन्हें चिरकालिक मान, प्रतिष्ठा और यश की प्राप्ति होती है। उनका धन गतिशील बनता है तथा उन्हें निर्बल वर्ग का समर्थन प्राप्त होता है। सामान्य व्यक्ति धार्मिक एवं सामाजिक मर्यादाओं का पालन करने के लिये दान क्रिया को इच्छा या अनिच्छा से सम्पन्न करता है। इस दान क्रिया से वह अपयश की भागी नहीं बनता। उत्तम गति, पुण्यफल तथा देवताओं को प्रसन्न रखने के लिये भी वह दान क्रिया सम्पन्न करता है। ग्रहीता भी उद्देश्य विशेष से दान प्राप्त करना चाहते हैं। दान उनके लिये जीविकोपार्जन का साधन है। दान से उन्हें अनायाश भूमि, वस्त्र, अन्न, गाय आदि वस्तुयें प्राप्त होती है। इसके लिये ग्रहीता केवल अपने गुण तथा आर्थिक दशा से दाता को प्रभावित करता है इसके यिये वह कोई विशेष परिश्रम या उद्योग नहीं करता। दाता पुत्र, पौत्र, गृह ऐश्वर्य, धर्मार्थ, कीर्ति विद्या, सौभाग्य, आरोग्य सर्वपापशान्ति, स्वर्गार्थ और मुक्ति प्राप्त करने के लिये दान देता है।

दान देने की विधि- भारतीय धर्मशास्त्रों में दान देने की विधि का उल्लेख किया गया है इसमें दाता और ग्रहीता स्नान करके पवित्र धवल (श्वेत) वस्त्र धारण करते हैं इसके पश्चात दाता को आचमन करके ग्रहीता द्वारा पावती पहनाई जाती है। इसके पश्चात् दाता पूर्व की ओर मुँह करके यज्ञोपवीत पहनकर पवित्र कुशासन पर बैठता है इसके पश्चात् ग्रहीता उत्तर की ओर मुँह करके बैठता है फिर वह दान में दी जाने वाली वस्तु का नाम, उसके देवता का नाम, दान देने का उद्देश्य, दाता के मुँह से कहलवाता है और दाता ग्रहीता से कहता है कि मै अमुक पदार्थ आपको दान कर रहा हूँ। इसके पश्चात् ग्रहीता दाता के हाथ में जल गिराता है। इसके पश्चात् ग्रहीता कहता है दीजिये, तब दाता देय पदार्थ पर जल छिड़ककर उसे ग्रहीता को दे देता है इसके पश्चात् ग्रहीता 'ॐ' कहकर स्वस्ति का उच्चारण करता है। इसके उपरान्त ग्रहीता को दक्षिणा भी दी जाती है।

''पुत्रपौत्रगृहैश्वर्यपत्नीधर्मार्थसद्गुणाः। कीर्तिविद्यामहाकाम-सौभाग्यारोग्यवृद्धये।
सर्वपापोपशान्त्यर्थ स्वर्गार्थ भुक्तिमुक्तये। एतत्तुभ्यं संप्रददे प्रीयतां में हरिःशिवः।।[६३]

इस प्रकार धर्म से सम्बन्धित दान देने की क्रिया सम्पन्न होती है।

३. दान-फल- मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह बिना किसी प्रलोभन के कोई कार्य नहीं

करता। यदि उसे प्रत्यक्ष में लाभ प्राप्त न हो तो परोक्ष में उसे लाभ प्राप्त होना ही चाहिये। यदि देखा जाय तो दान दाता को दान देने से कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं प्राप्त होता बल्कि ऐसा करने से उसकी आर्थिक हानि होती है किन्तु वह परोक्ष लाभ की आशा करके दान देता है जबकि ग्रहीता को दान से प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ होता है। बुद्धिजीवियों ने अपनी बुद्धि चातुर्य से धर्म का एक भय दाता के सम्मुख प्रस्तुत किया और कहा कि उसका लक्ष्य जनकल्याण अथवा पुरुषार्थ करना है यह उसका वास्तविक धर्म है तथा दाता को भयभीत करने के लिये उसने पुण्य और पाप की दो भावनायें उत्पन्न कीं, उसने अच्छे कार्यों तथा दान को पुण्य की भावना से जोड़ा तथा दुष्कर्म और कटुता को पाप के साथ जोड़ा तथा यह समझानें का प्रयत्न किया कि पुण्य करने वाला यशस्वी, सर्वसमर्थित और प्रशंसा का पात्र बनता है तथा पाप करने वाला सर्वत्र निन्दा का पात्र बनता है इसीलिये धन हरण, चोरी, डकैती, हिंसा करने वालों को पापी माना जाता है। और वह सर्वत्र निन्दा का पात्र होता है। इसलिये दाता दान को पुण्य का कार्य समझकर करता है। इसी भावना के अन्तर्गत बुद्धिजीवियों और धर्मशास्त्रियों ने दो लोकों की भी कल्पना कर डाली, उनके मंतानुसार अच्छे कर्म करने वाला व्यक्ति और दान-पुण्य करने वाला व्यक्ति स्वर्गगामी होता है जहाँ का राजा इन्द्र है मृत्यु उपरान्त यहाँ जीव को किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं भोगना पड़ता। अनेक महान दानी मृत्यु के उपरान्त स्वर्गगामी हुये। जो व्यक्ति दान नहीं करता और पाप करता है, वह यमराज द्वारा मृत्यु होने पर नरक में भेजा जाता है जहाँ उसे भीषण कष्ट उठाने पड़ते हैं। अनेक ग्रन्थों में विविध प्रकार के लोक और विविध प्रकार के नरकों का वर्णन प्राप्त होता है। इसलिये दान दाता यह सोंचता है कि किसी भी प्रकार उसे नरक न जाना पड़े। मृत्यु के उपरान्त वह या तो स्वर्गगामी हो या उसे मोक्ष प्राप्त हो। वह बार-बार जन्म लेकर चौरासी लाख योनियों का कष्ट नहीं भोगना चाहता। जिस मनुष्य योनि को वह भोग रहा है वहाँ भी वह पूर्ण सुख और सन्तोष की प्राप्ति नहीं कर पाता इसलिये वह दान देकर और धर्माचरण के माध्यम से आत्मसन्तुष्टि प्राप्त करता है। वह विभिन्न वस्तुओं का दान देकर अपना इहलोक और परलोक सुधारता है। दान दी जानेवाली वस्तुयें और उनका फल निम्नवत हैं-

१. भूमिदान- धर्म के अनुसार भूमिदान करना अतिश्रेष्ठ माना गया है। भूमि ग्रहीता को तुरन्त और भविष्य में लाभ पहुँचाती है तथा धार्मिक ग्रन्थों में इसे श्रेष्ठ दान की संज्ञा दी जाती है और इसका फल भी बहुत उत्तम बतलाया गया है।

"मामेवादत्त मां दत्त मां दत्वा मामवाप्स्यथ। अस्मिँल्लोके परे चैव तद् दत्तं जायते पुनः।।"[६४]

अर्थात् पृथ्वी कहती है- मुझे ही दान दो, मुझे ही ग्रहण करो। मुझे देकर ही मुझे पाओगे। क्योंकि मनुष्य इसलोक में जो कुछ दान करता है, वही उसे इहलोक और परलोक में भी प्राप्त होता है।

२. गोदान- प्रायः सभी धर्मग्रन्थों में गोदान की महिमा गायी गयी है गाय भौतिक दृष्टि से भी ग्रहीता के लिये अनेक प्रकार से उपयोगी है जैसे गाय से ग्रहीता को दूध की प्राप्ति होती है, गाय

के बछड़े बड़े होकर कृषि कार्यों में सहयोग देने वाले होते हैं। त्वचा, रोम, सींग पूँछ के बाल, दूध और मेदा आदि के साथ मिलकर गौ (दूध,घी,दही आदि के द्वारा) यज्ञ का निर्वाह करती है, अतः गाय से श्रेष्ठ दूसरी कोई वस्तु नहीं है। गाय में भी कपिला गौ के दान को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। महाभारत में कहा गया है कि जो बड़े-बड़े सींगो वाली कपिला धेनु को वस्त्र ओढ़ाकर उसे बछड़े और काँसे की दोहनी सहित ब्राह्मण को दान करता है, वह मनुष्य यमराज की दुर्गम सभा में निर्भय होकर प्रवेश करता है।

''धेनुं सवत्सां कपिलां भूरिश्रृंगी, कांस्योपदोहां वासनोत्तरीयाम्।
प्रदाय तां गाहति दुर्विगाह्मां, याभ्यां सभां वीतभयो मनुष्यः।।''[६५]

महाभारत में ही गोदान का फल बताते हुये कहा गया है कि 'गौयें देवताओं से भी ऊपर के लोकों में निवास करती है जो मनीषी पुरुष इनका दान करते हैं वे अपने आपको तारते हैं और स्वर्ग में जाते हैं।

''देवानामुपरिष्टाच्च गावः प्रतिवसन्ति वै। दत्वा चैतास्तारयन्ते यान्ति स्वर्ग मनीषिणः।।[६६]

३. अन्नदान- दान में अन्नदान का भी विशेष महत्व है। अन्न से व्यक्तियों का जीवन निर्वाह होता है, अन्न से ही व्यक्ति की बुद्धि का विकास होता है तथा उसके शरीर को शक्ति मिलती है। अन्नदान करने वाला व्यक्ति देवताओं से सम्मानित होकर स्वर्गलोक में निवास करता है। अन्नदान में केवल अन्न अथवा अन्न से बनी हुयी वस्तुएं शामिल होती हैं।

''दत्वां त्वन्नं नरोलोके तथा स्थानमनुत्तमम। नित्यं मिष्टान्नदायी तु स्वर्गे वसति सत्कृतः।।''[६७]

अर्थात् जो मनुष्य इस लोक में सदा अन्न, उत्तम स्थान और मिष्ठान का दान करता है वह देवताओं से सम्मानित होकर स्वर्गलोक में निवास करता है।

४. स्वर्णदान- धर्मशास्त्रों में स्वर्ण दान का विशेष महत्व मिलता है क्योंकि स्वर्ण एक प्रकार से प्रत्यक्ष की मुद्रा है व्यक्ति इसे बेंचकर अपनी मनोकामनाऐं पूर्ण कर लेते हैं। स्वर्णदान अति पवित्र दान है इससे दाता की आयु बढ़ती है और दाता के पितरों को अक्षय गति की प्राप्ति होती है।

''सर्वान कामान् प्रयच्छन्ति ये प्रयच्छन्ति कांचनम्। इत्येवं भगवानत्रिः पितामह सुतोऽब्रवीत्।।
पवित्रमथ चायुष्यं पितृणामक्षयं च तत्। सुवर्णं मनुजेन्द्रेण हरिश्चन्द्रेण कीर्तितम्।।''[६८]

अर्थात् ब्रह्माजी के पुत्र भगवान अत्रि का प्राचीन वचन है कि जो स्वर्ण का दान करते हैं वे मानो याचक की सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण कर देते हैं। राजा हरिश्चन्द्र ने कहा है कि स्वर्ण परमपवित्र, आयु बढ़ाने वाला अैर पितरों को अक्षय गति प्रदान करने वाला है।

५. जलदान- मानव जीवन के लिये जल बड़ी उपयोगी वस्तु है। इससे मनुष्य को जीवनदान मिलता है तथा यंह जल कृषि कार्यो के लिये भी उपयोगी है, इससे गौ, ब्राह्मण, देवता तथा अन्य पशु पक्षी लाभ उठाते हैं।

''पानीयं परमं दानं दानानां मनुरब्रवीत। तस्मात् कूपांश्च वापीश्च तडागानि च खानयेत।।
सर्वं तारयते वंशं यस्य खाते जलाशये। गावः पिबन्ति विप्राश्च साधवश्च नराः सदा।।''[६९]

मनुजी ने कहा है कि 'जल का दान सब दानों से बढ़कर है। इसलिये कुयें, बावड़ी और पोखरे खुदवाने चाहिये। जिसके खुदवाये हुये जलाशय में गौ, ब्राह्मण तथा श्रेष्ठ पुरुष, सदा जल पीते हैं वह जलाशय उस मनुष्य के समूचे कुल का उद्धार कर देता है।

६. वस्त्रदान– धर्मशास्त्रों के अनुसार वस्त्र दान में देना बहुत उत्तम है इससे व्यक्ति की नग्नता ढकती है तथ उसे सम्मान की प्राप्ति होती है इसलिये जो व्यक्ति वस्त्र का दान करता है वह श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है तथा उत्तम लोक में निवास करता है।

''वाससां सम्प्रदानेन स्वदारनिरतो नरः। सुवस्त्रश्च सुवेषश्च भवतीत्यनुशुश्रुम।।''[१००]

अर्थात् जो मनुष्य अपनी ही स्त्री में अनुराग रखता हुआ वस्त्रदान करता है। वह सुन्दर वस्त्र और मनोहर वेषभूषा से सम्पन्न होता है- ऐसा हमने सुन रखा है।

७. जूतादान– शास्त्रों में यह उल्लेख मिलता है कि जो बुद्धिजीवी धार्मिक अनुष्ठान करते हैं उनके लिये जूते का दान भी श्रेष्ठ है क्योंकि जूते उनके पैरों को सुरक्षा प्रदान करते हैं। काँटों और कंकणों से पैरों को कोई कष्ट नहीं होता तथा वे तेज धूप और मार्ग के ताप से भी व्यक्तियों की रक्षा करते हैं। इसलिये जूतादान करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ फल को प्राप्त करता है।

''उपानहौ प्रयच्छेद् यो ब्राह्मणेभ्यः समाहितः। मर्दते कष्टकान् सर्वान् विषमान्निस्तरत्यपि।।
स शत्रूणामुपरि च संतिष्ठति युधिष्ठिर यानं। चाश्वतरीयुक्तं तस्य शुभ्रं विशाम्पते।।''[१०१]

अर्थात् जो एकाग्रचित्त होकर ब्राह्मणों के लिये जूते दान करता है वह सब कंटको को मसल डालता है और कठिन विपत्ति से भी पार हो जाता है इतना ही नहीं वह शत्रुओं के ऊपर विराजमान होता है। उसे जन्मान्तर में खच्चरियों से जुता हुआ उज्जवल रथ प्राप्त होता है।

८. शकट (बैलगाड़ी) दान– शास्त्रों में शकटदान का भी उल्लेख मिलता है। प्राचीनकाल में सामान्य व्यक्ति के लिये आवागमन का यही साधन था। व्यक्ति इसमें बैल जोतकर अपने सामान को और परिवार सहित अपने आप को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाता था इसलिये बैलगाड़ी के दान को उत्तम दान माना गया हैं तथा इसके दान का फल भी उत्तम है।

''उपतिष्ठति कौन्तेय रौप्यकांचनभूषितम्। शकटं दम्यसंयुक्तं दत्तं भवति चैव हि।।''[१०२]

अर्थात् जो नये बैलों से युक्त शकट दान करता है उसे चाँदी और सोने से जटित रथ प्राप्त होता है।

९. तिलदान– धर्मशास्त्रों में तिल, जिसको पेरने से उत्तम कोटि के तेल की प्राप्ति होती है, का दान भी श्रेष्ठ माना गया है। तिल ब्रह्माजी के द्वारा पैदा किये गये हैं। ये पितरों के रुचिकर खाद्य पदार्थ हैं, जो व्यक्ति तिल का दान करता है वह समस्त जन्तुओं से भरे हुये नरक का दर्शन कभी नहीं करता।

''पितृणां परमं भोज्यं तिलाः सृष्टाः स्वयम्भुवा। तिलदानेन वैतस्मात् पित्रपक्षः प्रमोदते।।
माघमासे तिलान् यस्तु ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति। सर्वसत्वसमाकीर्णि नरकं स न पश्यति।।''[१०३]

अर्थात् ब्रह्माजी ने जो तिल उत्पन्न किये हैं वे पितरों के सर्वश्रेष्ठ खाद्य पदार्थ हैं।

इसलिये तिलदान करने से पितरों को बड़ी प्रसन्नता होती है। जो माघ मास में ब्राह्मणों को तिलदान करता है। वह समस्त जन्तुओं से भरे हुये नरक का दर्शन नहीं करता।

१०. दीपदान– जो व्यक्ति धर्मशास्त्र का अनुसरण करता हुआ दीप का दान करता है वह संसार में व्याप्त अन्धकार को दूर करने में सहयोग प्रदान करता है इसलिये दीपदान भी उत्तम दान माना गया है। दीपदान करने से पितरों का उद्धार होता है।

"तथा प्रशंसते दीपान् यमः पितृहितेप्सया। तस्माद् दीपप्रदो नित्यं संतारयति वै पितृन्।।"[१०४]

अर्थात पितरों के हित की इच्छा से यमराज दीपदान की प्रशंसा करते है, अतः प्रतिदिन दीपदान करनेवाला मनुष्य पितरों का उद्धार कर देता है।

११. रत्नदान– शास्त्रों में रत्न दान की भी प्रशंसा की गयी है। रत्नों से व्यक्ति जहाँ एक ओर आर्थिक समृद्धि प्राप्त करता है वहीं वह रत्नों को आभूषणों में जड़वाकर शारीरिक सौन्दर्य में भी वृद्धि करता है। यदि कोई ब्राह्मण रत्न, दान में प्राप्त करता है और वह उन्हें बेंचकर पुण्यलाभ करता है अथवा जो ब्राह्मण रत्न दान में पाकर उन्हें दूसरे ब्राह्मणों को बाँट देता है। उसे अक्षय पुण्य का फल प्राप्त होता हैं।

"यद् वै ददाति विप्रेभ्यो ब्राह्मणः प्रतिगृह्य वै। उभयोः स्यात् तदक्षयं दातुरादातुरेव च।।"[१०५]

अर्थात् जो ब्राह्मण किसी दाता से रत्नों का दान लेकर स्वयं भी उसे ब्राह्मणों को बाँट देता है तो उस दान के देने और लेने वाले दोनों को अक्षय पुण्य प्राप्त होता है।

१२. छातादान– शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि जो व्यक्ति धूप और वर्षा से बचाने के लिये छाता का दान करता है वह लक्ष्मी प्राप्त करता है, उसके नेत्रों में कोई रोग नहीं होता और उसे यज्ञ का भाग मिलता है। यथा–

"पुत्रांछियं च लभते यश्छत्रं सम्प्रयच्छति। न चक्षुर्व्याधि लभते यज्ञभागमथाश्नुते।।"[१०६]

१३. समिधादान– शास्त्रों में यह उल्लेख मिलता है कि जो व्यक्ति यज्ञ आदि कार्यो के लिये और भोजन पकाने के लिये लकड़िया दान में देता है उसकी समस्त मनोकामनायें पूर्ण होती है। उसका शरीर तेजस्वी हो जाता है उससे अग्निदेव प्रसन्न रहते हैं, वह संग्राम में सदैव विजयी रहता है। यथा–

"य्रः साधनार्थं काष्ठानि ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति। प्रतापनार्थ राजेन्द्र वृत्तवभ्दयः सदा नरः।।
सिद्धयन्त्यर्थाः सदा तस्य कार्याणि विविधानि च। उपर्णुपरि शत्रुणां वसुषा दीप्यते च सः।।
भगवांश्चापि सम्प्रीतो वहिनर्भवति नित्यशः। न तं त्यजन्ति पशवः संग्रामें च जयत्यपि।।"[१०७]

धर्म से सम्बद्ध जिन वस्तुओं की दान की चर्चा की गयी है उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव उपयोगी वस्तुयें उन व्यक्तियों को जो धन से कमजोर हैं तथा जो मानवमात्र की सेवा करते हैं, दान में दी जा सकती हैं और यह दान धर्मसम्मत है।

१४. श्राद्धदान– जब किसी भी पारिवारिक व्यक्ति का निधन हो जाता है उस समय उसी परिवार का ऐसा व्यक्ति जो पिण्डदान करने का अधिकारी है, वह श्राद्ध कर्म सम्पन्न करता है और

पिण्डदान करता है। यह पिण्डदान शास्त्र विधि के अनुसार हाथ में नहीं लिया जाता। यह कुशा के ऊपर किया जाता है। यह पिण्डदान पितरों को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होता है। श्राद्ध में ही स्वर्णदान, भूमिदान और गोदान भी करने का विधान है।[१०८] श्राद्ध कर्म में पहले पितरों की पूजा की जाती है, बाद में देवताओं की पूजा की जाती है। श्राद्ध शास्त्रीय विधि से किये जाने का विधान है। पितृपक्ष में प्रतिपदा से लेकर अमावस्या तक श्राद्ध कर्म श्रेष्ठ माने गये हैं। केवल चतुर्दशी को श्राद्ध नहीं करना चाहिये।[१०६]

धर्मदान फल का विश्लेषण– जो व्यक्ति धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर दान करता है अथवा जो केवल परम्परा और कुल मर्यादा के अनुपालन के लिये धर्मदान करता है तथा वह व्यक्ति जो धर्म की भावना से प्रेरित ही नहीं है, केवल निज स्वार्थ साधन के लिये जीवित है तथा कभी-कभी लज्जा, ईर्ष्या और दिखावे की भावना से दान करता है उन्हें पुण्य और पाप की दृष्टि से तीन प्रकार की गतियाँ प्राप्त होती हैं।

१. उत्तम गति– जो व्यक्ति वास्तविक मानव धर्म पर विश्वास करता है तथा दया, करुणा और सहयोग की भावना से प्रभावित है उस व्यक्ति को दान का फल उत्तम गति प्रदान करने वाला होता है क्योंकि वह बिना किसी स्वार्थ के बड़ी ही श्रद्धा के साथ अपने द्वारा अर्जित धन जनकल्याण के लिये दान में देता है और दिये गये दान के लिये किसी प्रकार का प्रायश्चित नहीं करता, वह उत्तम गति को प्राप्त होता है।

"दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणें। देशेकाले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्।।"[११०]

अर्थात् जो दान कर्तव्य समझकर, किसी प्रत्युपकार की आशा के बिना, समुचित काल तथा स्थान में और योग्य व्यक्ति को दिया जाता है वह सात्विक माना जाता है।

२. मध्यम गति– अनेक दानदाता जो दान देने पर आस्था तो नहीं रखते किन्तु वे कुल की मर्यादा तथा परम्पराओं का निर्वाह करने के लिये दान देते हैं तथा कभी-कभी वह अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये भी दान देते हैं, दान की यह कोटि मध्यमा फल को प्रदान करने वाली है।

"यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य व पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम।।"[१११]

अर्थात् जो दान प्रत्युपकार की भावना से या कर्मफल की इच्छा से या अनिच्छापूर्वक दिया जाता है वह रजोगुणी(राजस) कहलाता है।

३. अधोगति– अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जो दान देना ही नहीं चाहते तथा यदि दान देते भी हैं तो ईर्ष्यावश या अहं से प्रेरित होकर दान देते हैं जो धन उन्होंने पाप से कमाया है अथवां किसी माध्यम से दूसरे का धन हरण किया है, वह धन यदि दान में दिया जाता है तो उससे किसी प्रकार का पुण्यलाभ नहीं होता, वह दाता और ग्रहीता दोनों को धर्म संकट में डालता है। यदि धन उत्तम कोटि का ही है और परिश्रम से कमाया गया है तो भी यदि ग्रहीता चरित्रहीन है, भ्रष्ट है, मूर्ख है, मादक पदार्थों का सेवन करता है, परस्त्रीगामी है तथा दान के धन का दुरुपयोग करता है तो भी दाता को दान का कोई फल नहीं प्राप्त होता है और वह अधोगति को प्राप्त होता है।

"अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।"[११२]

अर्थात जो दान किसी अपवित्र स्थान में , अनुचित समय में किसी अयोग्य व्यक्ति को या बिना समुचित ध्यान तथा आदर से दिया जाता है वह तामसी कहलाता है।

दान देने से उत्पन्न प्रतिक्रिया या प्रतिफल दानदाता और ग्रहीता को तत्काल अथवा निकट भविष्य में प्राप्त हो जाता है क्योंकि व्यक्ति दान के प्रतिफल को इसी जीवन में देखना चाहता है। मृत्यु के उपरान्त उसकी क्या गति होगी वह स्वतः नहीं जानता। स्वर्ग और नरक केवल परिकल्पना पर आधारित हैं किन्तु ये हैं भी या नहीं, यह कोई नहीं जानता। जब वह जीवन के समस्त कर्मों का फल यहीं भोगता है उस समय वह यह भी चाहता है कि दान का पुण्यफल उसे यहीं प्राप्त हो जो उसे यश कीर्ति और प्रतिष्ठा के रूप में मिलता है। यदि ग्रहीता दानदाता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता है तो भी वह दान का ही फल है।

दान की समीक्षा– धार्मिक दृष्टिकोण से यदि दिये गये दान की समीक्षा की जाय तो यह ज्ञात होता है कि जहाँ दान वसुधैव कुटुम्बकम की भावना को प्रचारित प्रसारित करता है और सामर्थ्यवान व्यक्तियों को बाध्य करता है कि वे उन व्यक्तियों की दीनदशा देखें जो साधन के अभाव और विकलांगता के कारण कष्ट भोग रहे हैं, उनकी भी सहायता आवश्यक है। उन्होंने संसार में जन्म लेकर कोई गुनाह नहीं किया। वे भी दानदाता की तरह परमात्मा की सन्तानें हैं, यदि परमात्मा ने दानदाता को आर्थिक सम्पन्नता प्रदान की है तो उनके हृदय में दया और करुणा की भावना भी दी है इसलिये वे परमात्मा द्वारा निर्मित अन्य जीवों को सहयोग प्रदान करें। इसलिये धार्मिक भावना से प्रेरित होकर दान देना नैतिक कर्तव्य है और उसे दिया जाना चाहिये।

किन्तु दान की धार्मिक भावना ने कुछ गलत परम्पराओं को भी जन्म दिया है। धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के अंधविश्वास उत्पन्न हो गये हैं तथा जो ग्रहीता बहुत चालाक है वह सीधे-साधे दानदाता को अंधविश्वास के जाल में फांस लेता है। ये ग्रहीतागण नेष्ट ग्रहों की शान्ति के लिये यज्ञादि कराने पर जोर देते हैं और मनगढ़न्त नियमों के अनुसार दानदाता का धन प्राप्त करने में लगे रहते हैं। जो लोग भूत-प्रेतों आदि पर विश्वास करते हैं तथा किसी भी प्रकार की मानसिक बीमारी को प्रेत बाधा मानकर झाड़ते फूँकते हैं वे भी दानदाता का आर्थिक शोषण करते हैं जबकि वास्तविकता यह है कि मृत्यु के बाद व्यक्ति की प्रेत योनि परिकल्पना मात्र है। फिर भी समाज में व्याप्त इस अंधविश्वास को वह मानने के लिये बाध्य हैं।

इसी प्रकार धर्म के नाम पर ठगी का व्यवसाय पिछले २००० वर्षो से खूब फलफूल रहा है। नये-नये ग्रामदेवता खोज लिये गये हैं तथा नाना प्रकार की वेशभूषा बनाकर ठग एवं बनावटी साधु-संत धर्म के नाम पर ठगते देखे जाते हैं। व्यक्ति के बनावटी उपदेशों तथा चमत्कारिक क्रिया-कलापों से व्यक्ति प्रभावित होता है। बहुधा देखा गया है कि धर्म स्थलों में किसी को देवी सवार हो जाती हैं तो किसी को कालभैरव या बरम देवता आ जाते हैं उस समय वह जो नाटक सार्वजनिक रूप से करता है उससे दाता भयभीत हो जाता है और यह सोंचता है कि कहीं ये आसुरी

शक्तियाँ उसके ऊपर सवार न हो जाये इसलिये वह उनका कहना मानकर दान करता है। नवरात्रि आदि पर साँग छेदना, जवारा बोना, देवी का आना आदि ठगी के खेल तमाशे देखे जाते हैं ये तमाशे तीर्थस्थलों एवं धार्मिक स्थलों में पण्डों और पुजारियों द्वारा बहुत किये जाते हैं। यहाँ पर दानदाताओं को जबरन डरा धमकाकर धन वसूला जाता है। धार्मिक स्थलों में, सरिताओं के तट पर, जहाँ पिण्डदान, मुन्डन आदि कर्म सम्पन्न होते हैं वहाँ एक गाय प्रतिदिन १०० बार बेची जाती है और प्रतिदिन १०० बार दान में ली जाती है। इसीप्रकार तिरुपति बाला जी में केशदान और स्वर्णदान बड़े ही नाटकीय ढंग से दाताओं से कराया जाता है।

सच पूँछा जाय तो परमात्मा और देवता तथा पृथ्वी संसार के प्राणियों को सब कुछ देते हैं वह किसी से कुछ लेते नही हैं कोई भी दानदाता सामर्थ्यवान को कुछ दे नहीं सकता सिर्फ उनके प्रति कृतज्ञता ही ज्ञापित की जा सकती है क्योंकि वे हमारे पूर्वज हैं किन्तु उन्हें दान देकर उनका अपमान करना हमारा भी नैतिक कर्तव्य नहीं है। केवल आर्थिक दृष्टि से कमजोर और शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति ही वास्तविक दान के पात्र हैं।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. ऋग्वेद, १, १८७, १।

२. वही, १०, ६२, २।

३. वही, १०, २१, ३।

४. अथर्ववेद, ६, ५१, ३।

५. वही, ६, ६, १७।

६. ऐतरेय ब्राह्मण, ७, १७।

७. छान्दोग्य उपनिषद, २, २३।

८. गौतम धर्मसूत्र, १६, १ के व्याख्याता हरदत्त तथा मनुस्मृति, २, २५ के व्याख्याता गोविन्दराज ने भी धर्म के ये ही पाँच प्रकार बताये हैं।

६. पूर्वमीमांसासूत्र, १, १, २।

१०. वैशेषिकसूत्र।

११. महाभारत, अनुशासनपर्व, ११५, १।

१२. वही, वनपर्व, ३७३, ७६।

१३. मनुस्मृति, १, १०८।

१४. ऐन एलीमेण्ट ऑफ एक्सिसटेन्स आई०ई० ऑफ मैटर, माइन्ड एण्ड फोर्स, वाइड डॉ० स्टचेरबैटस्काईज् मोनोग्राफ ऑन दि सेन्ट्रल कान्सेप्सन ऑफ बुद्धिज्म, १६२३, पृष्ठ ७३।

१५. गौतम धर्मसूत्र, १, १, २।

१६. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १, १, १, २।

१७. वसिष्ठ धर्मसूत्र, १, ४, ६।

१८. मनुस्मृति, २, ६।

१६. याज्ञवल्क्य स्मृति, १, ७।

२०. ऋग्वेद, १०, १०७, २।

२१. वही, १०, ११७, ६।

२२. कठोपनिषद, १, २२३; १, ३, ७।

२३. ऋग्वेद, १, ७३, ७; २, ३, ५; ६, ६७, १५; ६, १०४, ४; ६, १०५, ४; १०, १२४, ७।

२४. मनुस्मृति, ४, १; ६, ८७।

२५. स्मृतिचन्द्रिका।

२६. वामनपुराण, १४, २३।

२७. अथर्ववेद, ७, १०२।

२८. स्मृतिमुक्ताफल, आह्निक, पृष्ठ २२०।

२९. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १२, ६।
३०. शंख स्मृति, ८, १-११।
३१. पराशर स्मृति, १२, ६-११।
३२. विष्णु धर्मसूत्र, ६४, २३-२४।
३३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २, २, ४, २२-२३।
३४. स्मृतिमुक्ताफल, आह्निक, पृष्ठ २६२-३१०।
३५. गोभिल स्मृति, १, १२३।
३६. मनुस्मृति, २, ८५-८६।
३७. वही, ४, १५२; गृहस्थ रत्नाकर, पृष्ठ १८३।
३८. शतपथ ब्राह्मण, ११, ५, ६, ७।
३९. जे०आर०ए०एस०, १९२८, पृष्ठ १५२३।
४०. वाराहमिहिर, बृहत्संहिता, अध्याय ५८।
४१. मत्स्य पुराण, अध्याय २५८-६४।
४२. अग्नि पुराण, ४४, ५३।
४३. विष्णुधर्मोत्तर, ३, ४४।
४४. मत्स्य पुराण, २५८, २२।
४५. विष्णु धर्मसूत्र, ६६, २; ६६, ४।
४६. हेमाद्रि, चतुर्वर्गचिन्तामणि, जिल्द २, भाग १, पृष्ठ २४२।
४७. तैत्तिरीय संहिता, ४, ५, १-११।
४८. आश्वलायन गृह्यसूत्र, ४, ६, १६।
४९. नित्याचार पद्धति, पृष्ठ ५५६।
५०. तैत्तिरीय आरण्यक, १०, १८।
५१. केन उपनिषद, ३, २५।
५२. महाभारत, विराटपर्व, ६; भीष्मपर्व, २३।
५३. एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ९, पृष्ठ १८९।
५४. कृत्यरत्नाकर, पृष्ठ ३५१।
५५. भागवत पुराण, ११, २७, ७।
५६. वैखानस गृह्यसूत्र, ८, ५।
५७. स्मृत्यर्थसार, पृष्ठ ४७।
५८. पराशर माधवीय, १, १, पृष्ठ ३८९।
५९. मनुस्मृति, ५, ४।
६०. स्मृति चन्द्रिका, १, पृष्ठ २२२।

६१. मनुस्मृति, ५, ६-२४।

६२. इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ४०, पृष्ठ ३७-४०।

६३. केर्न, एच०, दि इंस्कृप्सन्स ऑफ जुनार, पृष्ठ ४०; ग्राउस, एफ०एस०, मथुरा इंस्कृप्सन्स, पृष्ठ २१८।

६४. भगवद्गीता, ३, ८-१०।

६५. काणे, पाण्डुरंग वामन, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, तृतीय संस्करण, लखनऊ, १६८०, पृष्ठ ३।

६६. ईश्वरीप्रसाद एवं शर्मा, शैलेन्द्र, प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म, दर्शन, पंचम संस्करण, इलाहाबाद, १६६०, पृष्ठ ४६-४६।

६७. ऋग्वेद, १, १६८, ४६।

६८. स्तम्भ अभिलेख-७।

६६. विस्तृत अध्ययन के लिये दृष्टव्य- बाशम, ए०एल०, दि आजीविकाज्।

७०. बराबर गुहालेख-३।

७१. डेविड्स, रिज, बुद्धिस्ट इंण्डिया, पृष्ठ १४३; दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ ४५०।

७२. उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, द्वितीय खण्ड।

७३. मानसार, १०, १०१-३; १५, २६५-६६; ३०८।

७४. "कान्यकुब्ज में हर्ष द्वारा आयोजित धार्मिक सभा में ह्वेनसाँग और उसके प्रतिस्पर्धियों में काफी कटुता हो गयी थी"- विस्तृत अध्ययन के लिये दृष्टव्य- वाटर्स, ह्वेनसाँग का यात्रा वर्णन भाग १, पृष्ठ १५३; बील, १, पृष्ठ ७७।

७५. दृष्टव्य- मधुवन और बंशखेरा ताम्रपत्र अभिलेख।

७६. विस्तृत वर्णन के लिये देखिये- ह्वेनसाँग की जीवनी, पृष्ठ १८३-८७।

७७. महाभारत, उद्योगपर्व, ३५, ५६।

७८. ऋग्वेद, १०, ११७, १-६।

७६. वही, १०, ११७, १।

८०. मनुस्मृति, १, ८६।

८१. नाथ, विजय, दान : गिफ्ट सिस्टम इन ऐंसिएन्ट इण्डिया, दिल्ली, १६८७, पृष्ठ ६।

८२. चौधरी, राधाकृष्ण, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, चतुर्थ संस्करण, पटना, १६७७, पृष्ठ ५५७।

८३. भगवद्गीता, ३, ५।

८४. वही, ३, ८।

८५. वही, ३, २१।

८६. महाभारत, अनुशासनपर्व, १२०, १६।

८७. वही, ५८, २०।

८८. ऋग्वेद, १०, ११७, १-६; १, १२५; १, १२६-३१, ५; ५, ६१; ६, ४७, २२-२५; ७, १८, २२-२५; ८, ५, ३७-३६; ८, ६, ४६-४८; ८, ४६, २१-२४; ८, ६८, १४-१६।

८६. अग्नि पुराण, अध्याय २०८-१५ एवं २१७; मत्स्य पुराण, अध्याय ८२-६१ एवं २७४-८६; वाराह पुराण, अध्याय ६६-१११; स्कन्द पुराण, अध्याय २३-२४।

६०. ऐतरेय ब्राह्मण, ३६, ६-७; शतपथ ब्राह्मण, २, २, १०, ६।

६१. बृहदारण्यक उपनिषद, ५, २, ३; छान्दोग्य उपनिषद, ४, २, ४-५।

६२. मनुस्मृति, १, ८६; ३, ७८; १०, ८६।

६३. अग्नि पुराण, २०६, ५६-६१।

६४. महाभारत, अनुशासनपर्व, ६२, ३५।

६५. वही, ८०, ११।

६६. वही, ८१, ४।

६७. वही, ६३, २४।

६८. वही, ६५, १-२।

६६. वही, ६५, ३-५।

१००. काणे, पाण्डुरंग वामन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ४६८; महाभारत, अनुशासनपर्व, ६८, ३२।

१०१. महाभारत, अनुशासनपर्व, ६६, २-३।

१०२. वही, ६६, ४।

१०३. वही, ६६, ७-८।

१०४. वही, ६८, २७।

१०५. वही, ६८, ३०।

१०६. वही, ६५, १७।

१०७. वही, ६५, १४-१६।

१०८. वही, ८४, १-४०।

१०६. वही, ८७, १-१६।

११०. भगवद्गीता, १७, २०।

१११. वही, १७, २१।

११२. वही, १७, २२।

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

यह संसार एक विचित्र कृति है जिसे परिकल्पित परमात्मा ने पंचतत्वों के सहयोग से सृजित किया तथा इसमें भू-भाग, जल-भाग और आकाश-भाग सृजित किये तथा नाना प्रकार के जलचर, भूमिचर, नभचर जीवों की रचना की, पूरे विश्व को कालतंत्र से बाँध दिया। जीव को कर्मशील और क्रियाशील बनाने के लिये एक शक्तिशाली संबल नेत्र और बुद्धि प्रदान की तथा इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सम्पूर्ण पृथ्वी को धन-धान्य, वनस्पतियों, खनिजों और रत्नों से परिपूर्ण कर दिया तथा जीव को यह समर्थता प्रदान की कि वह भूगर्भ में छिपे हुये पदार्थों को खोजे और उनका उपभोग करे। समस्त जीवों में मानव जाति कुशाग्रबुद्धि और अत्यन्त कर्मशील निकली, उसने सहयोग और बुद्धि बल से एक सभ्यता और संस्कृति को जन्म दिया तथा अनेक व्यावहारिक कर्तव्यों कों भी जन्म दिया जो आगे चलक़र धर्म के नाम से विख्यात हुये तथा इस धर्म से एक सहयोग की भावना का जन्म हुआ जिसे हम दान के नाम से जानते हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार इस भू-लोक और इस लोक में जीवों की उत्पत्ति परमाणुओं के संयोजन से हुयी किन्तु अभी तक यह स्पष्ट नहीं हो पाया कि जीव उत्पत्ति की प्रक्रिया बीज के अभाव में किस तरह हुयी और मानव बीज कहाँ से आया? परिकल्पित सत्य यह है कि प्रारम्भ में उभयलैंगिक प्राणियों का जन्म हुआ और इसके पश्चात् जीव शुक्राणु नर और मादा के रूप में पृथक हुये। ऋषियों के अनुसार यह पृथ्वी अंधकार से आच्छादित थी, धीरे-धीरे प्रकाश की उत्पत्ति सूर्य आदि ग्रहों के माध्यम से हुयी, उसके बाद जीव पैदा हुआ। मानव सभ्यता का शुभारम्भ अति मंद गति से हुआ किन्तु समूह में रहने के कारण सहयोग की भावना का उदय हुआ। मानव विकास का शुभारम्भ पाषाण युग से प्रारम्भ होता है तथा विकास की यात्रा आखेट युग, चारागाह युग और कृषि युग तक पहुँची। जब व्यक्ति एक स्थान पर निवास करने लगा तो उसके मस्तिष्क में ज्ञान का उदय हुआ, उसने अभिव्यक्ति के लिये भाषा का निर्माण किया तथा स्वानुभूत और परानुभूत के माध्यम से ज्ञान अर्जित किया।

ज्ञान के उदय के साथ धर्म का उदय एवं विकास हुआ। लोगों ने यह समझा कि समस्त प्राणियों में आत्मा का निवास है। परमात्मा इन जीवों का पिता है तथा प्रत्येक जीव की आत्मा उससे सम्बन्धित है। वेदादि ग्रन्थों में धर्म का विश्लेषण किया गया है तथा मानव जीवन के लिये पुरुषार्थ की कल्पना की गयी है। मनुष्यों के लिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की परिकल्पना की गयी और पुरुषार्थ के माध्यम से ही मानव जीवन के आदर्शों को प्राप्त करने का सुझाव दिया गया। पुरुषार्थ की भावना से ही दान का उदय हुआ। व्यक्ति अपने जीवन को सुखी बनाने के लिये, वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वस्तु और धन का संचय करता था। इसी समय उसको धर्म के माध्यम से यह निर्देशित किया गया कि वह अपने अतिरिक्त उन प्राणियों को कुछ आर्थिक सहयोग प्रदान करे जिन्हें आर्थिक सहयोग की आवश्यकता है और जो विपत्ति में हैं। आर्यों के

सन्दर्भ में हमें जानकारी वेदों से प्राप्त होती है। वेदों में विविध वस्तुओं को दान में देने का विधान मिलता है, इस समय स्वर्ण, गाय, अन्न, वस्त्र आदि दान में देने की प्रथा थी। आर्य लोग दो प्रकार के देवों को मानते थे प्रथम देव स्वर्ग के देवता थे और द्वितीय देव मानव देवता थे। व्यक्ति अपने उत्थान के लिये योग, होम और दान का सहारा लेता था। यह दान सुपात्र याचक के लिये आर्थिक सहयोग था। वेदों में दान की महिमा वर्णित है। जो व्यक्ति धर्म पर विश्वास करता था, वह दान भी अवश्य देता था। दान के पश्चात् दक्षिणा देने का प्राविधान था। व्यक्ति अति प्रसन्न मुद्रा में दान देता था और ग्रहीता उसको ग्रहण करता था। विविध पुराणों में दान का उल्लेख किया गया है। कूर्म पुराण में दान का विश्लेषण किया गया है तथा दान के पश्चात् दक्षिणा के महत्व को भी दर्शाया गया है। दक्षिणा के माध्यम से दानदाता को दान का फल प्राप्त होता था। संसाधन सम्पन्न व्यक्ति ही वास्तविक दानदाता था किन्तु दानदाता को धन देनेवाला परमात्मा और देवतागण तथा रत्नगर्मा पृथ्वी थी। देवताओं में इन्द्र, विष्णु, लक्ष्मी, शक्ति, रुद्र, गणपति, सूर्य, अग्नि, यम, पितर और माता-पिता मुख्य देवता थे। इन्हीं के माध्यम से दानदाता धन प्राप्त करता था। दानदाताओं में राजा का स्थान प्रमुख था। राजा दानग्रहीता भी था। इसी प्रकार मित्र दानदाता और ग्रहीता दोनों ही था। यजमान दानदाता था, वह याचकों, पुरोहितों, पुजारियों आदि को धन देता था, इसके अतिरिक्त वह जलाशय निर्माण, धर्मस्थल निर्माण के लिये भी दान देता था। वह निर्बल व्यक्तियों तथा राष्ट्र को भी दानदेता था। दान के कई पर्याय भी थे जैसे वरदान, भेंट, त्याग और समर्पण, बलिदान, कर, प्रेम एवं उत्सर्ग आदि। इनका उपयोग अलग-अलग उद्देश्य से होता था।

महाकाव्यों के अन्तर्गत वाल्मीकि कृत रामायण तथा महर्षि वेदव्यास कृत महाभारत नामक ग्रन्थ आते हैं। रामायण की वर्तमान प्रति में सात काण्ड हैं तथा कुल चौबीस हजार श्लोक है जबकि महाभारत में १६२३ अध्याय, ६६२४४ श्लोक, १८ पर्व और १०० पर्वाध्याय हैं। इन दोनों ही ग्रन्थों के कुछ अंश प्रक्षिप्त हैं। इन्हीं प्रक्षिप्त अंशों के कारण इनके आकार में वृद्धि हो गयी है। मूल रामायण की रचना बुद्ध के जन्म से पहले अर्थात् लगभग ६०० ई.पू. में हुयी थी। रामायण का वर्तमान रूप लगभग २०० ई.पू. तक बन चुका था। जबकि मूल महाभारत (जय) की रचना रामायण की रचना के बाद अर्थात् लगभग ६०० ई.पू. के बाद हुयी थी महाभारत का वर्तमान रूप लगभग ई.पू. दूसरी शताब्दी तक बन चुका था। रामायण और महाभारत दोनों ही ग्रन्थों में दान के प्रसंग उपलब्ध होते हैं लेकिन महाभारत में दान के प्रसंग अधिक मिलते हैं। महाभारत के अनुशासन पर्व का दान-धर्म नामक खण्ड दान पर विशेष रूप से प्रकाश डालता है। रामायण में दान की निम्नलिखित कोटियाँ मिलती है- ज्ञानदान, पुरस्कारदान, महादान, मिश्रितदान, कन्यादान, आयुधदान, भूमिदान, जलदान, अन्नदान, गोदान, हर्षदान, कामदान, अन्त्येष्टिसंस्कारदान, धर्मदान, अभयदान, फलदान, वस्तुदान, भयदान आदि। महाभारत में दान की निम्नलिखित कोटियाँ मिलती हैं- वाग्दान, धनदान, दक्षिणादान, ज्ञानदान, कामदान, सर्वस्वदान, मिश्रितदान, कन्यादन, वस्तुदान, अन्त्येष्टिसंस्कारदान, अभयदान, भूमिदान, गोदान, प्राणदान, शरीरदान, हर्षदान, मानवदान,

महादान आदि।

दान का स्वरूप और उसकी श्रेणी दाता, ग्रहीता तथा दान के उद्देश्य पर निर्भर करती थी। सतयुग में तप, त्रेतायुग में ज्ञान, द्वापर युग में यज्ञ और कलियुग में दान के महत्व को स्वीकारा गया है। पद्म पुराण, पराशर स्मृति, लिंगपुराण, भविष्य पुराण, मत्स्य पुराण, अग्निपुराण, हेमाद्रि कृत दानखण्ड एवं दानसागर, दानवाक्यावलि, दानमयूख, दानक्रिया कौमुदी आदि ग्रन्थों में दान के महत्व को बढ़ा-चढ़ा कर दर्शाया गया है। याचना करने पर भी जो दान नहीं देता उसकी निन्दा वेदादि ग्रन्थों में की गयी है। दान की अवधारणा का उदय हमारे मस्तिष्क से हुआ है। समस्याग्रस्त और आपत्ति में फंसे हुये व्यक्ति के प्रति हमारे हृदय में दया, करुणा तथा परहित की भावना जन्म लेती है। व्यक्ति यह सोंचता है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन तो सभी प्राणियों में एक समान है किन्तु मनुष्य परहित अथवा धर्म से ही पहचाना जाता है यदि वह मानवीय भावना से नहीं भी प्रेरित होता तो भी उसे वचनबद्धता के कारण दान देना पड़ता है। कभी-कभी वर्चस्व और प्रतिष्ठा को बचाने के लिये तथा दूसरे व्यक्ति से प्रतिस्पर्द्धा रखने के कारण दान देना पड़ता है।

दान देनेवाला व्यक्ति सामर्थ्यवान माना जाता है। कोई भी व्यक्ति दान तभी देगा जब उसके पास संसाधन होगें। जब उसके हृदय में दान के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा उसके पास वे वस्तुयें उपलब्ध हैं जो वह दान में देना चाहता है तो वह निजी इच्छाशक्ति के अनुसार दान दे सकता है, इसलिये व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति और गरिमा के अनुसार दान देता है। व्यक्ति की पहचान उसकी आत्मा और बुद्धि के अनुसार होती है ठीक उसी प्रकार दान की पहचान दान की प्रकृति पर निर्भर है। यह दान ध्रुव दान, त्रिकदान, काम्यदान, नैमित्तिकदान (कालापेक्ष, क्रियापेक्ष, गुणापेक्ष) के नाम से विख्यात हैं। दान का दूसरा विभाजन दान में दी जाने वाली वस्तुओं पर आधारित है इन्हें उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ कोटि के दान के नाम से जाना जाता है। दान की कुछ अन्य कोटियाँ भी पुराणों और धर्मशास्त्रों में प्राप्त होती हैं, ये दान धर्मदान, अर्थदान, कामदान, लज्जादान, हर्षदान और भयदान के नाम से विख्यात हैं तथा कुछ दान निन्दनीय दान हैं इनका विभाजन आसुरदान, राक्षसदान तथा पैशाचदान के नाम से किया जाता है। दान की एक और कोटि देशकाल और परिस्थिति के अनुसार निर्धारित की गयी है ये दान संस्कार दान (जन्म, जन्मोत्सव, नामकरण, चौलकर्म, विद्यारंभ, समावर्तन, विवाह, अन्त्येष्टि), सामाजिक कार्यो में दिया जाने वाला दान, धार्मिक कार्यो में दिया जाने वाला दान (धर्मस्थल निर्माण, तीज त्योहारों में दिया जानेवाला दान, तीर्थस्थल में दिया जाने वाला दान) आदि नामों से विख्यात है। व्यक्ति में जो गुण विद्यमान हैं उन गुणों के अनुसार भी दान का विभाजन किया गया है ये दान सतोगुण से प्रभावित दान, रजोगुण से प्रभावित दान तथा तमोगुण से प्रभावित दान के नाम से विख्यात हैं। दान में दी जाने वाली वस्तुओं की कोटि के आधार पर भी दान का निर्धारण किया जा सकता है ये दान भूमिदान, महादान, (तुलादान, हिरण्यगर्भ, कल्पपादप, गोसहस्त्र, कामधेनु, हिरण्याश्व, हिरण्याश्वरथ, हेमहस्तिरथ,

पंचलांगलक, धरादान या हैमधरादान, विश्वचक्र, महाकल्पलता, सप्तसागरक, रत्न धेनु, महाभूतघट दान) गोदान, धेनुदान, पर्वतदान, पशुओं, वस्त्रों, मृगचर्म तथा प्रपा का दान, पुस्तकदान, ग्रहशान्ति के लिये दान, स्वास्थ्य रक्षा के लिये दान, अप्रमाणिक दान और ज्ञान दान के नाम से विख्यात हैं। इसके अतिरिक्त अन्नदान, वस्त्रदान, द्रव्यदान, सर्वस्वदान, प्राणदान, क्षमादान और मनोरथदान भी दान की कोटि में आते हैं।

दान की कोटियों के अतिरिक्त दानदाता की आर्थिक स्थिति और उसके गुणों पर दान निर्भर करता है। दानदाता ग्रहीता का आदर करने वाला, सदाचारी और मृदुभाषी होना चाहिये। यदि वह ऐसा नहीं है तो वह उत्तम कोटि का दानदाता नहीं हो सकता। दानदाता को निरोग, धर्मात्मा, दान देने की इच्छा रखने वाला, व्यसन रहित, पवित्र, तथा अनिन्दनीय कर्म से जीविका चलाने वाला होना चाहिये। दानदाता को भावुक और क्रोधी भी नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार प्रतिग्रहीता को भी कुछ मानवीय गुणों से युक्त होना चाहिये। उसे विद्वान, संयमी, वेदों का ज्ञाता और धर्मज्ञ होना चाहिये। दान में देय वस्तुओं का महत्वपूर्ण स्थान है शास्त्रों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें दान दाताओं ने पृथ्वी तथा प्राण भी दान में दिये हैं। कोई भी उपयोगी वस्तु दान में दी जा सकती है। यहाँ दान को परिसीमित भी किया गया है जिन वस्तुओं पर हमारा अधिकार नहीं है वे वस्तुएं दान में नहीं दी जा सकतीं। अश्वदान प्रत्येक यज्ञ के लिये स्वीकृत नहीं है, गहन (रेहन) रखी हुयी सम्पत्ति भी दान में नहीं दी जा सकती। उधार में ली गयी सामग्री, ट्रस्ट, संयुक्त सम्पत्ति, किसी व्यक्ति का जमा धन, पुत्र एवं पत्नी के होते हुये अपनी पूरी सम्पत्ति और दूसरों को पहले से दिया हुआ पदार्थ, दूसरों को दान में नहीं दिया जा सकता। कुछ प्रतिबन्ध याचकों पर भी लगाया गया है। याचक वर्जित वस्तुओं का दान ग्रहण न करे। जैसे दो दन्त पंक्तियों वाले पशु, अस्त्र-शस्त्र, आदि। अविद्वान ब्राह्मण को स्वर्ण, भूमि, अश्व, गाय, भोजन, वस्त्र आदि का दान देना वर्जित है। भेड़, अश्व, रत्न, तिल, हाथी और लोहे का दान तथा मृगचर्म ग्रहण न करे। वह बीमार पशु तथा व्यर्थ की वस्तुयें भी दान में न ले। केवल श्रद्धा से दिया हुआ धन ही स्वीकार किया जाना चाहिये।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी दान सदैव महत्वपूर्ण रहा। सतयुग, त्रेता, द्वापर, और कलियुग चारो युगों में दान का महत्व रहा है। पाषाण युग से लेकर सिन्धु घाटी की सभ्यता तक दान की भावना विद्यमान थी, यद्यपि उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं था। वैदिक युग में दान के महत्व को ग्रहण किया गया। बौद्ध युग में भी दान की महत्ता को स्वीकार किया गया। मौर्य काल में सम्राट चन्द्रगुप्त से लेकर अशोक महान के शासन काल तक दान का समादर था। मौर्य काल से लेकर पाँचवीं शताब्दी तक दान की भावना का और अधिक विकास हुआ। जब मूर्ति पूजा का विकास हुआ और विविध प्रकार के धार्मिक स्थलों का निर्माण हुआ, उस समय दान की भावना का सर्वाधिक विकास हुआ तथा लोगों ने श्रद्ध के साथ दान दिया। राजपूत काल में भी दान का महत्व कम नहीं हुआ। अनेक राजपूत राजाओं ने धर्मस्थलों का निर्माण कराया तथा इन्हें अनेक प्रकार के दान दिये। विश्वप्रसिद्ध अनेक धर्मस्थल राजपूत काल के हैं।

हमारे धार्मिक ग्रन्थों में वाल्मीकि रामायण और महाभारत का महत्वपूर्ण स्थान है। वाल्मीकि रामायण प्राचीनतम काव्य ग्रन्थ है जिसकी रचना महर्षि वाल्मीकि ने की थी इसमें रामकथा और परवर्ती नरेशों का विवरण विस्तार से प्राप्त होता है। राम कथा में उन आदर्शों का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है जो मानव जीवन के आदर्शों को प्रस्तुत करते हैं, इस ग्रन्थ के मूल ग्रन्थ को ऐतिहासिक दृष्टि से बुद्ध के जन्म से पहले अर्थात ६०० ई०पू० की रचना माना जाता है जबकि इसके वर्तमान रूप को लगभग २०० ई० के आसपास का रचित बताया जाता है। वाल्मीकि को हम कविता का जनक भी मानते हैं और रामकथा का सृजेता भी। इस ग्रन्थ में अनेक ऐसी घटनायें हैं जिनका सम्बन्ध दान से है, इस ग्रन्थ में दानों का विवरण यज्ञों, जन्मोत्सव, विवाह, अन्त्येष्टि क्रियाओं आदि में प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में वाग्दान, कन्यादान, प्राणदान, क्षमादान तथा ज्ञान दान के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं इस ग्रन्थ में उन राजाओं का भी वर्णन है जो अपने समय के महान दाता थे। कुल मिलाकर वाल्मीकि रामायण के ३६ प्रसंग दान से सम्बन्धित हैं इनमें दाता, ग्रहीता, देयवस्तु तथा दान की कोटि निर्धारित की गयी है। दान के ये प्रसंग दानोपदेश, दानक्रिया और दानफल से सम्बन्धित हैं।

वाल्मीकि रामायण के बाद महाभारत एक दूसरा प्रसिद्ध और सबसे बड़ा महाकाव्य है, इसके रचयिता महर्षि वेदव्यास हैं, इसमें कुरुवंश की उत्पत्ति, कौरव-पाण्डवों के बीच उत्पन्न होने वाली कटुता, और उनके मध्य होने वाले युद्ध का वर्णन है। इस ग्रथ में कुल मिलाकर १००००० श्लोक हैं। मूल महाभारत (जय) की रचना रामायण के बाद अर्थात लगभग ६०० ई०पू० के बाद हुयी थी। महाभारत का वर्तमान रुप लगभग ई०पू० दूसरी शताब्दी तक बन चुका था जबकि कुछ विद्वान इसका वर्तमान स्वरूप लगभग ४४५ई० के पास का निर्मित बताते हैं। इस ग्रन्थ में आदि, सभा, वन, विराट, उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शान्ति, अनुशासन, अश्वमेध, आश्रमवासी, मौसल, महाप्रस्थानिक, स्वर्गारोहण आदि १८ पर्व हैं। इस ग्रन्थ में दान के अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं, कुल मिलाकर महाभारत के ६२ प्रसंग दान से सम्बन्धित हैं। इन प्रसंगों में सभी प्रकार के दानों का उल्लेख है, इनमें दाता, ग्रहीता, देय वस्तु तथा दान की कोटि की सविस्तार चर्चा है। ७००० पृष्ठ के इस महाकाव्य में दान प्रसंगो को बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। रचनाकार ने दान को धर्म से सम्बन्धित माना है तथा उन व्यक्तियों का उल्लेख अति विशिष्ट सन्दर्भ में किया है जो दान के कारण चिरकाल के लिये यशस्वी बन गये।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे समूह में रहना बहुत पसन्द है। समूह की इस भावना ने ही उसे जीने का ढंग सिखाया और व्यावहारिक ज्ञान दिया। कालान्तर में ये व्यावहारिक क्रियायें सभ्यता और संस्कृति के रुप में परिणत हो गयी। यदि हम वैदिक काल पर दृष्टि डालें तो हम देखते हैं कि इस युग में समाज चार वर्णों में विभाजित था जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के नाम से विख्यात थे। यह वर्ण व्यवस्था पहले कर्म पर आधारित थी कालान्तर में यह जन्म पर आधारित हो गयी। इसी प्रकार मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन चार आश्रमों में विभक्त था। ये आश्रम

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्यास के नाम से विख्यात थे। उत्तर वैदिककाल में इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन हुआ। इसके पूर्व कोई व्यक्ति अपना वर्ण परिवर्तित कर सकता था किन्तु बाद में इसमें प्रतिबंध लगा, तथा जातीय बंधन वंश के अनुसार होने के साथ-साथ अति कठोर भी हो गये। बौद्धकाल में जातीय बंधन कठोर थे। ब्राह्मणों का समाज में बोलबाला था इस व्यवस्था के विरोध में जन आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जिसने बौद्ध धर्म और जैन धर्म को जन्म दिया। मौर्यकाल में भी जातीय बन्धन कठोर थे। मौर्योत्तर काल में अनेक विदेशी जातियों को भी हिन्दूवादी संस्कृति में मिला लिया गया। गुप्त काल में जातीय बंधन कठोर अवश्य थे किन्तु व्यक्ति विशेष परिस्थितियों में जाति परिवर्तन कर सकता था। कभी-कभी जीविकोपार्जन के लिये व्यक्ति दूसरे का व्यवसाय अपना लेता था। शूद्रों की सामाजिक स्थिति कोई विशेष अच्छी नहीं थी। भारतीय समाज की संस्कृति अन्य संस्कृतियों से भिन्न थी इसमें समन्वय की भावना थी जिसके कारण अनेक विदेशी भारतीय समाज में घुल-मिल गये। भारतीय समाज में दासों का भी अस्तित्व था ये लोग उच्च्व वर्ग और नरेशों की सेवा किया करते थे। इस समाज में संस्कारों को विशेष महत्व दिया जाता था। समाज के लोग गर्भाधान, सीमन्तोनयन, जातकर्म, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्ण, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि संस्कार का अनुसरण करते थे। इस समय समाज में दो वर्ग थे इसमें प्रथम वर्ग साधन सम्पन्न अथवा सम्भ्रान्त वर्ग था, द्वितीय वर्ग साधन हीन एवं कमजोर वर्ग था। द्वितीय वर्ग में बुद्धिजीवी, श्रमजीवी वर्ग शामिल थे इनके पास साधन की कमी, बुद्धि की कमी, आलस्य और प्रोत्साहन की कमी थी इसी स्थिति के कारण समाज में दान की भावना का उदय हुआ और साधन सम्पन्न को यह सुझाव दिया गया कि वह बुद्धिजीवियों का संरक्षण करे, कला और संस्कृति को प्रोत्साहन दे, धर्म को प्रोत्साहन दे तथा मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाकर वह कमजोर वर्ग को सहायता प्रदान करें। इसलिये इस वर्ग के लोगों ने सामाजिक प्रतिष्ठा की आकांक्षा और यश लाभ के लिये दान देने की बात सोंची। ग्रहीता ने भी अपनी शिक्षा को संरक्षण प्रदान करने के लिये, कला संस्कृति को बनाये रखने के लिये, अपने जीविकोपार्जन के लिये, विशेष परिस्थितियों में दान की याचना की। दान दाताओं ने इन्हें दान भी दिया। दानदाताओं की उदारता का दुरुपयोग भी हुआ। दान का धन गलत व्यक्तियों के हाथ में लगा इसलिये दान पर आधारित जातियों का उदय हुआ। आलस्य और श्रम न करने की भावनायें पनपीं और मिथ्याचार आडम्बर और अंधविश्वास का उदय हुआ जिसके कारण दान अपने आदर्श उद्देश्य से भटककर गलत लोगों की जेब में चला गया।

प्रत्येक व्यक्ति को जीवनयापन के लिये धन का सहारा लेना पड़ता है यह धन, चल और अचल सम्पत्ति के रूप में व्यक्ति प्राप्त करता है। सिन्धु घाटी की सभ्यता से लेकर पूर्व वैदिककाल की सभ्यता तक व्यक्ति कृषि, व्यवसाय अथवा सेवा के माध्यम से यह धन अर्जित करते थे। व्यक्ति ग्राम एवं नगर में रहकर अपने-अपने व्यवसाय करते थे। उत्तर वैदिककाल में आर्थिक प्रगति हुयी तथा लोगों ने पशुपालन पर भी जोर दिया। महाकाव्यकाल में भी उत्तर वैदिककाल जैसी स्थिति रही

किन्तु भूमि के असमान बँटवारे के कारण बड़ा कृषक धनाढ्य और छोटा कृषक गरीब हो गया तथा अन्य लोग व्यवसाय के माध्यम से धन अर्जित करते रहे। बौद्धकाल में भी धन के मुख्य स्त्रोत कृषि, व्यवसाय और घरेलू उद्योग रहे। इसके अतिरिक्त ज्योतिषी, वैद्य, नट, वधिक, नाविक, संगीतज्ञ और नर्तक अपनी कला और श्रम से धन अर्जित करते रहे। मौर्यकाल में आर्थिक स्थिति का विस्तार एवं व्यवसाय का विस्तार हुआ तथा विदेशों में भी हमारा आर्थिक अस्तित्व विकसित हुआ। व्यवसाय के माध्यम से विदेशी धन भारत आया। गुप्तयुग में हमारी आर्थिक समृद्धि बढ़ी, व्यवसाय बढ़ा, जिससे यह स्वर्णयुग के नाम से विख्यात हुआ लेकिन गुप्तकाल में ही सामन्तवादी अर्थव्यवस्था का उदय हुआ, जो विदेशी यात्री यहाँ आये उन्होने भारत की आर्थिक स्थिति की प्रशंसा की है। इस समय हमारा विदेशी व्यापार चरमोत्कर्ष पर था। आर्थिक विषमता और उदारता दोनों के कारण सामन्तवाद का उदय हुआ। तद्‌युगीन सम्राटों ने अपने अधीन सम्राटों को उस क्षेत्र का स्वामी तथा लगान वसूल करने के अधिकार प्रदान कर दिये, इसके आर्थिक शोषण हुआ। कुछ महन्त भी दान की भूमि और धन पाकर सामन्त हो गये। उन्हे भूमि पर अधिकार मिला तथा साथ में राजस्व वसूली का अधिकार भी मिला। इससे भूमि और राज्य टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित हो गया। जबरन कर वसूलने के कारण कृषक और व्यवसायी दोनों की स्थिति में बिगाड़ आया।

इस युग में दानदाताओं के आर्थिक स्त्रोत काफी मजबूत थे। उन्हें सम्पत्ति, उत्तराधिकार, राजस्व, कर वसूली, उपहार आदि से प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त जिस भूक्षेत्र को वह युद्ध में जीतते थे उसकी भी सम्पत्ति उन्हें प्राप्त होती थी। सामन्तों के पास निजी कृषि योग्य भूमि होती थी, उन्हें बहुत सी सम्पत्ति विशिष्ट अवसरों पर उपहार से भी प्राप्त हो जाती थी इसके अतिरिक्त व्यवसाय से भी उन्हें कर के रूप में धन प्राप्त हो जाता था। इसलिये वे संचित धन का सदुपयोग करने के उद्‌देश्य से दान देने की बात सोंचते थे उनका अनुमान था कि धन दान से पूँजी की गतिशीलता बढ़ती है। जनकल्याण के लिये धन खर्च करने से उनकी लोकप्रियता, मान-सम्मान, प्रतिष्ठा तथा यश में वृद्धि होती है वे अपनी आर्थिक समृद्धता दिखाने के लिये दान देते थे। ग्रहीताओं को इस दान से अत्यधिक आर्थिक लाभ होता था। उन्हें भूमि, गाय, अन्न, जल, स्वर्ण आदि वस्तुयें दान के रूप में प्राप्त होती थी। आर्थिक दृष्टि से ग्रहीता को ही अधिक लाभ होता था तथा दाता को केवल पुण्यलाभ होता था और परलोक में उत्तम गति के प्रलोभन से वह यह दान देता रहता था। वास्तविक रूप में दान गरीबों के लिये एक ऐसा आर्थिक सहयोग था जो निर्धन वर्ग की आपत्ति काल में सहायता करता था।

धर्म, संस्कृति का व्यावहारिक स्वरूप है जो हमें दिखलायी देती है इसके अतिरिक्त धर्म की कोई भी निश्चित सर्वमान्य परिभाषा प्राप्त नहीं होती। यदि हम यह माने कि जो धारण किया जाय वह धर्म है तो सवाल यह उठता है कि क्या धारण किया जाय? इसलिये धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित नैतिक कर्तव्यों को धारण करना ही धर्म है। स्मृति ग्रन्थों के अनुसार धर्म, वर्ण, आश्रम, वर्णाश्रम, नैमित्तिक और गुण धर्म के रूप में विभाजित है। धर्म में सत्य बोलना, धर्म का आचरण

करना और अहिंसा को मुख्य धर्म माना गया है। स्मृतिकारों ने वेद, वेदाङ्गा, परम्परा एवं व्यवहार, साधुओं का आचार तथा आत्मसन्तुष्टि को धर्म के अंग माना है। इसके अतिरिक्त होम अथवा यज्ञ को भी धर्म की संज्ञा दी गयी है। होम के पश्चात् जप पर जोर दिया गया। धर्मशास्त्रों के अनुसार जप, मंत्र का उच्चारण करके अथवा मौन धारण करके किया जा सकता है। मंगल वस्तुओं का दर्शन करना भी धर्म का अंग है। व्यक्तियों के लिये पाँच प्रकार के यज्ञ करना धर्म माना गया है ये यज्ञ भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, एवं ब्रह्मयज्ञ के नाम से विख्यात हैं। धर्म के अन्तर्गत ईश्वर एवं देव उपासना को धार्मिक कार्य माना गया है। विविध प्रकार के देवों की उपासना करके व्यक्ति धर्म में आस्था रख सकता है, यदि उसकी आस्था मूर्तिपूजा में है तो वह उसे भी अपना सकता है। देवताओं में विष्णु शिव, दुर्गा, सूर्य गणेश आदि देव पूज्यनीय हैं। शुभ मुहूर्त में कार्य करना तथा धर्माचरण करना धार्मिक कार्य समझा जाता है, इस धर्माचरण के अन्तर्गत देव उपासना, धार्मिक स्थलों का निर्माण, मूर्ति स्थापना, धार्मिक कृत्यों का अनुसरण, यज्ञ आदि करना, धार्मिक ग्रन्थों का श्रवण, पठन-पाठन तथा पुरुषार्थ के लिये दान आदि देना धार्मिक कार्य माने गये हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इतिहास जहाँ प्राचीन गतिविधियों का यथार्थ रूप अपने दर्पण में प्रस्तुत करता है वहीं यह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों को अपने में समाहित किये है। धर्म का अर्थ यदि धारण करना से ले तो इसका सीधा अर्थ सहारा देना और पालन करना भी होता है। धर्म हमारे आध्यात्मिक पक्ष, लौकिक आचारों-विचारों और राजनीति को भी नियंत्रित करता है। जिस परम्परा का निर्माण धर्म श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों और अन्य धार्मिक ग्रन्थों ने किया है उसी को हमने सांस्कृतिक परम्परा और धर्म माना है। इसके अन्तर्गत सत्य, अहिंसा, सम्यक् आचरण, विश्वासनीय मानवीय गुण, जीवजगत, आत्मा और परमात्मा से सम्बन्धित विषय धर्म के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

सिन्धु घाटी की सभ्यता के समय में भी धर्म था इस समय शिव-शक्ति, नाग, पशु, वृक्ष आदि की पूजा की जाती थी। मातृदेवी की भी उपासना होती थी तथा बलि देने की प्रथा थी। वैदिकयुग में भी इन्द्र, विष्णु, सूर्य आदि देवों की उपासना होती थी। उत्तरवैदिकयुग में भी धर्म का स्वरूप थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ वैसा ही बना रहा। इस युग में व्यक्ति नर वधिक, असत्य भाषण करने वाले, कपटी, लोभी, क्रोधी, क्रूर, देवनिन्दा करने वाले, दोषी कृपण और चोर व्यक्तियों से नफरत करते थे। वे निर्धन, भूखे, असहाय व्यक्तियों के प्रति दया की भावना रखते थे। महाकाव्यकाल में भी थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ धार्मिक भावना ऐसी ही रही। इस समय ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, पार्वती, दुर्गा आदि की उपासना बढ़ी। कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का विकास हुआ। सूत्रकाल में कुछ नये देवी-देवता उत्पन्न हुये। वासुदेव नामक देवता का उदय हुआ, मूर्तिपूजा बढ़ी, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, स्वर्ग तथा नरक की कल्पना होने लगी। ईसा की छठवीं शताब्दी में नवीन धार्मिक चेतना का उदय हुआ तथा बौद्ध धर्म और जैन धर्म का विकास हुआ। मौर्ययुग में अशोक के शासनकाल में बौद्धधर्म का विस्तार हुआ किन्तु अन्य धर्मों को भी

फलने-फूलने का अवसर मिला। सम्राट अशोक के पश्चात् गुप्त युग तक धर्म में अनेक परिवर्तन हुये। मूर्तिपूजा बढ़ी। भागवत धर्म का उदय हुआ तथा कुछ अन्य देव अस्तित्व में आये। इनमें स्वामी कार्तिकेय, गणेश, दत्तात्रेय की पूजा तथा यक्ष यक्षणियों की पूजा भी होने लगी। बौद्ध धर्म में भी अनेक परिवर्तन हुये। बौद्धधर्म की महायान शाखा का अस्तित्व बढ़ा, जैनधर्म का भी विकास हुआ तथा अनेक ग्रन्थों की रचना भी हुयी। इस युग में ब्राह्मण धर्म का सर्वाधिक विकास हुआ तथा अनेक उपसम्प्रदाय भी पैदा हुये। सम्राट हर्ष के युग में अनेक सम्प्रदायों का अस्तित्व था। हर्ष पहले हिन्दू धर्म का अनुयायी था किन्तु वह बाद में बौद्ध धर्मावलम्बी बन गया। राजपूत युग में भी धार्मिक भावना का विकास हुआ। इस समय भक्ति मार्ग तथा पौराणिक धर्म का उदय हुआ। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य के माध्यम से यह धर्म फैला। मुख्यरूप से विष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, कार्तिकेय, इन्द्र, यम, वरूण, मारुत आदि देवताओं की उपासना होने लगी। मातृका, भगवती, दुर्गा और लक्ष्मी की पूजा भी होने लगी। इस काल में अनेक धार्मिक ग्रन्थ भी लिखे गये।

दान का धर्म से सीधा सम्बन्ध था इसलिये सभी युगों में धर्म से प्रेरित होकर ही व्यक्ति दान देता था। धर्म के आठ मार्गो का उल्लेख किया गया है ये मार्ग यज्ञ, अध्ययन दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और निर्लोभता है। इसके अन्तर्गत दान को धर्म का अंग माना गया तथा कलियुग में दान के महत्व पर सर्वाधिक जोर दिया गया। दान की यह भावना केवल हिन्दूधर्म में ही नहीं अपितु बौद्ध और जैन धर्म में भी थी। जीवन को नश्वर समझने वाला व्यक्ति चल और अचल सम्पत्ति को भी गतिशील समझता था; इसलिये वह निज सुख के लिये संचित सम्पत्ति से दूसरों का कष्ट मिटाने के लिये दान देने की बात भी सोंचने लगा। पुरूषार्थ की भावना से ही व्यक्ति ने दान देने की बात सोंची इसीलिये व्यक्ति ने दान देना अपना नैतिक कर्तव्य माना। सुयोग्य व्यक्ति को दान देना उसने अपना कर्तव्य समझा। वह दान व्यक्तिगत कर्तव्य, समाज के प्रति कर्तव्य तथा परलोक सुधारने के कर्तव्य को दान से जोड़ने लगा। उसने यह स्वीकार किया कि वह पुण्य का भागी बने, उसे स्वर्ग की प्राप्ति हो तथा आवागमन से छुटकारा मिले इसलिये वह दान देने लगा। दान देने की भावना को तीन रूपों में ग्रहण किया गया। सर्वप्रथम कोई भी दाता धर्म उपदेशों से प्रभावित होकर दान देने की बात सोंचता था। उसके पश्चात् वह दान का कार्य करता था। दान के इस पावन कार्य में वह देश, काल, परिस्थिति का ध्यान रखता था। दान देने के उद्देश्य को वह पहले से मन में सोंच लेता था तथा धर्मग्रन्थों में वर्णित दानफल के सन्दर्भ में वह सोचता था और आशा करता था कि उसे भी दान का समुचित फल मिलेगा, वह भूमि, गाय, अन्न, स्वर्ण, जल, वस्त्र, पदत्राण, शकट, तिल, दीप, रत्न, छाता, समिधा दान पर विश्वास करता था, इसके अतिरिक्त वह अपने पितरों को सन्तुष्ट करने के लिये श्राद्ध आदि कर्म करता था।

यदि धर्म की भावना से प्रेरित हुये दाता की भावना का विश्लेषण दानफल के अनुसार किया जाय तो यह सत्य है कि वह निश्चित ही किसीं न किसी प्रलोभन से अथवा धर्म के भय से दान देता था। वह अधिक से अधिक पुण्य कमाना चाहता था, तथा पाप का भागी नहीं बनना चाहता

था। जो व्यक्ति दया, करुणा, सहयोग की भावना से दान देता था तथा ग्रहीता का किसी भी प्रकार से तिरस्कार नहीं करता था वह दान उत्तम कोटि का होता था। जो दान, दान की इच्छा से न दिया जाकर कुल, प्रतिष्ठा और मर्यादा को ध्यान में रखकर दिया जाता था, वह मध्यम गति का दान होता था तथा जो दान याचक को तिरस्कार एवं अहं के साथ दिया जाता था तथा जो दान किसी स्वार्थ साधन के लिये दिया जाता था अथवा अनीति से कमाई गयी सम्पत्ति से दिया जाता था वह अधोगति का दान होता था। यदि दान की समीक्षा की जाय तो यह समझ में आता है कि आर्थिक दृष्टि से कमजोर, समस्याग्रस्त व्यक्ति को दान देना हमारा नैतिक कर्तव्य है यदि किसी प्रकार हमने आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त की है तो हमें जरूरतमंद व्यक्तियों को दान देना ही चाहिये। यद्यपि दानदाता को परिकल्पित पुण्य, स्वर्ग तथा देवता की अनुकूलता ही प्राप्त होती है किन्तु आर्थिक दृष्टि से उसका नुकसान ही होता है।

दान की भावना के कारण अंधविश्वास का विकास हुआ। दानदाता की उदारता का लाभ उठाकर ग्रहीताओं ने अनेक प्रकार की वेशभूषा बनाकर, भूतप्रेत आदि भावनाओं को बढ़ाकर, विविध प्रकार के क्रियाकलापों को दिखाकर, दानदाताओं की संवेदना का नाजायज लाभ उठाया। इसी समय तांत्रिको, ज्योतिषियों तथा झाड़-फूँक करने वालों ने दान दाताओं से अनेक प्रकार से ठगी करना प्रारम्भ कर दिया। प्रेतबाधा मिटाने के लिये तथा दैवी प्रकोप से बचने के लिये दानदाता इन ठगों का शिकार होता रहा। परमात्मा और देवता तथा पृथ्वी संसार के प्राणियों को सब कुछ देतें हैं। दानदाता के पास जो कुछ भी है वह उसे परमात्मा, देवता और पृथ्वी से ही प्राप्त हुआ है, अन्य जीवों की भाँति वह भी नश्वर है मृत्यु के उपरान्त वह अपने साथ कुछ भी नहीं ले जा सकता इसलिये दाता को अपनी अर्जित सम्पत्ति का दान करना चहिये और ग्रहीता को भी दाता से निष्कपट व्यवहार रखते हुये आवश्यकतानुसार ही दान की याचना करनी चाहिये।

शोध-प्रबन्ध का मूल्यांकन- यह शोध प्रबन्ध शोध छात्र के अथक परिश्रम का परिणाम है। पाँच वर्ष की अवधि में शोध छात्र द्वारा अपने विषय का गंभीर अध्ययन किया गया है। दान से सम्बन्धित जो भी पुस्तकें जहाँ भी उपलब्ध हुयी वहाँ से लाकर उन्हें पढ़ने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रचलित परम्पराओं तथा धर्म विधाओं का भी गंभीर अध्ययन किया गया है तथा इसके लेखन में शोधपरक गवेषणात्मक शैली को अपनाया गया है। विषय की गम्भीरता को देखते हुये विशिष्ट शब्दों का व्याकरणसम्मत विश्लेषण किया गया है तथा यह प्रयास किया गया है कि उनका व्यावहारिक स्वरूप भी शोध प्रबन्ध में स्पष्ट रूप से दिखलायी दे। यह विश्व परिवर्तनशील है तथा इस परिवर्तनशीलता में संस्कृति, धर्म और समाज की परम्परायें एवं मान्यतायें समय-समय पर बदलती रहती हैं। दान की अवधारण की अभिव्यक्ति में इस परिवर्तनशीलता को बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से देखा गया है। इसलिये यह शोध प्रबन्ध मुझे एक प्रकार का आत्मसन्तोष और सन्तुष्टि प्रदान करता है। मैं इसे एक मूल्यवान उपलब्धि मानता हूँ और यह स्वीकार करता हूँ कि मेरा यह परिश्रम सार्थक है और भविष्य में समुचित प्रतिफल प्रदान करने वाला है। मैंने शोधप्रबन्ध का

मूल्यांकन निम्न दृष्टिकोण अपनाकर किया है-

१. शोध के लिये अपनायी गयी विधि– मेरा यह शोध प्रबन्ध 'प्राचीन भारत में दान की अवधारणा महाकाव्यों के विशेष सन्दर्भ में' सामाजिक विषय से सम्बन्धित है तथा यह इतिहास से जुड़ा हुआ है इसलिये सामाजिक विषय से सम्बन्धित जो शोध विधि, शोध विज्ञान में निर्धारित की गई है उसी का अनुसरण मैंने अपने शोध प्रबन्ध में किया है तथा उन बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुये मैने यह शोधकार्य किया है जो शोध के लिये निर्धारित किये जाते हैं। ये बिन्दु निम्नलिखित हैं-

(१) स्थिति एवं स्थल का अवलोकन– शोध-प्रबन्ध में दान की प्राचीनता का पता लगाने के लिये मैने उन स्थानों का भ्रमण किया जहाँ दान के वास्तविक साक्ष्य उपलब्ध है विशेषकर धार्मिक स्थलों के उन अभिलेखों का विशेष अध्ययन किया गया जिसमें धर्मस्थल बनवाने के लिये भूमिदान किया गया है तथा जिस व्यक्ति ने धार्मिक स्थलों का निर्माण कराया है। इस प्रकार के अभिलेख अजयगढ़, कालिंजर, खजुराहो, महोबा, देवगढ़, ओरछा, ग्वालियर आदि स्थानों में प्राप्त हुये हैं, इन अभिलेखों में दानदाता की प्रशंसा, दान का अभिप्राय तथा दान में दी गयी वस्तु का विस्तार से उल्लेख है। ये अभिलेख अधिकांशतः चन्देल नरेशों के हैं इनमें से कुछ अभिलेख मूर्तियों के निचले भाग में प्राप्त हुये हैं इनमें मूर्ति स्थापित कराने वाले का नाम उल्लिखित है। ऐसी मूर्तियाँ कालिंजर, खजुराहो के जैन मंदिर तथा देवगढ़ में उपलब्ध हुयी है इसके अतिरिक्त ऐसी भूमि जो धर्मार्थ दान में दी गयी थी उनके ताम्रपत्र भी देखने को मिले। इन ताम्रपत्रों में दानदाता का नाम, भूमि की पैमाइश, भूमिदान देने का उद्देश्य तथा भूमि सम्बन्धी अधिकार हस्तान्तरित करने का उल्लेख है तथा भविष्य के लिये निर्देश भी है कि दान दी गयी भूमि वापस न ली जाय। अनेक स्थानों पर अति प्राचीन कागज के दस्तावेज भी उपलब्ध हुये हैं जो राजपूतकाल के हैं इन दस्तावेजों को बड़ी सुरक्षा के साथ धार्मिक स्थल के पुजारी और महन्त सुरक्षित रखे हुये हैं तथा विशेष अनुरोध के बाद ही अति विश्वस्त व्यक्तियों को ही उन्हें दिखाते हैं। मुझे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है जिनके अध्ययन के पश्चात् यह शोधकार्य आगे बढ़ा।

२. अन्वेषण एवं सर्वेक्षण– जो साक्ष्य आसानी से प्राप्त हो गये थे उनके अतिरिक्त नवीन स्थलों तथा नवीन साक्ष्यों को भी खोजा गया। चित्रकूट मंडल में जहाँ चित्रकूट जैसा महातीर्थ स्थापित है वहाँ मड़फा, रौलीगोंड़ा, रसिन, फतेहगंज, पाथरकछार आदि स्थलों में अनेक अभिलेख प्राप्त हुये जिनका सीधा सम्बन्ध धर्मस्थल के लिये दिये गये दान से था। इसी प्रकार महोबा तथा हमीरपुर जनपद में किशनगढ़, महोबकंठ, बारीगढ़, सिरसागढ़, पुरनियाँ, रहली, मदनपुर आदि क्षेत्रों में इस प्रकार के अभिलेख प्राप्त हुये हैं जो भारतीय इतिहास पर सर्वथा नवीन प्रकाश डालते हैं तथा यह सिद्ध करते हैं कि धर्म से जुड़ी दान की परम्परा अति प्राचीन है। इन्ही स्थलों के पास मध्य प्रदेश क्षेत्र में एरण, विदिशा, साँची, भरहुत, उचेहरा, बिलहरी, रूपनाथ आदि क्षेत्रों में अनेक स्थलों में प्रस्तर अभिलेख, स्तम्भ अभिलेख, ताम्रपत्र तथा अति प्राचीन कागजी अभिलेख प्राप्त होते

हैं। अभिलेखों की पुरासम्पदा अभी उपेक्षित सी जान पड़ती है तथा इतिहासकारों एवं पुराविदों का ध्यान अभी तक इन स्थलों की ओर नहीं गया। मैहर का शारदा मंदिर भी चन्देलकालीन है यहाँ के अति प्राचीन पंडा व पुजारी बतलाते हैं कि इस मंदिर में भी प्राचीन अभिलेख थे जो नवीन परिवर्तनों के कारण अन्यत्र रखवा दिये गये हैं। इसी प्रकार शेरपुर स्योंढा का देवी मंदिर भी अति प्राचीन है जिस पहाड़ी पर यह मंदिर निर्मित है वहाँ अति प्राचीन अभिलेख पहाड़ी के निचले भाग में विद्यमान हैं किन्तु यहाँ पहुँचने के लिये कोई सुलभ मार्ग नहीं है। धर्म से सम्बन्धित सभी अभिलेख धार्मिक स्थलों के ही नजदीक प्राप्त होते हैं।

३. शोध विषय से सम्बन्धित विषय सामग्री की खोज– शोध प्रबन्ध केवल अभिलेखों, मूर्ति अभिलेखों तथा ताम्रपत्रों के आधार पर पूर्ण नहीं हो सकता था इसलिये आवश्यकता ऐसे ग्रन्थों की थी जिनके आधार पर यह शोध-प्रबन्ध पूरा होता इसके लिये प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों का अध्ययन किया गया तथा धर्मसूत्र ग्रन्थों का सहारा लिया गया इन धर्मसूत्रों में गौतम धर्मसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, वसिष्ठ धर्मसूत्र, विष्णु धर्मसूत्र, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वैखानस धर्म प्रश्न, अत्रि का सूत्रग्रन्थ। इसके अतिरिक्त स्मृति ग्रन्थों को भी दान के महत्व को समझने के लिये पढ़ा गया, इन स्मृति ग्रन्थों में मनुस्मृति का विशेष उपयोग किया गया। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत के समस्त पर्वो का विशेष रूप से गंभीरता से अध्ययन किया गया। साथ ही मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, स्कन्दपुराण तथा देवी भागवत आदि में दान से सम्बन्धित विषय सामग्री उपलब्ध हुयी। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य स्मृति, पराशर-स्मृति, नारद-स्मृति वृहस्पति-स्मृति, कात्यायन स्मृति, अंगिरा, व्यास तथा विश्वरूप आदि के सूत्रों मे दान का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त मेधातिथि, धारेश्वर भोजदेव, गोविन्दराज, लक्ष्मीधर का कल्पतरु, जीमूतवाहन, अपरार्क, हेमाद्रि, कुल्लूकभट्ट, गोविन्दानन्द, नीलकंठ भट्ट, मित्रमिश्र का वीरमित्रोदय आदि ने अपने ग्रन्थों के माध्यम से दान के महत्व, दान की उपयोगिता तथा दानफल का वर्णन अति विस्तार से किया है। इन ग्रन्थों के माध्यम से शोधकार्य पूर्ण करने में काफी सहयोग मिला। इन ग्रन्थों के अलावा प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया गया है तथा इनमें वर्णित धार्मिक, सामाजिक आर्थिक स्थिति के अनुसार दान का निष्कर्ष निकालने में सहयोग मिला है, इसके अतिरिक्त जो सर्वेक्षण कार्य अंग्रेज इतिहासकार मैक्समूलर, वेबर, डा. ग्रियर्सन और वी.ए. स्मिथ ने किये है उनका अध्ययन भी बड़ी उपयोगी सिद्ध हुआ है कनिघंम और पार्जिटर के द्वारा किये गये प्रयासों की भी प्रशंसा की जा सकती है। मुख्य रूप से आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुवल रिपोर्ट, आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, आर्क्योलाजिकल सर्वे मेमायर, इंडियन ऐन्टीक्वेरी, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, एपिग्राफिया इण्डिका, ओरियन्टल कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, कार्पस इन्सक्रिपशनम इंडिकेरम, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, जनरल आफ इंडियन हिस्ट्री, जनरल आफ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, जनरल आफ ग्रेटर इण्डिया सोसाइटी, जनरल आफ यू.पी. हिस्टारिकल सोसाइटी, जनरल आफ रायल एसियाटिक सोसाइटी, जनरल आफ

बिहार ओरिसा रिसर्च सोसाइटी, साउथ इण्डियन एपिग्राफी, साउथ इण्डियन एनुवल रिपोर्ट आदि ग्रन्थों में दान से सम्बन्धित अभिलेख उपलब्ध होते हैं। इनसे भी शोध प्रबन्ध संरचना में काफी सहयोग प्राप्त हुआ तथा शोध की दिशा निर्धारित करने में समुचित निर्देशन भी इनसे प्राप्त हुआ।

४. जन परम्पराओं एवं रूढ़ियों का अध्ययन- इतिहास के मौलिक स्त्रोत तक पहुँचने के लिये जनपरम्पराओं एवं रूढ़ियों का अध्ययन बहुत जरूरी है। समाज में दान से सम्बन्धित जो परम्परायें आदिकाल से हमें उत्तराधिकार के रूप में मिलती चली आ रही हैं उनका अध्ययन भी मैने गम्भीरता से किया है। दान की प्रक्रिया समाज में सामाजिक संस्कारों से प्रारम्भ होती है। मुख्य रूप से जन्म, विवाह एवं अन्त्येष्टि संस्कारों में दान की परम्परायें हजारों वर्ष पुरानी हैं तथा ये प्रचलित रूढ़ियों के अनुसार आज भी विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त धार्मिक जीवन से जुड़ी हुयी कुछ परम्परायें भी दान से सम्बन्धित हैं। ये परम्परायें यज्ञ, हवन, पूजन, व्रत कथाओं का आयोजन तथा तीज-त्योहारों से सम्बन्धित हैं इन अवसरों पर दान की प्रथा आज भी पूर्ववत है केवल वस्तुओं में परिवर्तन हुआ है अथवा प्राचीन देय वस्तुओं के स्थान पर उन्ही के प्रतीक के रूप में अन्य वस्तुयें दी जाने लगी। मैने इन परम्पराओं का अध्ययन करने के लिये सामाजिक संस्कारों में भाग लिया, धार्मिक संस्कारों को बहुत नजदीक से देखा तथा तीर्थ स्थलों का भी भ्रमण किया। वर्तमान समय में दान का स्वरूप अत्यधिक विकृत हो गया है। मिथ्याडंबर, अंधविश्वास तथा व्यक्ति को ठगने की भावना ने दान के पवित्र स्वरूप को बिगाड़ दिया है तथा दाता से दाता की स्थिति के विपरीत दान की माँग की जाती है। चूँकि भारतवर्ष में अशिक्षा अधिक है और धर्म पर विश्वास सदियों पुराना है इसलिये व्यक्ति इस लूट का विरोध भी नहीं कर पाता तथा अधिकांश ग्रहीता वर्ग दान के धन का पूरी तरह दुरुपयोग करता है। वह इस धनराशि को व्यक्तिगत कार्यो में खर्च करता है। वह इस से अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करता है तथा वह इस धन से भोगविलास की वस्तुयें खरीदता है। मथुरा, इलाहाबाद, बनारस, गया आदि तीर्थस्थलों में इस धन का दुरुपयोग कोई भी व्यक्ति देख सकता है। फिर भी दान के महत्व को कम करके नहीं देखना चाहिये, यदि कहीं लोक कल्याण की बात हो तो उपयोगी कार्यो के लिये मुक्तहस्त से और खुले दिल से दान देना चाहिये। किन्तु भिखारियों, दान से जीविका चलाने वालों को तथा धोखा देकर धन ठगने वालों को किसी प्रकार का धन दान में नहीं देना चाहिये। दाता को इसमें विवेक का प्रयोग करना चाहिये तथा याचक की स्थिति को समझकर ही दान देना चाहिये।

५. व्यक्तिगत सर्वेक्षण- दान की वास्तविक स्थिति का पता लगाने के लिये मैने कुछ बुद्धिजीवियों, इतिहासकारों, समाजसेवियों, संस्कृत विद्यालय के आचार्यों, धार्मिक संस्कार कराने वाले पुराहितों, मंदिर के पुजारियों एवं महन्तों से संपर्क स्थापित किया तथा उनसे कई एक प्रश्न प्रचलित दान परम्परा के सन्दर्भ में पूछे। उन्होने अपनी बुद्धि के अनुसार मेरे प्रश्नों का उत्तर दिया।

इस सन्दर्भ में मैं सर्वप्रथम श्री राधाकृष्ण बुन्देली जी से मिला उन्होने दान को परिभाषित करते हुये कहा कि यदि कोई भी वस्तु अथवा धन आवश्यकतानुसार किसी जरुरतमंद व्यक्ति को

आर्थिक दृष्टि से कमजोर समझ कर दिया जाता है तो उसकी प्रशंसा की जा सकती है किन्तु याचक को भी यह सोचना पड़ेगा कि जो व्यक्ति दान देकर उसकी मदद कर रहा है उसकी प्रकृति क्या है और वह किस प्रकार का धन दान में दे रहा है यदि धन किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिये दिया जा रहा है और अनीति से पैदा किया गया है तो याचक उस दान के धन को स्वीकार न करे। उनके अनुसार पेशेवर भिखारियों तथा कर्मकाण्ड से जुड़े धनी आचार्यों और पंडितों को कुछ भी नहीं देना चाहिये क्योंकि वे पाप-पुण्य, स्वर्ग-नर्क की भावना पर विश्वास नहीं करते और न ही पुनर्जन्म को मानते हैं।

मैने कर्मकाण्ड कराने वाले पुरोहित श्री विन्दा प्रसाद शर्मा से सम्पर्क किया इनका परिवार अति प्राचीनकाल से पुरोहिती का कार्य ग्राम-भरखरी तथा आस-पास के गाँवों में करता है, इन्हें प्रत्येक तीज-त्योहार पर दान प्राप्त होता रहता है, ये अनेक परिवारों में जन्म, विवाह तथा अन्त्येष्टि संस्कार कराते रहते हैं इन्हें दान से बहुत अधिक आर्थिक लाभ होता है जब मै इनसे मिला और दान के सन्दर्भ में मैने इनसे अनेक प्रश्न किये तो वे मुझसे कहने लगे कि वेदों, पुराणों, स्मृतिग्रन्थों में दान की महिमा का सविस्तार वर्णन किया गया है। हम ब्राह्मण पृथ्वी में देव स्वरूप हैं तथा महीसुर कहलाते हैं हमें दान देनेवाला सदैव पुण्य लाभ करता है, मृत्यु उपरान्त स्वर्ग की प्राप्ति करता है जिसे भी अच्छी गति प्राप्त करनी होती है वह घर बुलाकर हमें दान देता है, हम किसी के यहाँ याचना करने नहीं जाते। आप संस्कार कराते हैं इसलिये दान-दक्षिणा देते हैं आपका भी स्वार्थ दान देने में है दान कोई खैरात नहीं है।

मैं दान के महत्व को जानने के लिये मुखारविन्द के महन्त डा० पुरुषोत्तमदास से मिला। ये प्रेम पुजारी महाराज के उत्तराधिकारी है इनसे मैने दान के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न किये। उन्होने बड़ी ही शालीनता के साथ उत्तर दिया कि दान दाता चित्रकूट जैसे महानतीर्थ स्थल में लाखों रूपया दान देता है लेकिन मेरे यहाँ उपलब्ध धन का किसी भी प्रकार से दुरुपयोग नहीं होता। मुखारबिन्द में उपलब्ध दान की धनराशि से सैकड़ों साधु-सन्त निःशुल्क भोजन प्राप्त करते हैं तथा जो प्रसाद वगैरा चढ़ता है उसका वितरण भी हम बड़ी उदारता से करते हैं। इसके अतिरिक्त वर्षभर में कई आयोजन हम यहाँ आयोजित करते हैं तथा मंदिर के रखरखाव की व्यवस्था हमी को करनी पड़ती है। अभी हमने एक नवीन धर्मस्थल दान के धन से बनवाया है उसे भी आप देख सकते है। यहाँ किसी प्रकार की ठगी नहीं है। किन्तु चित्रकूट में ऐसे भी लोग हैं जो दान लेकर उस धन का दुरुपयोग करते हैं तथा दानदाता को ठगते हैं। आजकल अनेक चोर-उचक्के लोग भी चित्रकूट में बस गये हैं। जिनसे सावधान रहना चाहिये। उन्होने कहा कि दान देने की भावना बुरी नहीं है किन्तु उसी समय तक जब तक कि दान के धन का सदुपयोग हो।

मैं दान के सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त करने के लिये रामलीला संस्कृत विद्यालय के आचार्य श्री अवध बिहारी से भी मिला तथा उनसे अनेक प्रश्न दान के सन्दर्भ में किये उन्होने अनेक पुस्तकें मुझे दिखलायीं। ये ग्रन्थ अतिप्राचीन थे तथा सभी में दान की महिमा का उल्लेख था,

इन ग्रन्थों में बाणभट्ट द्वारा रचित हर्षचरित तथा कादम्बरी, उत्तर रामचरित, शिशुपालवध, रघुवंश तथा भागवतपुराण, मत्स्य पुराण, अग्नि पुराण, देवी भागवत आदि ग्रन्थ थे तथा कुछ ग्रन्थ दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र से भी सम्बन्धित थे। उन्होने कहा कि दान हमारी प्राचीनतम सांस्कृतिक परम्परा है तथा लोगों ने दान के रूप में अपना राज्य, पुत्र, धन तथा प्राण भी न्योछावर कर दिये। दान एक प्रकार का त्याग है, तप है तथा उत्सर्ग की भावना है। हर व्यस्ति का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह दान करे।

मैं दान के सन्दर्भ में बाँदा के सुप्रसिद्ध समाजसेवी वैद्य भवानीदत्त शास्त्री 'व्यास' से मिला तथा उनसे दान के सन्दर्भ में अनेक प्रश्न किये। उन्होने कहा कि युग के अनुसार दान देने वाली परिस्थितियों में पर्याप्त अन्तर हुआ है उन्होने कहा अब किसी व्यक्ति विशेष को दान देने का समर्थन मैं नहीं करता। लोगों का दान प्राप्त करना एक व्यवसाय हो गया है तथा व्यक्ति इस धन से अपनी जीविका चलाते हैं। धन के प्रति ऐसा मोह बढ़ गया है कि ग्रहीता को यदि धन की आवश्यकता नहीं भी है तो भी वह लोभ से ग्रसित है तथा दान के माध्यम से और अधिक धन प्राप्त करना चाहता है इसलिये अब दानदाता को जनकल्याण की भावना से प्रेरित होकर दान देना चाहिये। वर्तमान युग में सार्वजनिक संस्थाओं को दान देने की आवश्यकता है। ये संस्थाये शिक्षा, स्वास्थ्य तथा रोजगार से जुड़ी होनी चाहिये। ऐसे गरीब व्यक्तियों को दान देना चाहिये जो प्रतिभाशाली है तथा जिनकी प्रगति धन के अभाव में बाधित है। विकलांगों, अनाथों तथा मंदबुद्धि के लोगों को सहयोग देना हमारा पुनीत कर्तव्य है। हमें यह भी देखना चाहिये कि जो धन हम दान में दे रहे हैं उसका सदुपयोग हो रहा है अथवा नहीं। अब दान का धन चन्दे के नाम से पुकारा जाने लगा है नैतिकता का जो पतन हो रहा है उससे भी दान के धन का दुरुपयोग हो रहा है।

दान के सन्दर्भ में पुरुषों की विचारधारा जांनने के पश्चात मैंने धर्म का अनुसरण करने वाली महिलाओं से भी सम्पर्क स्थापित किया। मैने अलीगंज निवासिनी श्रीमती सुमन शर्मा से दान के सन्दर्भ में अनेक प्रश्न किये। इस धर्मभीरु महिला ने यह उत्तर दिया कि धर्म का अनुसरण करना हमारा पुनीत कर्तव्य है, जो हमारे पूर्वज करते रहे वहीं हमें भी करना चाहिये। दान देना पुण्य का काम है। प्रत्येक एकादशी को सत्यनारायण की कथा सुनकर ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिये तथा उसे दान देना चाहिये तथा प्रत्येक अमावस्या और पूर्णमासी को मंदिर के पुजारियों को सीधा दान में देना चाहिये। इसी प्रकार मकर संक्रान्ति, शिवरात्रि, ग्रहण आदि के अवसर पर भी दान देना चाहिये। प्रत्येक शुभ अवसर पर मंदिरों में प्रसाद चढ़ाना चाहिये। स्त्रियों को कार्तिक स्नान करना चाहिये तथा धर्म कथाओं पर विश्वास करते हुये भागवत आदि सुननी चाहिये तथा सुनाने वाले को दान देना चाहिये। पुण्य की जड़ पाताल में है इसलिये जो भी स्त्री-पुरूष श्रद्धा के साथ दान देते हैं वह सदैव धनधान्य से पूर्ण रहते है। अतिथियों को भोजन कराना तथा द्वार पर आये भिक्षुओं को दान देना महिलाओं का नैतिक कर्तव्य है। हमें इस लोक से ज़्यादा उस लोक की चिन्ता है अतः इमें दान देना चाहिये।

विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से वार्तालाप करने के पश्चात् यह निष्कर्ष सामने आया कि दान हमारी प्राचीन परम्परा है, यह धर्म और संस्कारों से जुड़ा है इसलिये योग्य ग्रहीता को दाता अपने सामर्थ्य के अनुसार दान दें। किन्तु दान के धन का दुरुपयोग करने वाले व्यक्तियों को किसी भी प्रकार का धन या वस्तु दान में न दी जाय। बेहतर यह होगा कि लोक कल्याण वाली संस्थाओं को वर्तमान परिवेश में दान दिया जाय। बाह्य आडम्बर, अंधविश्वास एवं धार्मिक ठगी से व्यक्तियों की रक्षा की जाय।

६. शोध सहयोग– शोध प्रबन्ध लिखने के लिये हमें जिन व्यक्तियों और जिन संस्थाओं से सहयोग मिला उन्हीं की वजह से यह शोध कार्य पूर्णता की ओर पहुँचा। पं.जे.एन.पी. जी. कालेज, बाँदा के इतिहास विभाग के सेवानिवृत्त विभागाध्यक्ष प्रो.बी.एन. राय जी का परामर्श एवं समुचित मार्गदर्शन इस शोध प्रबन्ध का निर्देशन करता रहा है उन्ही की कृपा से यह शोध प्रबन्ध अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हुआ। इसके अतिरिक्त पं.जे.एन.पी.जी. कालेज बाँदा के पुस्तकालय, नागरीप्रचारिणी पुस्तकालय और राजकीय पुस्तकालय से भी सहयोग प्राप्त हआ। साथ ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के पुस्तकालय तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पुस्तकालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग तथा गंगानाथ झा पुस्तकालय से भी काफी अधिक मात्रा में पुस्तकीय सहायता प्राप्त हुयी। दान कार्यो से जुड़े हुये पुरोहितों, आचार्यो से भी समुचित मार्गदर्शन शोध की विषय सामग्री के अनुसार प्राप्त हुआ है। यह शोध प्रबन्ध इन सभी के सहयोग का परिणाम है।

७. अब तक दान पर हुये शोध कार्यो की तुलनात्मक समीक्षा– अनुसंधान एवं अन्वेषण बुद्धिमान मानव की प्रकृति है। वह स्वभावतः नवीन उपलब्धि के लिये प्रयासरत रहता है। उसकी विषयवस्तु में अन्तर होता है, शोध शैली में अन्तर होता है किन्तु वह प्राचीनता को मानसिक कोष में सुरक्षित रखकर नवीनता की खोज में आगे बढ़ता है। ब्रिटिश शासनकाल में वर्तमान शोध प्रणाली का उदय हुआ तथा सन् १८६० से लेकर अब तक अनेक शोधकार्य विविध विषयों में हुये हैं। ये शोधकार्य इतिहास में भी हुये, जिन व्यक्तियों ने शोध कार्य किया उन्हें योग्यतानुसार डी.फिल., पीएच.डी. और डी.लिट. आदि उपाधियों से सम्मानित किया गया। दान के क्षेत्र में भी अनेक विद्धानों ने शोध कार्य किये हैं। आर.एस.शर्मा, रोमिला थापर, डी. एन.झा., ओमप्रकाश, विजयनाथ, लालजी त्रिपाठी आदि अनेक इतिहासकारों ने अपने शोध ग्रन्थों में दान की प्राचीनता तथा दान की अवधारणा, दान का धर्म, समाज एवं अर्थव्यवस्था से सम्बन्ध तथा दान की उपयोगिता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। इन ग्रन्थों में ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर दान की महत्ता स्वीकार की गयी है। इसके अतिरिक्त दान पर कुछ प्राचीन विद्वानों ने भी विशेष रूप से प्रकाश डाला है इनमें हेमाद्रि का दानखण्ड (चतुर्वर्गचिन्तामणि), गोविन्दानन्द की दान क्रिया कौमुदी, नीलकण्ठ का दानमयुख, विद्यापति की दानवाक्यावलि, वल्लालसेन का दानसागर एवं मित्र मिश्र का दान प्रकाश आदि ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध है।

जिस शोध प्रबन्ध की रचना मेरे द्वारा की गयी है उसमें उन कमियों को पूरा करने का प्रयास किया गया है जो दान से सम्बन्धित अन्य शोध ग्रन्थों में दृष्टिगत होती है। मेरे शोधप्रबन्ध में दान को व्याकरण और व्यावहारिक दृष्टि से परिभाषित किया गया है तथा दान की समस्त कोटियों पर विचार, दाता, ग्रहीता देयवस्तुयें तथा देशकाल और परिस्थिति के अनुसार किया गया है। इस शोध प्रबन्ध में भारतीय संस्कृति के उस परिष्कृत स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है जिसकी वजह से दान धर्म और संस्कृति से जुड़ा और उसने किस प्रकार सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक व्यवस्था को प्रभावित किया तथा वह स्वतः इनसे किस प्रकार प्रभावित हुआ। इस शोध प्रबन्ध में उन स्थितियों का भी अध्ययन किया गया है जो दानदाता और ग्रहीता दोनो को प्रभावित करती है। मानवीय और जनकल्याण की भावना से दान का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है तथा साक्ष्य की दृष्टि से शोध प्रबन्ध में अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। मुख्य रूप से वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत से सम्बन्धित अनेक प्रसंग इस शोध प्रबन्ध का विशेष आकर्षण हैं। इसलिये यह शोधप्रबन्ध दान के सन्दर्भ में सर्वथा नयी सोच प्रस्तुत करता है जो अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। इस शोधप्रबन्ध में दान की प्राचीन परम्पराओं को नवीन बैज्ञानिक शोधपरक दृष्टिकोण से देखा गया है और उसकी समुचित समालोचना प्रस्तुत की गयी है।

शोध के परिणाम– जिस शोध प्रबन्ध को पाँच वर्ष के अथक परिश्रम के पश्चात् सृजित किया गया है तथा जिसमें उचित परामर्श और निर्देशन का अनुसरण किया गया है, वह शोध प्रबन्ध निश्चित ही मेरे परिश्रम का एक वास्तविक मूल्यांकन है इसके सन्दर्भ में निम्न निष्कर्षात्मक परिणाम प्राप्त होते हैं–

१. दान के सन्दर्भ में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन– यह शोध प्रबन्ध सभ्यता के विकास से लेकर १२वीं शताब्दी तक के दान से जुड़े हुये सभी प्रकरणों का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर अध्ययन करता है। इसमें दान की अवधारणा तथा दान के सिद्धान्तों में होने वाले परिवर्तनों का भी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। शोध प्रबन्ध की यह उपलब्धि सर्वथा नवीन है।

२. दान सन्दर्भ ग्रन्थों तथा दान साक्ष्यों की नवीन उपलब्धि– दान का सन्दर्भ जिन वेदों, पुराणों, स्मृति ग्रन्थों एवं रामायण तथा महाभारत में उपलब्ध होता है उसे सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से देखा गया है तथा शोधप्रबन्ध के माध्यम से उन व्यावहारिक नियमों तथा आदर्शो की भी खोज की गयी है जो दान को प्रेरित करते थे तथा जिनसे प्रभावित होकर व्यक्ति दान देता था। इसमें दान की कोटि, देय वस्तु, दान के उद्देश्य तथा दाता और ग्रहीता दोनों की उन भावनाओं को नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया गया है जिनसे प्रभावित होकर दान दिया और लिया जाता था।

३. दान के यथार्थ पर नवीन दृष्टि– इस शोध प्रबन्ध के माध्यम से इस नवीन विचारधारा का उदय हुआ है कि दान देने से सदैव दानदाता की आर्थिक हानि हुयी और प्रत्यक्ष में

दान लेने वाले अथवा प्रतिग्रहीता का आर्थिक लाभ हुआ। दाता को पुण्य, उत्तमगति तथा स्वर्ग प्राप्ति की भावना प्रत्यक्ष में कोई लाभ नहीं पहुँचाती थी। दान की भावना दाता को यह प्रेरणा अवश्य प्रदान करती है कि यदि दाता के पास उसकी आवश्यकता से अधिक धनराशि एकत्र हो गयी है तो वह जनकल्याण के लिये उसे जरूरतमंद व्यक्तियों को दान दें।

४. दान से जुड़े अंधविश्वास एवं धार्मिक ठगी की निन्दा– जब दान की भावना का उदय हुआ उस समय दान का व्यावहारिक रूप निन्दनीय एवं कलुषित नहीं था किन्तु गुप्त युग के बाद स्वार्थी एवं धनलोलुप व्यक्तियों ने दानदाता की उदार भावना का अनैतिक ढंग से लाभ उठाया। ऐसे धार्मिक कर्मकाण्ड गढ़े गये जिनमें दानदाता को दान देने के लिये जबरन बाध्य किया जाने लगा। अनेक धर्मस्थलों, तीर्थस्थलों में अंधविश्वास ने अपने पैर फैलाये। नेष्ट ग्रहों, भूत-प्रेतों तथा धार्मिक अनुष्ठानों के नाम पर विविध प्रकार की ठगी की जाने लगी। इससे दानदाता लूटा गया तथा ग्रहीता धनी बनता चला गया। यह शोध प्रबन्ध धर्म के नाम पर जुड़े इस निन्दनीय कृत्य की निन्दा करता है। तथा दानदाताओं को चेतावनी देता है कि वे दान से सम्बन्धित भावनाओं में सावधानी बरतें तथा सही वक्त पर सही व्यक्तियों को दान दें।

५. वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत से जुड़े दान सन्दर्भो की खोज– अभी तक किसी भी शोधकर्ता ने वाल्मीकि रामायण और महाभारत का विशेष अध्ययन दान के दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर नहीं किया। इन दोनों महाग्रन्थों में दान से जुड़े अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं इन दान प्रसंगों में दान से जुड़ी उन महान विभूतियों की कथायें हैं जिन्होनें जनकल्याण के लिये अपना शरीर, अपना पुत्र, अपना राज्य, अपने शरीर का माँस और अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति तथा पृथ्वी आदि दान में दे दी इससे वे सदैव के लिये स्थाई कीर्ति प्राप्त करने वाले व्यक्ति हो गये। ये प्रसंग ३ भागों- (दानधर्मोपदेश, दान क्रिया और दानफल) में प्राप्त होते हैं। ये प्रसंग सर्वथा प्रभावित करने वाले प्रसंग है जो दानदाता और ग्रहीता दोनों को प्रेरित करते हैं।

शोध प्रबन्ध की उपयोगिता– शोध प्रबन्ध की उपयोगिता शोध छात्र के लिये केवल पीएच.डी. अथवा डी.लिट. की उपाधि प्राप्त करना भर नहीं है अपितु शोधार्थी शोधकार्य से अपने शोध विषय में निपुणता प्राप्त कर लेता है तथा वह अपने शोध विषय का अधिकृत विद्वान माना जाने लगता है। इससे उसके बौद्धिकस्तर और योग्यता स्तर का विकास होता है। किन्तु इसका वास्तविक लाभ उन पाठकों को विशेष रूप से मिलेगा जो गम्भीरतापूर्वक इस शोध प्रबन्ध का अध्ययन करेंगे तथा शोधकर्ता की बुद्धि का मूल्यांकन करेंगे। यदि कोई भी शोधकर्ता अथवा विचारक अथवा इतिहासकार भारतीय धर्म, दर्शन, पुरुषार्थ, दान और भारतीय सभ्यता पर पुस्तक लेखन का कार्य करेगा तो उसके लिये यह शोध प्रबन्ध निश्चित ही बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा। भविष्य में यह शोध प्रबन्ध उपयोगी सिद्ध हो इस दृष्टि-कोण को ध्यान में रखकर इस शोध-प्रबन्ध का सृजन किया गया है तथा शोधकर्ता उन सभी का कृतज्ञ रहेगा जो इस शोध प्रबन्ध का अध्ययन करेंगे तथा शोधकर्ता के श्रम का मूल्यांकन करेंगे। निश्चित ही यह शोध

प्रबन्ध बड़ा उपयोगी है।

भावी शोधार्थियों के लिये परामर्श– जहाँ शोधप्रबन्ध शोध विषय की सामग्री को व्यक्त करते है और शोध के उद्‌देश्य को व्याख्या के साथ प्रस्तुत करते हैं वहीं ये शोध प्रबन्ध भावी शोध छात्रों के लिये उचित मार्गदर्शन का कार्य भी करते हैं। मेरा यह शोध प्रबन्ध प्रारम्भ से लेकर बारहवीं शताब्दी तक की सभ्यता व संस्कृति को उजागर करता है साथ ही यह शोध दान की अवध ारणा, दान के सिद्धान्त, दान के स्वरूप, दान की उपयोगिता और दान के प्रतिफल को विशेष रूप से उजागर करता है। भविष्य में यदि कोई शोध छात्र दान से सम्बन्धित विषय पर शोध कार्य करना चाहता है तो मेरे दृष्टिकोण से निम्नलिखित विषयों पर शोध कार्य उपयोगी सिद्ध हो सकता है–

१- भारतीय दान पद्धति का अन्य धर्मो की दान पद्धति से तुलनात्मक अध्ययन।

२- बारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक भारतीय दान पद्धति का स्वरूप एवं तत्कालीन समाज पर उसका प्रभाव।

३- सत्रहवीं शताब्दी से वर्तमान समय तक दान का स्वरूप एवं तत्कालीन समाज पर प्रभाव।

४- भारतवर्ष में दान से जीविका उपार्जित करने वाली जातियाँ तथा सामाजिक, आर्थिक धार्मिक दृष्टिकोण से उनका महत्व।

५- भारतवर्ष में दानदाताओं का ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण तथा दान में दिये जाने वाले धन का साजाजिक, आर्थिक, धार्मिक दशा पर प्रभाव।

६- दान के सिद्धान्त का बुन्देलखण्ड में व्यावहारिक स्वरूप तथा यहाँ की संस्कृति पर उसका प्रभाव।

उपरोक्त विषयों पर अभी तक कोई शोधकार्य नहीं हुआ, भावी शोध छात्रों से यह आशा की जाती है कि उपरोक्त विषयों पर शोध कार्य करें।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. मौलिक ग्रन्थ–

अग्नि पुराण : संपा०, आर०एल० मित्रा, ३ भागों में, १६७६।

अथर्ववेद : सायण भाष्य सहित, संपा०, एस०पी० पंडित,बम्बई, १८६५-६८।

अर्थशास्त्र : कौटिल्य, संपा०, आर० शामाशास्त्री, मैसूर, १६२३।

अद्भुत् रामायण : वेंकटेश्वर प्रेस, १८६८।

अपराजित पृच्छा : भुवनदेव, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, १६५०।

अभिधान चिन्तामणि : हेमचन्द्र, गुजरात, १६१४।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् : कालिदास, संपा०, आर०एस० त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, १६८१।

अमरकोष : अमर सिंह, संपा० हरगोविन्द शास्त्री, हरिदास संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १६७८।

अष्टाध्यायी : पाणिनि, संपा०, एस०सी० वसु, २ भागों में, दिल्ली, १६६२।

आदि पुराण : जिनसेन, २ भागों में, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १६५१।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र : संपा०, यू०सी० पाण्डे, काशी संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १६७१।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र : संपा०, जी० ब्यूहलर, बाम्बे संस्कृत सीरीज, पूना, १६३२।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र : संपा०, ए०सी० शास्त्री, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा १६५५।

आश्वलायन गृह्यसूत्र : हरदत्ताचार्य की टीका सहित, संपा०, टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १६२३।

आश्वलायन श्रौतसूत्र : नारायण की टीका सहित, संपा०, एच०एन० आप्टे, आनन्द आश्रम : संस्कृत सीरीज, पूना, १६१७।

उदय सुन्दरी कथा : सोड्ढल, बम्बई, १६३६।

उपमितिभवप्रपंचकथा : सिद्धर्षि, संपा०, पी० पिटर्सन, कलकत्ता, १८६६।

ऋग्वेद संहिता : सायण भाष्य सहित, ५ जिल्दों में, संपा०, एन०एस० एवं सी०जी० : काशीकर, वैदिक संशोधन मंडल, पूना, १६३३-५१।

ऐतरेय ब्राह्मण : संपा०, आर० अनन्त कृष्ण शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १६४१।

अंगुत्तर निकाय : संपा०, आर० मोर्रिज एवं ई० हार्डे, ५ भागों में, लन्दन, १८८५-१६००।

कथासरित्सागर : सोमदेव, कलकत्ता, १८८०।

कर्पूरमंजरी : राजशेखर, कलकत्ता, १६४८।

कल्पसूत्र : अनु०, महोपाध्याय विनय सागर, प्रकृति भारती, जयपुर, १६७७।

कात्यायन स्मृति : संपा०, पाण्डुरंग वामन काणे, बम्बई, १६४३।

कात्यायन श्रौतसूत्र : संपा०, ए० वेबर, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, १६७२।

कामसूत्र : वात्स्यायन, बम्बई, १८५४।

काव्य प्रकाश : मम्मट, वाराणसी, १६६८।

काव्यमीमाँसा : राजशेखर, गुजरात, १६१६।

कीर्तिकौमुदी : सोमदेव, संपा०, ए०बी० कथवते, बम्बई, १८८३।

कुट्टनीमतम् : दामोदर गुप्त, वाराणसी, १६६१।

कुमारपाल चरित : संपा०, क्षान्ति विजय, बम्बई, १६२६।

कुवलयमाला : उद्योत्नसूरि, बड़ौदा, १६२७।

कृत्यकल्पतरु : लक्ष्मीधर, संपा०, के०वी०आर० आयंगर, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, १६४१-५३।

खुद्दकनिकाय : संपा०, भिक्षु जे० कश्यप, ७ भागों में, नालन्दा देवनागरी-पॉली सीरीज, नालन्दा, १६५६।

गरुण पुराण : सैक्रेड बुक्स ऑफ दि हिन्दूज्, ८ भागों में।

गीत गोविन्द : जयदेव, बम्बई, १६२६।

गोपथ ब्राह्मण : राजेन्द्र लाल मित्र व विद्याभूषण द्वारा संपादित कलकत्ता, १८७२।

गोभिल गृह्यसूत्र : टीकाकार, भट्ट नारायण, संपा०, सी० भट्टाचार्य, कलकत्ता, १६३६।

गौतम धर्मसूत्र : अनु०, यू०सी० पाण्डेय, काशी संस्कृत सीरीज्, बनारस, १६६६।

चतुर्वर्गचिन्तामणि : हेमाद्रि, पूना, १८७८।

चुल्लवग्ग : संपा०, भिक्षु जे० कश्यप, नालन्दा देवनागरी पॉली सीरीज्, नालन्दा,१६५६।

छान्दोग्य उपनिषद : संपा०, राजा राजेन्द्रलाल मिश्र एवं ई०वी० कावेल, नई दिल्ली, १८७८।

जातक : संपा०, वी० फाउसवोल, ६ भागों में, लन्दन, १८७७-६८, अनुवादक, ई० वी० कावेल, कैम्ब्रिज, १८६५-१६१३।

जातकमाला : आर्यसूर, संपा०, पी०एल० वैद्य, दरभंगा, १६५६।

जैनसूत्र : अनुवादक हर्मन जैकोबी, दिल्ली, १६६५।

तैत्तिरीय आरण्यक : आनन्द आश्रम प्रेस, पूना, १८६७।

तैत्तिरीय ब्राह्मण : सायणाचार्य के भाष्य सहित, संपा०, विनायक गणेश आप्टे, आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज्, पूना, १७३८।

तैत्तिरीय संहिता : आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज्, पूना, १८६०।

थेरागाथा : अनुवादक, रिज डेविड्स, लन्दन, १६५१।

थेरीगाथा : अनुवादक, रिज डेविड्स, लन्दन, १६०६।

दशकुमार चरित : दण्डिन, संपा० एम०आर० काले, बम्बई, १६१७।
दशावतार चरित : क्षेमेन्द्र, बम्बई, १६२३।
दानक्रिया कौमुदी : गोविन्दानन्द, बिब्लिओथिका इंडिका, कलकत्ता, १६०३।
दानप्रकाश : मित्र मिश्र।
दानमयूख : नीलकंठ।
दान रत्नाकर : चंण्डेश्वर।
दान वाक्यावलि : विद्यापति।
दान सागर : वल्लाल सेन।
दिव्यावदान : संपा०, ई०वी० कावेल एवं ए०ए० नैल, एमस्टर्डम, १६७०।
दि सैक्रेड लॉ ऑफ दि आर्याज् : आपस्तम्ब, गौतम, वसिष्ठ और बौधायन धर्मसूत्रों का जी० ब्यूहलर द्वारा अनुवाद, दिल्ली, १६६४।
दीघनिकाय : संपा०, टी०डब्लू० रिज डेविड्स एवं जे०ई० कार्पेटर, ३ भागों में, लन्दन, १८६०-६१।
धातुपद : पाणिनि, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, बनारस।
धर्मशास्त्र (हिन्दू विधि संहिता) : अनुवादक, एम०एन० दत्त, कलकत्ता, १६०८।
नरसिंह पुराण : बम्बई, १६११।
नवसाहसांकचरित : पद्म गुप्त, बम्बई, १८६५।
नारद स्मृति : संपा०, जे० जाली, कलकत्ता, १८६५।
निघण्टु तथा निरुक्त : संपा०, लक्ष्मण स्वरूप, दिल्ली, १६६२।
निरुक्त : यास्क, टीकाकार छज्जूराम शास्त्री एवं देवाश्रम शास्त्री, दिल्ली, १६६३।
नीतिकल्पतरु : क्षेमेन्द्र, पूना, १६५६।
नीति वाक्यामृतम : सोमदेव सूरि, बम्बई, १८८७-८८।
नीतिसार : कामन्दक, संपा०, आर०एल० मित्रा, कलकत्ता, १८८४।
नैषधीय चरित : श्री हर्ष, बम्बई, १६३३।
पद्म पुराण : आ०सं०सी० पूना, १८६४।
पराशर स्मृति : मधवाचार्य टीका सहित, कलकत्ता, १८३३।
परिशिष्ट पर्वन : हेमचन्द्र, संपा० एस० जैकोबी, कलकत्ता, १८८३।
पारस्कर गृह्यसूत्र : एम०जी० वक्रे द्वारा संपादित, गुजराती प्रिंटिग प्रेस, १६१७।
पृथ्वीराज रासो : चन्दबरदायी, संपा० विशनलाल पाण्डया एवं श्यामसुन्दर दास, बनारस, १६३१।
पृथ्वीराज विजय : जयनक, संपा०, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, अजमेर, १६४१।

प्रबन्ध चिन्तामणि : मेरुतुंग, ए० मी० द्विवेदी, १६४०।

प्रबोध चन्द्रोदय : कृष्ण मिश्र, संपा०, के०एस० शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १८३६।

पंचतंत्र : विष्णुशर्मा, संपा०, जोहान्स हर्टेल, हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज् कैम्ब्रिज, १६०८।

बृहत्कथा कोष : हरिषेण।

बृहत्संहिता : वाराह मिहिर, कलकत्ता, १८६५।

बृहदारण्यक उपनिषद : शंकराचार्य की टीका सहित, अनु०, स्वामी माधवानन्द, अल्मोडा, १६५०।

बृहस्पति स्मृति : संपा०, के०वी०आर० आयंगर, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज्, बड़ौदा १६४१।

बुद्ध चरित : अश्वघोष, संपा०, ई०एच० जॉनशन, दिल्ली, १६७२।

बुद्धिस्ट लीजेन्ड्स (पॉलीग्रन्थ धम्मपद से) : अनुवादक, ई०डब्लू० बुर्लिंगम, ३ भागों में, हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज्, कैम्ब्रिज, १६२१।

बौधायन गृह्यसूत्र : संपा०, आर० शामाशास्त्री, मैसूर, १६२७।

बौधायन धर्मसूत्र : हिन्दी ब्याख्याकार- उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज्, वाराणसी, १६७२।

बौधायन श्रौतसूत्र : संपा०, डब्लू० कैलेण्ड, २ भागों में, हालैण्ड, १६०३।

भगवद्गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर, १६८२।

भविष्य पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६१२।

भागवत पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर, विक्रम संवत् २०११।

मत्स्य पुराण : सै०बु०हि० सीरीज्।

मज्झिम निकाय : संपा०, ट्रेकनर, आक्सफोर्ड, १८६८-१६३५।

मनुस्मृति : कुल्लूक भट्ट की टीका सहित, बम्बई, १६४६।

महाभारत : वेदव्यास, संपा०, एन० शिरोमणि, कलकत्ता, १८३४-३६; अनु० के०एम० गॉगुली, १२ भागों में, दिल्ली, १६७५; नीलकंठ की टीका, पूना, १६२६; गीता प्रेस गोरखपुर, १६६८।

महावग्ग : संपा०, भिक्षु जे० कश्यप, नालन्दा देवनागरी पॉली सीरीज्, नालन्दा, १६५६।

महावस्तु : संपा०, ई० सेनार्ट, ३ भागों में, पेरिस, १८८२-६७।

महाभाष्य : पतंजलि, संपा०, एफ० कीलहार्न, ३ भागों में, बम्बई, १८६२-१६०६।

मानसोल्लास : २ भागों में, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, १६२६।

मिताक्षरा : विज्ञानेश्वर, बम्बई, १६०६।

मिलिन्दपन्हो : संपा०, वी० ट्रेन्कनर, लन्दन, १६२८।

मीमांसासूत्र : जैमिनी, अनु०, एम०एल० सन्दल, इलाहाबाद, १६२८।

याज्ञवल्क्य स्मृति : मिताक्षरा की टीका सहित, संपा०, जगन्नाथ रघुनाथ धारपुरे, बम्बई, १६१४।

युक्तिकल्पतरु : भोज, संपा०, ईश्वर चन्द्र शास्त्री, कलकत्ता, १६१७।

रघुवंश : कालिदास, संपा०, काशीनाथ पाण्डुरंग, बम्बई, १८८२।

राजतरंगिणी : कल्हण, संपा०, एम०ए० स्टीन, बम्बई, १८६२।

राजनीति रत्नाकर : चण्डेश्वर मिश्र, संपा०, काशी प्रसाद जायसवाल, पटना, १६२४।

रामायण : वाल्मीकि, संपा०, पी०एल० वैद्य, बड़ौदा, १६६२; गीता प्रेस, गोरखपुर, १६६७।

लिंग पुराण : संपा०, जीवनन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८५।

व्यवहार मयूख : नीलकंठ भट्ट, संपा०, पाण्डुरंग वामन काणे, पूना, १६२६।

वसिष्ठ धर्मसूत्र : संपा०, फ्यूहरर, पूना, १६३०।

विक्रमांक देवचरित : विल्हण, संपा०, जार्ज ब्यूहलर, बम्बई, १८७५।

विनय पिटक : संपा०, एच० ओल्डनवर्ग, ५ भागों में, लन्दन, १८७६-८३।

विमानवत्थु : अनु०, ई० आर० गुनेरत्ने, लन्दन।

विमुत्तिमग्ग : उपातिष्य, अनु०, सोनाथेरा, कोलम्बो, १६६१।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६१२।

विष्णु पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर।

वीर मित्रोदय : मित्र मिश्र, ४ भागों में, बनारस, १६१३।

शतपथ ब्राह्मण : संपा०, ए० वेबर, लन्दन, १८८५।

श्री भगवती सूत्रम् : संपा०, मुनि कन्हैया लाल जी, राजकोट, १६६५।

श्रीमद्भागवत : पंडित पुस्तकालय, काशी, विक्रम संवत् २०१६।

शुक्रनीति : अनु०, वी०के० सरकार, इलाहाबाद, १६१४।

स्कन्द पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६३७।

स्मृति चन्द्रिका : देवण्ण भट्ट, संपा०, एल० श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, १६१४।

स्मृति रत्नाकर : चण्डेश्वर।

सुमंगल विलासिनी : बुद्धघोष, संपा०, टी०डब्लू० रिज डेविड्स एवं जे० ई० कारपेन्टर, लन्दन, १८८६।

संयुक्तनिकाय : संपा०, भिक्षु जे० कश्यप, नालन्दा देवनागरी पॉली सीरीज़्, नालन्दा, १६५६।

सांख्यायन गृह्यसूत्र : संपा०, एस०आर० सहगल, दिल्ली, १६६०।

सांख्यायन श्रौतसूत्र : अनु०, डब्लू० कालैण्ड, दिल्ली, १६८०।

हर्ष चरित : बाणभट्ट, संपा०, पाण्डुरंग वामन काणे, बम्बई, १६१८।

हितोपदेश : नारायण पण्डित, संपा०, नारायण राम आचार्य, बम्बई, १६५५।

२-सिक्के, अभिलेख एवं विदेशी विवरण-

आचार्य, जी०वी० : दि हिस्टारिकल इन्सक्रप्संस ऑफ गुजरात, २ भागों में, बम्बई, १६३३-३५।

कनिंघम, ए० : आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, भाग १-२४, दिल्ली, १६६६।
दि भिलसा टाप्स आर बुद्धिस्ट मानुमेन्ट्स ऑफ सेन्ट्रल इंडिया, लंदन, १८५४।
क्वायन्स ऑफ मिडुवल इण्डिया फ्राम दि सेवेन्थ सेन्चुरी डाउन टु दि मुहम्डन कानक्वेस्ट्, लंदन, १८६४।

कोनोव, स्टेन, : खरोष्ठी इन्सकृप्सन्स, भाग २, कार्पस इन्सक्रिप्सनम् इंडिकेरम, लंदन, १६२६।

गाइल्स, एच०ए० (अनु०) : दि ट्रेवेल्स ऑफ फाह्यान, लंदन, १६५८।

दीक्षित, एम०जी० : सेलेक्टेड इन्सकृप्सन्स फ्राम महाराष्ट्र, पूना, १६४७।

दीक्षितार, वी०आर०आर० (संपा०) : सेलेक्टेड साउथ इण्डियन इंस्कृप्सन्स, मद्रास, १६५२।

पीटर्सन, पीटर(संपा०) : ए० कलेक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इन्सकृप्सन्स, दि भावनगर आर्क्योलाजिकल डिपार्टमेन्ट, भावनगर।

फ्लीट, जे०एफ०(रिवाइज्ड बाई भंडारकर, डी०आर०, एवं छावरा, बी०सी०) : कार्पस इन्सकृप्सनम इण्डिकेरम, भाग ३ (गुप्ता इन्सकृप्सन्स), नई दिल्ली, १६८१।

बर्गेस, जस : इन्सकृप्सन्स फ्राम दि केव टेम्पल्स ऑफ वेस्टर्न इंडिया, विद डिस्क्रिप्टिव नोट्स बाई भगवान लाल इन्द्राजी, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, १६७६।

बरुआ, बी०एम० : अशोका एण्ड हिज इन्सकृप्सन्स, कलकत्ता, १६५५।

----------- : ओल्ड ब्राम्ही इन्स्कृप्सन्स इन दि उदयगिरि एण्ड खण्डगिरि केव्स, कलकत्ता, १६२६।

बील, एस० : ट्रेवेल्स ऑफ फाह्यान, लन्दन, १८६६।
दि लाइफ ऑफ ह्वेनसाँग, लन्दन, १८८८।

मजुमदार, एन०जी० : इन्सकृप्सन्स ऑफ बंगाल, भाग ३, राजशाही, १६२६।

मिराशी, वी०वी० (संपा०) : कार्पस इन्सक्रृप्सनम इंडिकेरम, भाग ४, ऊटाकमुन्ड, १९५५।

--------------- : कार्पस इन्सक्रृप्सनम इंडिकेरम, भाग ५, ऊटाकमुन्ड, १९६३।

मैती, एस०के० एवं (संपा०), मुकर्जी, आर०आर० : कार्पस ऑफ बंगाल इन्सक्रृप्सन्स, कलकत्ता, १९६७।

राजगुरु, एस०एन० (संपा०) : इन्सक्रृप्सन्स ऑफ उड़ीसा, भाग ४, भुवनेश्वर, १९५८-६६।

रिजडेविड्स, टी०डब्लू० एवं ब्रुशेल, एस०डब्लू० (संपा०), : आन युवान च्वांगुस ट्रेवेल्सइन इण्डिया (६२९-६४५ ई०), २ भागों में, नई दिल्ली, १९७३।

ल्यूडर्स, एच० : एलिस्ट ऑफ ब्राह्मी इन्सक्रृप्सन्स फ्राम दि अर्लिएस्ट टाइम्स टु एबाउट ए०डी० ४०० विद दि इक्सेप्सन ऑफ दोज ऑफ अशोका, एपेन्डिक्स टु एपिग्रैफिया इण्डिका एण्ड रिकॉर्ड आर्फ दि आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, भाग १ व १०, १९०९-१९।

------------- : भरहुत इन्सक्रृप्सन्स, भाग २, कार्पस इन्सक्रृप्सनम इण्डिकेरम, नई दिल्ली, १९६३।

वाटर्स, टी० : ह्वेनसाँग ट्रेवेल्स इन इण्डिया, लन्दन, १९०७।

शर्मा, जी०एन० : राजस्थान इतिहास के श्रोत, जयपुर, १९७५।

शशीकान्त : दि हाथीगुम्फा इन्सक्रृप्सन ऑफ खारवेल एण्ड दि भब्रु एडिक्ट ऑफ अशोका- ए क्रिटिकल स्टडी, दिल्ली, १९७१।

सचाऊ, एडवर्ड : अल्बेरुनीज़् इण्डिया, लन्दन, १९१०।

सरकार, डी०सी० : सेलेक्ट इन्स्क्रृप्सन्स बियरिंग आन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, भाग १, कलकत्ता, १९६५।

------------- : सेलेक्ट इन्सक्रृप्सन्स बियरिंग आन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, भाग २, नई दिल्ली, १९८३।

------------- : इण्डियन एपिग्राफिकल ग्लोसरी, दिल्ली, १९६६।

त्रिवेदी, एच०वी० : कार्पस इन्सक्रृप्सनम् इण्डिकेरम, भाग २, नई दिल्ली, १९७८।

३-कोष एवं विश्वकोष----

इडगेर्टन, एफ० : बुद्धिस्ट हायब्रिड संस्कृत डिक्शनरी, दिल्ली, १९७०।

इनसाइक्लोपीडिया विट्रैनिका।

एण्डर्सन, डिनेज : ए क्रिटिकल पॉली डिक्शनरी, कोपेनहेगन, १९२४-४८।

कात्रे, एस०एम० : डिक्शनरी ऑफ पाणिनि, पूना, १९६८।

कैपलर, कार्ल : ए संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, वाराणसी, १९७२।

गौड़, पी०के० एवं : वामन शिवराम आप्टेज दि प्रेक्टिकल संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी,

एवं कार्वे, सी०जी० 	३ भागों में, पूना, १६५८।

तारकवाचस्पति, टी०वी० : ए कम्प्रेटिव संस्कृत डिक्शनरी, ५ भागों में, वाराणसी, १६६२।

देव, राजा राधाकान्त : शब्दकल्पद्रुम, भाग २, वाराणसी, वि०सं० २०२४।

ब्रान्डन, एस०जी० : ए डिक्शनरी ऑफ कम्प्रेटिव रिलिजन, लन्दन, १६७०।

मालालासकेरा, जी०पी० : इनसाइक्लोपीडिया ऑफ बुद्धिज्म, कोलम्बो।

मैकडोनाल्ड, ए०एम० : चेम्बर्स ट्वेन्टीन्थ सेन्चुरी डिक्शनरी, लन्दन, १६७२।

मैकडोनेल, ए०ए० : संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, लन्दन, १८६३।

मोनियर-विलियम, एम० : ए संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, १६७६।

मौर, जे० : ओरिजनल संस्कृत टेक्ट्स आन दि ओरिजिन एण्ड हिस्ट्री ऑफ दि पीपुल ऑफ इण्डिया, देयर रिलिजन एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, ५ भागों में, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, १६७२।

रिजडेविड्स : पॉली-इंगलिश डिक्शनरी, पुनर्मुद्रण, नई दिल्ली, १६७५।

व्हिटने, डब्लू०डी० : दि रूट्स, वर्ब फार्म्स एण्ड प्राइमरी डेरिवटिवेज ऑफ दि संस्कृत लैंग्वेज, दिल्ली, १६६३।

शास्त्री, एम० श्रीपाठी : ए डिक्शनरी ऑफ संस्कृत रूट्स।

सिम्पसन, डी०पी० : कासेल्स न्यू लैटिन डिक्शनरी, लन्दन।

सेन, चित्रभानु : ए डिक्शनरी ऑफ दि वैदिक रिट्यूल्स बेस्ड आन दि श्रौत एण्ड गृह्यसूत्राजू, दिल्ली, १६७८।

४-सहायक ग्रंथ-

अग्रवाल, डी०पी० : दि कापर ब्रोन्जे एज इन इण्डिया, दिल्ली, १६७१।

अग्रवाल, वासुदेवशरण : प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद, १६६४।

------------- : हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, १६६४।

------------- : इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि, वाराणसी, १६६३।

------------- : इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मनु, वाराणसी, १६७०।

अग्निहोत्री, पी०डी० : पतंजलि कालीन भारत, पटना, १६६३।

अय्यर, पी०एस०एस० : इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू मॉरल आइडियाजू, दिल्ली, १६७६।

अल्तेकर, अनन्त सदाशिव : दि राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पूना, १६३४।

------------- : सोर्सेजू ऑफ हिन्दू धर्म, शोलापुर, १६५२।

------------- : दि पोजीशन ऑफ वूमेन इन हिंदू सिविलाइजेशन, दिल्ली, १६६२।

------------- : एजुकेशन इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, वाराणसी, १६६५।

आध्य, जी०एल० : अर्ली इण्डियन इकोनामिक्स : स्टडीजू इन दि इकोनामिक लाइफ ऑफ नार्दन एण्ड वेस्टर्न इण्डिया

(२०० बी०सी०-ए०डी० ३००), बम्बई, १६६६।
आप्टे, वी०एस० : सोशल एण्ड रिलिजियस लाइफ इन दि गृह्यसूत्राज़्, बम्बई, १६५४।
आयंगर, के०वी०आर० : आस्पेक्ट्स ऑफ ऐंशिएन्ट इण्डियन इकोनामिक थाट, वाराणसी, १६६५।
------------- : सम आस्पेक्ट्स ऑफ दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ एकार्डिंग टु धर्मशास्त्र, बड़ौदा, १६५२।
ईखे, पीटर : सोशल एक्सचेंज थ्योरी : दि टू ट्रेडीशन्स, लन्दन, १६७४।
ईश्वरीप्रसाद एवं शर्मा, शैलेन्द्र : प्राचीन भारतीय कला, राजनीति, धर्म, दर्शन, इलाहाबाद, १६६०।
इंगेल्स, एफ० : दि ओरिजिन ऑफ दि फैमिली, प्राईवेट प्रॉपर्टी एण्ड दि स्टेट :इन दि लाइट ऑफ दि रिसर्च्स ऑफ लेविस एच मार्गन, मास्को,१६४८।
उपाध्याय, के०एन० : अर्ली बुद्धिज्म एण्ड भगवद्गीता, दिल्ली, १६७१।
उपाध्याय, जी०पी० : ब्राह्मन्स इन ऐंशिएन्ट इण्डिया : ए स्टडी इन दि रोल ऑफ दि ब्राह्मण क्लास फ्राम २०० बी०सी० टु ए०डी० ५००, नई दिल्ली, १६७६।
उपाध्याय, बल्देव : संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी, १६८३।
उपाध्याय, वासुदेव : प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, दिल्ली, १६६१।
------------- : दि सोशियो रिलीजस कंडीशन ऑफ नार्थ इण्डिया, नई दिल्ली, १६६१।
एचलर, लिलिएन : दि कस्टम्स ऑफ मैनकाइन्ड, लन्दन, १६२४।
एडगर्टन, एफ० : दि बिगनिंग्स ऑफ इण्डियन फिलासफी : सेलेक्शन्स फ्राम दि ऋग्वेद, अथर्ववेद, उपनिषद्स एण्ड महाभारत, लन्दन, १६६५।
एयुबोयर, जे० : डेली लाइफ इन ऐंशिएन्ट इण्डिया फ्राम २०० बी०सी० टु ७०० ए०डी० लन्दन, १६६५।
ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, दिल्ली, १६७५।
ओमप्रकाश : अर्ली इण्डियन लैण्ड ग्रान्ट्स एण्ड स्टेट इकोनामी, इलाहाबाद, १६८८।
------------- : पोलिटिकल आइडियाज़ इन दि पुराणाज, इलाहाबाद, १६७७।
कपाड़िया, के०एम० : मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया, बम्बई, १६६६।
करमबेलकर, वी०डब्लू० : दि अथर्वेदिक सिविलाइजेशन : इट्स प्लेस इन दि इण्डो-आर्यन

कल्चर, नागपुर, १९५९।

कर्वे, आई० : किनशिप आर्गनाइजेशन इन इण्डिया, बम्बई, १९६५।

काणे, पाण्डुरंग वामन : धर्म शास्त्र का इतिहास, ५ भागों में,अनुवादक अर्जुन चौबे काश्यप, लखनऊ, १९८०।

क्रावफोर्ड, एस० क्रामवेल : इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू एथिकल आइडियाज, कलकत्ता, १९७४।

कीथ, ए०बी० : रिलीजन एण्ड फिलासफी ऑफ़ दि वेद एण्ड उपनिषद्स, २ भागों में, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, १९७०।

------------ : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, आक्सफोर्ड, १९२८।

कुप्पूस्वामी, बी० : धर्म एण्ड सोसाइटी, मद्रास, १९७७।

कुमारी, एस० : रोल ऑफ स्टेट इन ऐंशिएन्ट इण्डियन इकोनामी दिल्ली, १९८६।

कुलकर्णी, सी० : वैदिक फ़ाउण्डेशन ऑफ इण्डियन कल्चर, बम्बई, १९७३।

क्रोपाटकिन, पीटर : म्यूचुवल एड : ए फैक्टर ऑफ इवोल्यूशन, न्यूयार्क, १९०४।

कोलबर्न, आर० : फ्यूडूलिज्म इन हिस्ट्री, प्रिस्टेन, १९५६।

कौसाम्बी, डी०डी० : प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, नई दिल्ली, १९७७।

------------- : एन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, १९७५।

गिडिंग्स : प्रिन्सिपल्स ऑफ सोसियोलाजी।

ग्रिसवोल्ड, एच०डी० : दि रिलीजन ऑफ दि ऋग्वेद, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, १९७१।

ग्रेगरी, सी०ए० : गिफ्ट्स एण्ड कमोडिटीज, लन्दन, १९८३।

गोपाल, एम०एच० : मौर्यन पब्लिक फाइनेन्स, लन्दन, १९३५।

गोपाल, लल्लन जी : आस्पेक्ट्स ऑफ हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, वाराणसी, १९८०।

------------- : दि इकोनामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, वाराणसी, १९६५।

गौड़, जे० : चेन्ज एण्ड काण्टीन्यूटी इन इण्डियन रिलीजन, पुनर्मुद्रण, नई दिल्ली, १९८५।

गांगुली, डी०के० : आस्पेक्ट्स ऑफ ऐंशिएन्ट इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन, दिल्ली, १९७९।

घुर्ये, जी०एस० : कास्ट एण्ड क्लास इन अर्ली हिस्टारिकल इण्डिया, बम्बई, १९५७।

------------- : वैदिक इण्डिया, बम्बई, १९७९।

घोष,ए० : दि सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इण्डिया, शिमला, १९७३।

घोषाल, यू०एन० : दि अग्रेरियन सिस्टम इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९७३।

चकलादार, एस०सी० : दि आर्यन आकुपेसन्स ऑफ ईस्टर्न इण्डिया, कलकत्ता, १९६२।

------------- : सोशल लाइफ इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, दिल्ली, १६७६।

चक्रवर्ती, कंचन : सोसाइटी, रिलिजन एण्ड आर्ट ऑफ दि कुषाण इण्डिया : ए हिस्टोरिको सिम्बोसिस, कलकत्ता, १६८१।

चक्रवर्ती, के०सी० : ऐंशिएन्ट इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन।

चक्रवर्ती, छन्दा : कामन लाइफ इन दि ऋग्वेद एण्ड अथर्ववेद, कलकत्ता,१६७७।

चक्रवर्ती, एच : अर्ली ब्राह्मी रिकार्ड्स इन इण्डिया, कलकत्ता, १६७४।

------------- : ट्रेड एण्ड कामर्स ऑफ ऐंशिएन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १६६७।

चटर्जी, ए०के० : ऐंशिएन्ट इण्डियन लिटरेसी एण्ड कल्चरल ट्रेडीसन्स, कलकत्ता, १६७४।

चटर्जी० हेरम्बा : स्टडीज इन सम आस्पेक्ट्स ऑफ हिन्दू संस्काराज इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १६६५।

चट्टोपाध्याय,डी०पी० : बुद्धिज्म दि मार्क्सिस्ट एप्रोच, पुनर्मद्रण, दिल्ली, १६७८।

चट्टोपाध्याय, बी० : कुषाण स्टेट एण्ड इण्डियन सोसाइटी, कलकत्ता, १६७५।

चट्टोपाध्याय, एस० : बिम्बसार टु अशोका, कलकत्ता, १६७७।

------------- : सोशल लाइफ इन ऐंशिएन्ट इण्डिया (इन दि बैक ग्राउण्ड ऑफ दि याज्ञवल्क्य स्मृति), कलकत्ता, १६६५।

चन्द्रा, अविनाश : हाईमन्स फ्राम दि वेदाज।

चानना, डी०आर० : सेलेवरी इन ऐंशिएन्ट इण्डिया : ऐज डिपेक्टेड इन पॉली एण्ड संस्कृत टेक्ट्स, दिल्ली, १६६०।

चैतन्य, कृष्ण : ए न्यू हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, वाराणसी, १६६५।

चौधरी, ए०के० : अर्ली मिडवल विलेज इन नार्थ-वेस्टर्न इण्डिया (ए०डी०६००-१२००), कलकत्ता, १६७१।

चौधरी, के०ए०, सारस्वत के०एस०, एण्ड रुथ जी०एम० : ऐंशिएन्ट एग्रीकल्चर एण्ड फारेस्ट्री इन नार्थ इण्डिया, बम्बई, १६७७।

चौधरी, राधाकृष्ण : प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पटना, १६७७।

------------- : कौटिल्याज पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूसन्स, वाराणसी, १६७१।

जायसवाल, सुवीरा : दि ओरिजिन एण्ड डवलपमेन्ट ऑफ वैष्णविज्म, दिल्ली, १६६७।

जाली, जे० : हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम, कलकत्ता, १६२८।

जैन, के०सी : लार्ड महावीरा एण्ड हिज टाइम्स, बीकानेर, १६७४।

जैन, जे०पी० : रिलीजन एण्ड कल्चर ऑफ दि जैन्स, दिल्ली, १६७५।

जैन, आर०सी० : दि मोस्ट ऐंशिएन्ट आर्यन सोसाइटी, श्री गंगानगर, १६६४।

झा०, डी०एन०	: प्राचीन भारत : एक रुपरेखा, नई दिल्ली, १६७८।
-------------	: रिवेन्यू सिस्टम इन पोस्ट : मौर्या एण्ड गुप्ता टाइम्स, कलकत्ता, १६६७।
झा०एम०	: दि बेगर्स ऑफ ए पिलिग्रिम्स सिटी, वाराणसी, १६७६।
ट्राउटमैन, टी०	: दि गिफ्ट इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, १६८२।
टैगोर, रवीन्द्रनाथ	: गीतांजलि।
ठाकुर, उपेन्द्र	: रिलीजन एण्ड कल्वर : ए स्टडी इन हिन्दू एथिक्स।
ठाकुर, एस०सी०	: क्रिश्चियन एण्ड हिन्दू एथिक्स, लन्दन, १६६६।
ठाकुर, वी०के०	: अर्बनाइजेशन इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, नई दिल्ली, १६८१।
डगलस, एम० (संपा०)	: मैन एण्ड सोसाइटी : पैटर्न्स ऑफ ह्यूमन आर्गनाइजेशन, लन्दन, १६६४।
डार्विन	: डिसेन्ट ऑफ मैन।
डे, गोकुलदास	: डेमोक्रेसी इन अर्ली बुद्धिस्ट संघ, कलकत्ता, १६५५।
-------------	: सिगनीफिकेन्स एण्ड इम्पार्टेन्स ऑफ जातक्स (विद स्पेशल रिफरेन्स टु भरहुत), कलकत्ता, १६५१।
डेरट, जान डनकैन एम०	: इन्ट्रोडक्शन टु माडर्न हिन्दू लॉ आक्सफोर्ड, १६६३।
-------------	: रिलीजन, लॉ एण्ड दि स्टेट इन इण्डिया, लन्दन, १६६८।
डेकमेयर, सी०	: किंगशिप एण्ड कम्यूनिटी इन अर्ली इण्डिया, बम्बई, १६६२।
डांगे, एस०ए०	: इण्डिया फ्राम प्रिमिटिव कम्युनिज्म टु सेलेवरी : ए मार्कसिस्ट स्टडी ऑफ ऐंशिएन्ट हिस्ट्री इन आउट लाइन, दिल्ली, १६७६।
तिवारी, एस०पी०	: कन्ट्रीब्यूशन ऑफ संस्कृत इन्सक्रिप्सन्स टु लेक्सियोग्राफी, नई दिल्ली, १६८७।
थापर, रोमिला	: भारत का इतिहास, दिल्ली, १६८१।
-------------	: ऐंशिएन्ट इडियन सोशल हिस्ट्री : सम इन्टरपिटेसन्स, दिल्ली,१६७८।
दत्त, एन०के०	: ओरिजिन एण्ड ग्रोथ टॉफ कास्ट इन इण्डिया, कलकत्ता, १६६८।
दफ्तरी, के०एल०	: दि सोशल इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, नागपुर, १६४७।
दासगुप्ता, एस०एन० एण्ड डे, एस०के० (संपा०)	: ए हिस्ट्रीऑफ संस्कृत लिटरेचर, जिल्द १, क्लासिकल पीरियड, कलकत्ता, १६४७।
दासगुप्ता, सुरमा	: डेवलपमेन्ट ऑफ मारल फिलासफी इन इण्डिया, बम्बई, १६६१।
दास, डी०एन०	: दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ कलिंग, कलकत्ता, १६७७।

दास, डी०आर० : इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ दि दकन : फ्राम दि फर्स्ट टु दि सिक्स्थ सेन्चुरी ए०डी०, दिल्ली, १९६९।

दास, भगवान : दि साइन्स ऑफ सोशल आर्गनाइजेशन, मद्रास, १९१०।

द्विवेदी, पारसनाथ : काव्य प्रकाश, आगरा।

द्विवेदी, आर०सी० (संपा०) : कन्ट्रीब्यूशन ऑफ जैनिज्म टु इण्डियन कल्चर, वाराणसी, १९७५।

दीक्षितार, वी०आर० आर० : दि गुप्ता पोलिटी, मद्रास, १९५२।

दुर्खीम, ई० : दि एलीमेन्टरी फार्म्स ऑफ दि रिलेजियस लाइफ, लन्दन, १९१५।

देशमुख, पी०एस० : रिलीजन इन वैदिकलिटरेचर, बम्बई, १९३३।

देवहूति, डी० : हर्ष : ए पोलिटिकल स्टडी, दिल्ली, १९८३।

देवराज, एन०के० : दि माइण्ड एण्ड स्पिरिट ऑफ इण्डिया।

नन्दी, आर०एन० : सोशल रुट्स ऑफ रिलीजन इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९८६।

नन्द सेरेना : कल्चरल एन्थ्रोपोलाजी, न्यूयार्क, १९८०।

नरायण, ए०के० : दि इण्डो-ग्रीक्स, आक्सफोर्ड, १९५७।

नाथ, विजय : दान : गिफ्ट सिस्टम इन ऐंशिएन्ट इण्डिया-ए सोशियो इकोनामी पर्सपेक्टिव, नई दिल्ली, १९८७।

निगम, एस०एस० : इकोनामिक आर्गनाजेशन इन ऐंशिएन्ट इण्डिया (२०० बी०सी०-ए०डी० २००), नई दिल्ली, १९७५।

नियोगी, पुष्पा : कन्ट्रीब्यूशन टु दि इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम दि टेन्थ टु दि ट्रवेल्थ सेन्चुरी ए०डी०, कलकत्ता, १९६२।

नीअले, वाल्टर सी० : रिसिप्रोसिटी एण्ड रिडिस्ट्रीब्यूशन, कल्चरल एण्ड सोशल एन्थ्रोपोलाजी, लन्दन, १९६४।

नैर, बी०एन० : दि डायनिमिक ब्राह्मन, बम्बई, १९५९।

पटेल, मणिलाल : दि नाइन्थ मंण्डल ऑफ दि ऋग्वेद, बम्बई, १९४०।

प्रसाद, कामेश्वर : सिटीज क्राफ्ट्स एण्ड कामर्स अण्डर दि कुषाणाज, दिल्ली, १९८४।

प्रभु, पी०एम० : हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, बम्बई, १९५८।

प्रसाद, पी०सी० : फारेन ट्रेड एण्ड कामर्स इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, दिल्ली, १९७७।

पाटिल, डी०आर० : कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायु पुराण, दिल्ली।

पार्जिटर, एफ०ई० : ऐंशिएन्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन्स।

पाण्डेय, जी०सी० : भारतीय परम्परा के मूल स्वर, दिल्ली, १९८१।

पाण्डेय, बी०के० : टैम्पिल इकोनामी अण्डर दि चोलाज, नई दिल्ली, १९८४।

पाण्डेय, विमलचन्द्र : भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास, इलाहाबाद, १९८६।

पाण्डेय, सत्यनारायण एवम् पाण्डेय, श्रीकान्त : संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, मेरठ, १९९५।

पाणिक्कर, के०एम० : ए सर्वे ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, १९४७।

पाणिक्कर, आर० : वैदिक इक्सपीरियन्स-मंत्र मंजरी, लन्दन, १९७७।

पालमेर, जी०एच० : आलट्रुइज्म : इट्स नेचर एण्ड वैराइटीज, न्यूयार्क, १९१९।

पाल, राधाविनोद : दि हिस्ट्री ऑफ हिन्दू लॉ इन दि वैदिक एज एण्ड इन पोस्टवैदिक टाइम्स डाउन टु दि इन्स्टीट्यूट्स ऑफ मनु, कलकत्ता, १९५८।

पुरी, बी०एन० : इण्डिया इन दि टाइम ऑफ पतंजलि, बम्बई, १९६८।

------------ : इण्डिया अण्डर दि कुषाणाज, बम्बई, १९६५।

पुसालकर, ए०डी० : स्टडीज इन एपिक्स एण्ड पुराणाज ऑफ इण्डिया।

पौल, पी०एल : दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ बंगाल, कलकत्ता, १९३३।

फिक, रिचर्ड, अनुवादक मित्रा, एस० के०, : दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, दिल्ली, १९७२।

फिनले, एम० आई० (संपा०) : स्टडीज इन ऐंशिएन्ट सोसाइटी, लन्दन, १९७४।

फिलिओजेट, जे० : इण्डिया-दि कन्ट्री एण्ड इट्स ट्रेडीसन्स, अनुवादक मार्गरेट लेडेसर्ट, लन्दन, १९६२।

फुच, स्टीफेन : दि ओरिजिन ऑफ मैन एण्ड हिज कल्चर, बम्बई, १९६३।

फ्रेजर, सर जेम्स : दि गोल्डेन बग, न्यूयार्क।

ब्लूमफील, एम० : दि रिलीजन ऑफ दि वेद, वाराणसी, १९७२।

ब्लूच, एम० : फ्यूडल सोसाइटी, लन्दन, १९६१।

ब्लंट, ई०ए०एच० : दि कास्ट सिस्टम ऑफ़ नार्दन इण्डिया, दिल्ली, १९६९।

बनर्जी, गुरुदास : दि हिन्दू लॉ ऑफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन, कलकत्ता, १९२३।

बनर्जी, एन०वी० : स्टडीज इन दि धर्मशास्त्र ऑफ़ मनु, दिल्ली, १९८०।

बनर्जी, बी०एन० : हिन्दू कल्चर, कस्टम एण्ड सेरेमनी, दिल्ली, १९७९।

बनर्जी एस०सी : धर्मसूत्राज : ए स्टडी इन देयर ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट, कलकत्ता, १९६२

------------ : इण्डियन सोसाइटी इन दि महाभारत, वाराणसी, १९७६।

------------ : आस्पेक्ट्स ऑफ ऐंशिएन्ट इण्डियन लाइफ फ्राम संस्कृत सोर्सेज,

कलकत्ता, १६७२।

बरुआ, डी०के० : एन एनालाइटिकल स्टडी ऑफ दिफोर निकायाज, कलकत्ता, १६७१।

बसु, जोगिराज : इण्डिया ऑफ दि एज ऑफदि ब्राह्मन्स कलकत्ता, १६६६।

बाशम, ए०एल० : अद्भुत भारत, आगरा, १६७८।

------------- : दि आजीविकाज।

------------- : ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, आक्सफोर्ड, १६७५।

बीरस्टीड, राबर्ट : दि सोशल आर्डर, १६५७।

बुक, सी०एच० : फेथ, फेयर्स एण्ड फेस्टविल्स ऑफ इण्डिया, दिल्ली, १६७७।

बुल्के, कामिल : रामकथा, इलाहाबाद, १६७१।

बेनीप्रसाद : हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता।

बेली, एफ०जी० (संपा०) : गिफ्ट्स एण्ड प्वाइजन, आक्सफोर्ड, १६७१।

बोस, ए०एन० : सोशल एण्ड रुरल इकोनामी ऑफ नार्दर्न इण्डिया (६०० बी०सी०-२००ए०डी०) कलकत्ता, १६६१-६७।

बोस, देवब्रत : दि प्राब्लम्स ऑफ इण्डियन सोसाइटी, न्यूयार्क, १६६८।

बोस, एन०के० : दि स्ट्रक्चर ऑफ हिन्दू सोसाइटी, दिल्ली, १६७५।

बंद्योपाध्याय, एन०सी : इकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, इलाहाबाद, १६८०।

भट्टाचार्य जी, ए०के० : एग्रीकल्चर इन दि वैदिक एज, बम्बई, १६७८।

भट्टाचार्य, बी० : अर्बन डेवलपमेन्ट इन इण्डिया, दिल्ली, १६७८।

------------- : ट्रीटमेन्ट ऑफ दान बाई काणे एण्ड रंगास्वामी आयंगर, पूना, १६६४।

भट्टाचार्य, एन०एन० : जैन फिलासफी : हिस्टारिकल आउटलाइन, दिल्ली, १६७६।

------------- : ऐंशिएन्ट इण्डियन रिचुवल एण्ड देयर कान्टेन्स, दिल्ली, १६७५।

भट्टाचार्य, एस०सी० : सम आस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन सोसाइटी फ्राम सेकेण्ड सेन्चुरी बी०सी० टु फोर्थ सेन्चुरी ए०डी०, कलकत्ता, १६७८।

भार्गव, डी०एन० : जैन एथिक्स, दिल्ली, १६६८।

भर्गव, आर०एल० : इण्डिया इन दि वैदिक एज, लखनऊ, १६७१।

भंडारकर, डी०आर० : सम आस्पेक्ट्स ऑफ ऐंशिएन्ट इण्डियन कल्चर, मद्रास, १६४०।

मजुमदार, ए०के० : चालुक्याज ऑफ गुजरात, बम्बई, १६५६।

------------- : इकोनामिक बैक ग्राउण्ड ऑफ दि एपिक सोसाइटी,

कलकत्ता, १६७७।

मजुमदार, आर०सी० : दि हिस्ट्री ऑफ बंगाल, पटना, १६७१।

महाजन, वी०डी० : प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली, १६६१।

महालिंगम, टी०वी० : साउथ इण्डियन पोलिटी, मद्रास, १६६७।

माउन, डी०एन० : दि गिफ्ट ऑफ फूड कल्चर एण्ड सोसाइटी, दिल्ली, १६७५।

मार्गन, एल०एच० : ऐंशिएन्ट सोसाइटी, पुनर्मुद्रण, कलकत्ता, १६५८।

मास, मार्शल : दि गिफ्ट : अनुवादक आई०ए०एन० क्यूनिशन, लन्दन, १६५४।

मीराशी, वी०वी० : वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, वाराणसी, १६६२।

मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, दिल्ली, १६६२।

मिश्रा, पद्मा : इवोल्यूशन ऑफ ब्राह्मन क्लास, वाराणसी, १६७८।

मिश्रा, वी०वी० : रिलीजियस बिलीव्स एण्ड प्रेक्टिसेज ऑफ नार्थ इण्डिया ड्यूरिंग दि अर्ली मिडुवल पीरियड, लिडेन, १६७३।

मित्र, वेद : इण्डिया ऑफ धर्मसूत्राज, दिल्ली, १६६६।

मित्रा, प्रीती : लाइफ एण्ड सोसाइटी इन वैदिक एज, कलकत्ता, १६६६।

मित्रा, एस०के० : दि एथिक्स ऑफ दि हिन्दूज, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, १६७८।

मीस, जी०एच० : धर्म एण्ड सोसाइटी, हेग, १६३५।

मुकर्जी, राधाकुमुद : ऐंशिएन्ट इण्डियन एजूकेशन, दिल्ली, १६६६।

------------- : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, वाराणसी, १६८०।

------------- : हिन्दू सिविलाइजेशन।

मुकर्जी, संध्या : सम आस्पेक्ट्स ऑफ सोशल लाइफ इन ऐंशिएन्ट इण्डिया (३२५ बी०सी०-ए०डी० २००), इलाहाबाद, १६७६।

मुखर्जी, बी०एन० : दि डिसइन्ट्रीग्रेशन ऑफ दि कुषाण एम्पायर, वाराणसी, १६७६।

मुल्ला, डी०एफ० : प्रिन्सिपल्स ऑफ हिन्दू लॉ, बम्बई, १६६०।

मेयर, लूसी : एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल एन्थ्रोपोलाजी, आक्सफोर्ड, १६७२।

मैकक्रिन्डले, जे०डब्लू० : ऐंशिएन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, १६६०।

------------- : ऐंशिएन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, पुनर्मुद्रण, नयी दिल्ली, १६७६।

मैककोरमैक, जी० : मास एण्ड दि स्प्रिट ऑफ दि गिफ्ट, १६८२।

मैकडोनेल्ड, ए०ए० : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, १६७२।

--एवं कीथ, ए०बी० : वैदिक इंडेक्स ऑफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स, २ जिल्दों में, पुनर्मुद्रण, वाराणसी, १६५८।

मैकाइवर एवं पेज : सोसाइटी।

मैकेन्जी, जे० : हिन्दू एथिक्स : ए हिस्टारिकल एण्ड क्रिटिकल एसे, पुनर्मुद्रण, नई दिल्ली, १६७१।

मैती, एस०के० : अर्ली इण्डियन क्वाइन्स एण्ड करेन्सी सिस्टम, दिल्ली, १६७०।

मोतवानी, के० : मनु धर्मशास्त्र : ए सोसियोलाजिकल एण्ड हिस्टारिकल स्टडी, मद्रास, १६५८।

मोतीचन्द्र : ट्रेड एण्ड ट्रेड रूट्स इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, दिल्ली, १६७७।

यादव, बी०एन०एस० : सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया इन दि ट्वेल्थ सेन्चुरी ए०डी०, इलाहाबाद, १६७३।

रसेल, बर्ट्रेन्ड : ह्यूमन सोसाइटी इन एथिक्स एण्ड पोलिटिक्स, लन्दन, १६५४।

राइस, स्टेनली : हिन्दू कस्टम्स एण्ड देयर ओरिजिन्स, लन्दन, १६३७।

रानाडे, आर०के० : इण्डियन चैरिटी, पूना, १६४१।

रामगोपाल : इण्डिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्राज, दिल्ली, १६५६।

राय, उदयनारायण : प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, इलाहाबाद, १६६५।

रायचौधरी, हेमचन्द्र : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया।

राय, जयमल : दि रुरल अर्बन इकोनामी एण्ड सोशल चेन्जेज इन ऐंशिएन्ट इण्डिया(३०० बी०सी०-ए०डी० ६००), वाराणसी, १६७४।

राय, ब्रजदेव प्रसाद : दि लेटर वैदिक इकोनामी, दिल्ली, १६८४।

------------- : पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन इन दि महाभारत, कलकत्ता, १६७५।

राय, नीहाररंजन : मौर्य एण्ड पोस्ट मौर्यन आर्ट, दिल्ली, १६७५।

राव, के०एल०एस० : दि कान्सेप्ट ऑफ श्रद्धा : इन दि ब्राह्मन्स, उपनिषद्स एण्ड दि गीता, दिल्ली, १६७४।

राव, विजय बहादुर : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, वाराणसी, १६६६।

रिजडेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया।

रेडक्लिफब्राउन, ए०आर० : स्ट्रक्चर एण्ड फंक्शन इन प्रिमिटिव सोसाइटी, लन्दन, १६५२।

रेडिन, पौल : प्रिमिटिव रिलीजन : इट्स नेचर एण्ड ओरिजिन, न्यूयार्क, १६५७।

रेडफील्ड, रॉबर्ट : पीजेन्ट सोसाइटी एण्ड कल्चर : एन एन्थ्रोपोलाजिकल एप्रोच टु सिविलाइजेशन, शिकागो, १६५६।

रे, हेमचन्द्र : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, कलकत्ता, १८३१।

रैप्सन, ई०जे० (संपा०) : दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द १, दिल्ली, १६५५।

रोमेश, के०वी० : इण्डियन एपिग्राफी, जिल्द १, दिल्ली, १६८४।

लॉ, बी०सी०, : इण्डिया, ऐज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्ट्स ऑफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, दिल्ली, १६८०।

----------- : सोशल, इकोनामिक एण्ड रिलीजियस कण्डीशन्स ऑफ ऐंशिएन्ट इण्डिया : एकार्डिंग टु दि बुद्धिस्ट टेक्ट्स, पूना, १६३४।

------------ : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, १६७२।

व्यास, एस०एन० : इण्डिया इन दि रामायण एज, दिल्ली, १६६७।

वर्मा, वी०पी० : अर्ली बुद्धिज्म एण्ड इट्स ओरिजिन्स, दिल्ली, १६७३।

वर्मिंगटन, ई०एच० : दि कॉमर्स बिटवीन दि रोमन एम्पायर एण्ड इण्डिया, कैम्ब्रिज, १६७४।

वागले, एन० : सोसाइटी ऐट दि टाइम ऑफ बुद्धा, बम्बई, १६६६।

वार्डर, ए०के० : इण्डियन बुद्धिज्म, वाराणसी, १६७०।

वाल्कर, बेन्जामिन : हिन्दू वर्ल्ड, २ जिल्दों में, पुनर्मुद्रण, नई दिल्ली, १६८४।

विण्टर्निज, एम० : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, २ जिल्दों में, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, १६७२।

विद्यार्थी, एल०पी० : दि सैक्रेड काम्पलेक्स इन हिन्दू गाय, बम्बई, १६६१।

वेबर, ए० : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, लन्दन, १६१४।

वेबर, मैक्स : दि सोशियोलॉजी ऑफ रिलीजन, लन्दन, १६६५।

वोरा, डी०पी० : इवोल्यूशन ऑफ मारल्स इन दि एपिक्स (महाभारत एण्ड रामायण), बम्बई, १६५६।

शर्मा, दशरथ : राजस्थान थ्रू दि एजेज, अजमेर, १६६६।

--------- : लेक्चर्स आन राजपूत हिस्ट्री एण्ड कल्चर, दिल्ली, १६७०।

शर्मा, आर०एन० : ऐंशिएन्ट इण्डियां, एकार्डिंग टु मनु, दिल्ली, १६८०।

------------ : ब्राह्मन्स थ्रो दि एजेज : ए स्टडी ऑफ देयर सोशल, कल्चरल, पोलिटिकल, रिलीजियस एण्ड इकोनामिक लाइफ, दिल्ली, १६७७।

------------ : कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऐज रिवील्ड इन श्रौतसूत्राज, दिल्ली, १६७७।

शर्मा, रामशरण : इण्डियन फ्यूडलिज्म, नई दिल्ली, १६८०।

----------- : सोशल चेन्ज इन अर्ली मिडुवल इण्डिया (ए०डी० ५००-१२००), नई दिल्ली, १६८१

----------- : कानफ्लिक्ट डिस्ट्रीब्यूशन एण्ड डिफरेन्टेशन इन ऋग्वैदिक सोसा कलकत्ता, १६७७।

----------- : प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचना, दिल्ली, १९९२।

----------- : अर्बन डिके इन इण्डिया (ए०डी० ३००-१०००), नई दिल्ली, १९८७।

----------- : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, नई दिल्ली, १९९२।

----------- : फार्म्स ऑफ प्रापर्टी इन दि अर्ली पोर्सन्स ऑफ ऋग्वेद, दिल्ली, १९७६।

----------- : ऐंशिएन्ट इण्डिया (ए०डी० ३००-१२००), नई दिल्ली, १९८०।

शर्मा, रामाश्रय : ए सोशियो-पोलिटिकल स्टडी ऑफ दि वाल्मीकि रामायण, दिल्ली, १९७१।

शर्मा, वी०एन० : सोशल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली, १९६६।

शास्त्री, के०ए०एन० : आस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियांज हिस्ट्री एण्ड कल्चर, दिल्ली, १९७४।

-----(संपा०) : ए कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द २, दि मौर्याज एण्ड सातवाहन्स, बम्बई, १९५७।

शुक्ला, डी०एन० : उत्तर भारत की राजस्व व्यवस्था (ए०डी० १०००- १२००), इलाहाबाद, १९८४।

श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र : प्राचीन भारत का इतिहास, इलाहाबाद, १९८९।

-------------- : प्राचीन भारत की संस्कृति, इलाहाबाद, १९८८।

श्रीवास्तव, बी० : ट्रेड एण्ड कॉमर्स इन ऐंशिएन्ट इण्डिया फ्राम दि अर्लियेस्ट टाइम टु ए०डी० ३००, वाराणसी, १९६८।

स्टीन, बुर्टन : पीजेन्ट स्टेट एण्ड सोसाइटी इन मिडुवल साउथ इण्डिया, दिल्ली, १९८०।

समद्दर, जे०एन० : लेक्चर्स ऑन इकोनामिक कण्डीशन ऑफ ऐंशिएन्ट इण्डिया, दिल्ली, १९८४।

सरकार, डी०सी० : लैण्ड लार्डिज्म एण्ड टेंनेन्सी इन ऐंशिएन्ट एण्ड मिडुवल इण्डिया, लखनऊ, १९६९।

------------ : इण्डियन एपिग्राफी, दिल्ली, १९६५।

-------(संपा०) : लैण्ड सिस्टम एण्ड फ्यूडलिज्म इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९६८।

सरकार, यू०सी० : एप्रोच्स इन हिन्दू लीगल हिस्ट्री, होशियारपुर, १९५८।

सरस्वती, बी०एन० : ब्राह्मणिक रिचुवल ट्रेडीशन, शिमला, १९७७।

साक्षी, जी०एच० : सोशल एण्ड ह्यूमैनेस्टिक लाइफ इन इण्डिया, दिल्ली, १९७१।

सिकदर, जे०सी० : स्टडीज इन दि भगवतीसूत्र, मुजफ्फरपुर, १९६४।

सिंह, एम०एम० : लाइफ इन नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया इन प्री-मौर्यन टाइम्स, दिल्ली, १९६७।

सिंह, शिवाजी : इवोल्यूशन ऑफ दि स्मृति लॉ, वाराणसी, १९७२।

सिन्हा, जी०पी० : पोस्ट गुप्ता पोलिटी, कलकत्ता, १९७०।

सिन्हा, बी०पी० : मगध का राजनीतिक इतिहास, पटना, १९७८।

----------- : रीडिंग्स इन कौटिल्याज अर्थशास्त्र, दिल्ली, १९७६।

सिन्हा, एन०के०पी० : पोलिटिकल आइडियाज एण्ड आइडियल्स इन दि महाभारत, दिल्ली, १९७६।

सिन्हा, प्रभावती : स्मृति, पोलिटिकल एण्ड लीगल सिस्टम : ए सोशियो इकोनामिक स्टडी, नई दिल्ली, १९८२।

सीरी, परेरा : चैरिटी आर दान इन बुद्धिज्म, कलकत्ता, १९७३।

सेन, बी०सी० : सम हिस्टारिकल आस्पेक्ट्स ऑफ दि इन्सक्रिप्सन्स ऑफ बंगाल, कलकत्ता, १९४२।

सेनगुप्ता, पद्मिनी : इवरीडे लाइफ इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, बम्बई, १९५५।

सोनी, आर०एल० : आस्पेक्ट्स ऑफ दान, कलकत्ता, १९५७।

संकरम, ए० : सम आस्पेक्ट्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिज्म इन संस्कृत, मद्रास, १९२९।

हर्सकोविट्ज, एम०जे० : कल्चरल एन्थ्रोपोलाजी, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, १९६९।

--------------- : इकोनामिक एन्थ्रोपोलाजी, १९५२।

हाइड, एल० : दि गिफ्ट : इमेजिनेशन एण्ड दि इरोटिक लाइफ प्रापर्टी, न्यूयार्क, १९७९।

हाजरा, आर०सी० : स्टडीज इन दि पौराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, दिल्ली, १९७५।

हापकिन्स, ई०डब्लू० : दि म्यूचुवल रिलेशन्स ऑफ दि फोर कास्ट्स एकार्डिंग टु दि मानव धर्मशास्त्र, दिल्ली, १९७६।

------------- : दि सोशल एण्ड मिलेट्री पोजीशन ऑफ दि रूलिंग कास्ट इन ऐंशिएन्ट इण्डिया ऐज रिप्रजेन्टेड बाई दि संस्कृत एपिक्स, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, १९७२।

हिन्ड्रे, आर० : कम्प्रेटिव एथिक्स इन हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट ट्रेडीसन्स, दिल्ली, १९७८।

हैण्ड्स, ए०आर० : चैरिटीज एण्ड सोशल एड इन ग्रीस एण्ड रोम, लन्दन, १९६८।
त्रिपाठी, पी०वी० : पुरुषार्थ चतुष्ट्य, वाराणसी, १९७०।
त्रिपाठी, विभा : दि पेन्टेड ग्रे वेयर : इन आयरन एज कल्चर ऑफ नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली, १९७६।

५. जर्नल्स एवं शोध पत्र/पत्रिकायें-

अवर हेरिटेज।
आर्क्याजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया।
आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स।
इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, बम्बई।
इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली, कलकत्ता।
इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, दिल्ली।
एनाल्स ऑफ दि ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास।
एनाल्स ऑफ दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना।
एनुवल रिपार्ट्स ऑफ दि आर्क्यालाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, दिल्ली।
ऐण्टीक्वीटी, कैम्ब्रिज।
एपिग्रैफिया इण्डिका, कलकत्ता।
ओरियण्टल कान्फ्रेन्स।
क्वाटर्ली रिव्यू ऑफ हिस्टारिकल स्टडीज, कलकत्ता।
कन्ट्रीब्यूशन टु इण्डियन सोशियोलाजी।
जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी।
जर्नल ऑफ दि आन्ध्रा हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी।
जर्नल ऑफ इकोनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ दि ओरिय़ण्ट, लाइडेन।
जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, त्रिवेन्द्रम।
जर्नल ऑफ ईश्वरी प्रसाद इन्स्टीट्यूट ऑफ हिस्ट्री।
जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बाम्बे, बाम्बे।
जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता।
जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ पाकिस्तान, ढाका।
जर्नल ऑफ ऐंशिएन्ट इण्डियन हिस्ट्री, कलकत्ता।
जर्नल ऑफ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट ऑफ बड़ौदा।
जर्नल ऑफ दि गंगा नाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद।
जर्नल ऑफ दि बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी।

जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रान्च ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बाम्बे।

जर्नल ऑफ दि बाम्बे यूनिवर्सिटी, बाम्बे।

जर्नल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पूना।

जर्नल ऑफ दि बिहार पुराविद परिषद, पटना।

जर्नल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना।

जर्नल ऑफ दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना।

जर्नल ऑफ दि यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, लखनऊ।

जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता।

जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन।

जर्नल ऑफ दि रॉयल सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड।

परामर्श।

प्राची-ज्योति।

प्राच्य-प्रतिभा।

पुराणूस।

प्रोसीडिंग्स ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस।

प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रान्जेक्शन्स ऑफ आल इण्डिया।

फिलॉसफी : ईस्ट एण्ड वेस्ट।

भारती : बुलेटिन ऑफ इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर।

भारतीय विद्या।

मानव।

विश्वेश्वरानन्द इण्डोलाजिकल जर्नल, होशियारपुर।

स्टडीज इन कम्प्रेटिव हिस्ट्री एण्ड रिलीजन।

हिन्दुत्व।

हिस्ट्री ऑफ रिलीजन।

हिस्ट्री एण्ड आर्क्यालाजी।

शोधार्थी
सन्तोष कुमार तिवारी